पूर्वी उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता का विकास

(1890—1947)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
की डी.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
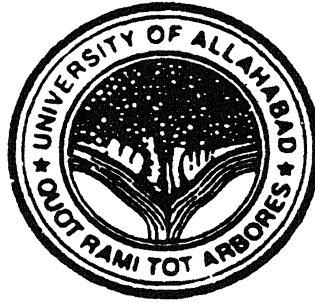
पर्यवेक्षक
डॉ. ललित जोशी
रीडर, इतिहास विभाग

प्रस्तुतकर्ता
अनिल कुमार सिंह
शोध छात्र (एस आर एफ), इतिहास विभाग

मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

पुरोवाक्

धर्मनिरपेक्षता के छद्म आवरण से आवेष्ठित, इतिहास एवं राष्ट्रवाद के अनगढ तथ्यो एव तर्को से संपोषित, साम्प्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है, जिसके समर्थक भी साम्प्रदायिक सज्ञा से सम्बोधित होना पसन्द नही करते। यही कारण है कि साम्प्रदायिकता के स्रोतो तथा इसकी सामाजिक स्वीकारोक्ति के सन्दर्भ सूत्रो की खोज करना एक जटिल प्रक्रिया हो जाती है। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान इसका अस्तित्व बना रहा तथा इससे राजनीतिक सूत्रो का सचालन होता रहा, किन्तु खुद इसका प्रयोग करने वाले परस्पर ऐसा न करने का दावा भी करते रहे क्योकि उनके पास परम्परा एवं अतीत से जुटाये गये अपने तर्क थे। जिसके अनुसार वे अपनी समझ से स्थितियो का सही सचालन कर रहे थे। जो प्रवृत्ति आज भी दृष्टिगत होती है।

ऐसी स्थिति मे साम्प्रदायिकता जैसे विषय पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करना एक दुष्कर कार्य था, किन्तु इस विषय पर शोध करने की मेरी इच्छा ने इसे एक चुनौती के रूप मे स्वीकार किया। जबकि अभी समझ भी विकसित नही हुई थी, 1971 में मेरे गृह जनपद आजमगढ के फूलपुर कस्बे के समीपस्थ कुछ गॉवों में हिन्दुओ एवं मुसलमानों के बीच शिव मन्दिर के जीर्णोद्धार के मुद्दे पर तनाव उत्पन्न हुआ, यद्यपि कि छिट–पुट लूट–पाट की घटनाओ के अलावा कोई हिंसक वारदात नही हुई और प्रशासनिक सक्षमता से अल्प समय मे ही इस पर नियंत्रण स्थापित कर लिया गया, किन्तु बडे लोगो द्वारा इस घटना का उल्लेख दगे के रूप में किया जाता था। स्वाभाविक था जैसे–जैसे समझ विकसित होती गयी इस शब्द का अर्थ स्पष्ट होता गया और जब अकादमिक सोपानों की यात्रा परास्नातक पर समाप्त हुई और शोध विषय चुनने का प्रश्न आया तो बचपन की यह स्मृति विषय चुनने में मेरी सहायक बनी।

शोध विषय के निर्धारण के बाद परम्परागत स्रोतो के अध्ययन क्रम में यह धारणा बलवती होती गयी कि इसके लिये कुछ नये सन्दर्भ सूत्रो की तलाश की जाय। ऐसी स्थिति में साहित्य में रुचि होने के कारण झुकाव उधर भी बढता गया तथा इसे स्रोत के रूप मे स्वीकार करने की इच्छा भी बलवती होती गयी। मेरी समझ में साहित्य भी इतिहास को पुष्ट करने का साधन है, क्योकि यह प्रबुद्ध समुदाय द्वारा समकालीन समाज को अपने तरीके से देखने तथा उसे समस्या मुक्त करने की कोशिश भी है। यह और बात है कि साहित्य

की अपनी धारणाये एवं मानदण्ड होते हैं तथा परिवेशगत दबाव रचना निर्माण मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

साहित्य इसलिये भी उपयोगी है कि इससे किसी समाज के विश्वास, विचार, परम्पराओ एवं लक्ष्यो का स्पष्ट निदर्शन भी होता है तथा यह सामाजिक दर्शन आधारभूत सागठनिक प्रणाली, पद्धतियों एवं तथ्यो को घटनाओ एवं चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही देशकाल एवं परिवेश में विचार कर्म, और अनुभूति को नायकों, प्रतिनायकों एवं घटनाओं के माध्यम से प्रकट कर प्रामाणिक दस्तावेज के रूप में स्थापित होता है। इसलिए इतिहास केवल राजनीतिक घटनाओं का लेखा–जोखा न बन जाये, इससे बचाने के लिए साहित्य एक उपयोगी स्रोत हो जाता है जब कि उसकी तथ्यात्मक पुष्टि अन्य स्रोतों से कर ली जाय।

इसी दृष्टि से इसका उपयोग शोध प्रबन्ध में किया गया है। अब जबकि शोध प्रबन्ध पूर्णता प्राप्त कर चुका है यह मेरे लिये सपनों के पूरा होने जैसा है। शोध कार्य की पूर्णता में श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ. ललित जोशी ने हर दृष्टि से महती भूमिका निभायी। बिना उनके इस शोध-सिन्धु का सतरण मेरे लिये सभव नही था। परास्नातक छात्र के रूप मे प्रथम साक्षात्कार के समय से ही उनका व्यक्तित्व मुझे प्रेरणा देता रहा। शोध अवधि के दौरान उन्होंने विषय के सन्दर्भ मे मेरी अन्तर्दृष्टि विकसित की तथा बराबर उत्साहवर्द्धन करते रहे। श्रद्धेय गुरूजी के प्रति आभार प्रकट करना धृष्टता होगी। मै अपने विभागाध्यक्ष प्रो. एन.आर. फारूकी के प्रति आभारी हूँ क्योंकि शोध अवधि के दौरान मुझे उनसे बार–बार कार्य करते रहने की प्रेरणा मिली। विभाग के अन्य गुरुओ प्रो वी.सी.पाण्डेय, प्रो. सुशील श्रीवास्तव, डॉ. रीता जोशी, डॉ पी.एल. विश्वकर्मा, डॉ. हेरम्ब चतुर्वेदी, श्रीमती रजना कक्कड़, डॉ. कल्पना द्विवेदी, डॉ. वन्दिता वर्मा एवं डॉ. सजय श्रीवास्तव से मुझे जो सहयोग एवं मार्गदर्शन मिला मै इसके लिए उनका आभारी हूँ।

मैं आदरणीय गुरुदेव श्री योगेश्वर तिवारी, जिन्होंने शोध कार्य के दौरान आये अवसाद के क्षणो से न केवल मुक्ति दिलायी बल्कि बार–बार कर्म के प्रति जूझने की प्रेरणा भी देते रहे, के प्रति आभार प्रकट करके ऋण–मुक्त नही हो सकता। डॉ. मोहम्मद असलम एवं डॉ. वी.के. राय के साथ मुस्लिम राजनीति एवं साम्प्रदायिकता पर हुई बहस का मै सार्थक उपयोग कर सका हूँ। डॉ. राम मिलन सिंह, श्री सूर्य नारायण सिंह, एवं डॉ. शैलेश उपाध्याय से हिन्दी साहित्य एव साहित्यकारो की भूमिका को लेकर हुई चर्चा से मैं लाभान्वित हुआ, इन सभी के प्रति मै आभार प्रकट करता हूँ।

गगतागयी माँ एव परम पूज्य पिता श्री सत्य नारायण सिह के आशीर्वाद से ही शोध कार्य पूर्ण हो सका है, उन्होंने मुझे सदैव आशावाद के मूलमन्त्र एव कर्तव्य पथ पर डटे रहने की प्रेरणा दी। मैं अपने पितृव्य श्री हरिनारायण सिह के सतत् संरक्षण एवं निर्देशन में अपने पथ, पाथेय और पथ की दिशा निश्चित कर सका, साथ ही उनके व्यक्तित्व से मुझे 'न दैन्यं न पलायनम्' की सीख मिली। पितृव्य श्री शिवमूर्ति सिंह की बार-बार की पूछ-ताछ मेरे लिये नयी ऊर्जा का सचार करता रहा। यह इन्ही लोगों के आशीर्वाद का सुफल है कि शोध-प्रबन्ध वर्तमान कलेवर प्राप्त कर सका। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिसदस्य रहे अग्रज श्री धर्मराज सिंह एवं श्री अरुण कुमार सिह से इस कार्य क्षेत्र में जाने की प्रेरणा मिली। अग्रज श्री अरविन्द नाथ सिंह, श्री ज्ञान प्रकाश सिंह एव डॉ. अशोक कुमार सिंह ने शोध कार्य करने के दौरान घरेलू उत्तरदायित्वों से मुक्त कर शोध कार्य को सम्भव बनाया। अनुज अनूप कुमार सिह एवं आनन्द कुमार सिह तथा भ्रातृज्य प्रमोद, प्रवीण एव राघवेन्द्र किसी न किसी रूप में मेरे इस कार्य में सहायक रहे।

मै अपने शुभेच्छुओ डॉ. उमाशंकर सिह, डॉ. मनोज मिश्र, डॉ. मनीष कुमार, श्री आनन्द प्रताप नारायण सिह, श्री संजय कुमार राय, श्री विजय सिह, श्री दीपक चौबे, श्री आशुतोष सिह, श्री सत्येन्द्र सिंह एवं श्री विनय प्रकाश सिंह का आभारी हूँ जो किसी न किसी रूप मे मेरे शोधकार्य से जुडे रहे। मै अपने अति निकटस्थ सम्बन्धियो श्री अजय कुमार सिंह एव श्री भूपेन्द्र बीर सिह का हृदय से आभारी हूँ क्योकि शोध कार्य के दौरान बार-बार पूछ-ताछ करके मुझे प्रोत्साहित करते रहे। मै विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूँगा श्री अरविन्द उपाध्याय, श्री प्रशान्त कुमार सिह, श्री प्रदीप कुमार सिह एव श्री दिनेश कुमार सिंह का जिनके लिये मेरा स्वर हमेशा आदेशात्मक ही रहा, इन सभी के प्रति आभार प्रकट कर मैं इनके सहयोग को न्यून नहीं करना चाहता। घर पर कार्य करने के दौरान मेरे आदेशात्मक स्वर से परिवार के छोटे सदस्य राहुल, रुद्र, प्रियम् एव हर्ष भी बच नही सके और किताब लाओ ! कलम उठाओ ! जैसे आदेशो की पूर्ति करते रहे, उनका स्नेहाधिकार मेरे पास सदैव सुरक्षित है। इस सारस्वत साधना का एक तिहाई कार्य घर पर रह कर पूरा हुआ, स्वाभाविक है कि पूरा परिवार किसी न किसी रूप मे मेरे इस कार्य से जुडा रहा। उन सभी के प्रति आभार प्रकट कर मै उनका मूल्यांकन नही कर सकता।

स्रोत सामग्री के सचयन मे मैने विभिन्न पुस्तकालयों एवं सरकारी संस्थानो का उपयोग किया। इनमे इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद म्यूजियम, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग एव गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान के पुस्तकालयों तथा क्षेत्रीय अभिलेखागार इलाहाबाद एव राज्य अभिलेखागार लखनऊ मे सुरक्षित दस्तावेजो का मैने उपयोग किया। इनके अधिकारियो एव कर्मचारियों के सहयोग के प्रति मै धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक मदद से ही यह कार्य सम्भव हो सका। इसके लिए मैं उसका आभारी हूँ।

गुरु—गृह मे हमेशा मुझे पारिवारिक वातावरण मिला, मैं इसके लिए श्रीमती ममता जोशी जी का आभारी हूँ। परिणीता आराधना सिह ने अपने दायित्वो का निर्वहन किया, इससे अधिक क्या अपेक्षा की जा सकती है।

मै अपने टकको आयडियल कम्प्यूटर के श्री विशाल बाजपेयी एवं उनके सहायको को धन्यवाद देता हूँ जिन्होने अल्प समय मे शोध प्रबन्ध को टकित किया।

अनिल कुमार सिंह

17.12 2001
इलाहाबाद

अनिल कुमार सिंह
शोध छात्र (एस.आर.एफ)
मध्य. एव आधु. इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्रकृति द्वारा उद्भूत बाधाओं के निराकरण में मानव सदियो से अनवरत सघर्षरत रहा है। मनुष्य के इस प्रयास मे धार्मिक विश्वास कर्मकाण्ड और रीति–रिवाजों का साधन के रूप में आविर्भाव एवं विकास हुआ। इसी प्रकार सामाजिक मुद्दों पर मनुष्य के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष में भी धर्म और कर्मकाण्ड उभरते और विकसित होते रहे हैं। यही कारण है कि जब भौतिक हितों की पूर्ति के लिये धर्म के नाम पर उसके अनुयाइयों को उभारा जाता है, तब साम्प्रदायिक भावना का उदय होता है। अपने सम्प्रदाय के हित एवं सुरक्षा के नाम पर दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को प्रताड़ित करना वस्तुतः साम्प्रदायिकता ही है।

आधुनिक भारतीय इतिहास की दो महत्वपूर्ण परिघटनायें राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता सामाजिक परिवर्तन के इतिहास की समान प्रक्रिया का परिणाम है। साथ ही औपनिवेशिक शासन के प्रभाव से भारत के रूपान्तरित होते समाज मे विकसित हो रहे यथार्थ का प्रतिबिम्ब भी है। जिसे दूसरे रूप मे औपनिवेशिक शासन से पूर्व की सामाजिक सरचना के उत्पाद के रूप मे व्याख्यायित कर सकते है। विभिन्न धर्मो एवं संस्कृतियो के देश भारत मे अलग–अलग सम्प्रदायो द्वारा विस्तृत एकता और पहचान की खोज ने विभिन्न प्रकार की चेतनाओ का सृजन किया। इस प्रसार की प्रक्रिया मे जाति, स्थानीयता, क्षेत्रीयता, धर्म एवं पंथ जैसी श्रेणियो का प्रयोग नयी विचारधारा एव पहचान को विकसित करने मे किया गया। इस तरह की चेतना से विचारधाराओ के परिष्करण के साथ ही राजनीतिक संगठनो के निर्माण की पृष्ठभूमि भी बनी।

अठारहवी शताब्दी के पश्चात औपनिवेशिक शासन की परिस्थितियो में राष्ट्र की पहचान की चेतना उभरने लगी थी। यहॉ ध्यातव्य है कि वास्तविक जीवन में सामाजिक विविधता एवं अनेकता के रूप में धर्म की भूमिका विद्यमान थी और जब इसे ही राजनीतिक सगठन, आन्दोलन और अन्य क्रियाकलापो का आधार बनाया जाने लगा तो आन्तरिक अन्तर्विरोध विकसित होता गया। जब इस अन्तर्विरोध को व्यापक आयाम देते हुये सामाजिक–आर्थिक पहलू से जोड़ दिया गया तो धर्म इसके लिये मात्र उपादान रह गया। आर्थिक गतिरोध और

सामाजिक परिवर्तनो को अपने पक्ष में प्रयुक्त करने के लिये अतीत के आख्यानों के आधार पर नये मिथक गढे जाने लगे और इतिहास से उदाहरण जुटाकर मत–विभिन्नताओ का उपयोग साम्प्रदायिक भावनाओ को पुष्ट करने मे किया जाने लगा।

इसी कारण इस (साम्प्रदायिकता) आधुनिक विचारधारा की खोज औपनिवेशिक शासन से पहले मध्ययुगीन अतीत में की जाने लगी। जैसा कि तुर्क सल्तनत की स्थापना के सन्दर्भ में रमेश चन्द्र मजूमदार का मत है – "अब तक के भारतीय इतिहास मे पहली बार दो एकदम अलग–अलग लेकिन प्रमुख समुदाय एवं संस्कृतियॉ एक दूसरे से बिल्कुल रूबरू खडी थीं और भारत दो शक्तिशाली इकाइयों में स्थायी रूप से विभाजित हो गया था – जिनमें से प्रत्येक इकाई की अपनी विशिष्ट पहचान थी, जो दोनों के किसी भी प्रकार के विलयन या दोनों के बीच किसी भी तरह के घनिष्ठ स्थायी समन्वय के लिये उपयुक्त नही थी।"[1] इतना ही नही मजूमदार के अनुसार – "मुस्लिम हमलावरो एव शासको ने मन्दिरो एव मठों का लगभग पूरी तरह विनाश किया। इस तरह उन्होने हिन्दू संस्कृति को पोषित और पल्लवित करने वाले स्रोतो को नष्ट करके उसका लगभग सफाया ही कर डाला।"[2] किन्तु यदि तथ्यो का सर्वेक्षण किया जाय तो स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन से पहले भारत मे साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक हिसा कमोवेश अनुपस्थित ही थी।

सैद्धान्तिक रूप से इस्लाम एवं हिन्दुत्व की विविधताओ के बीच बन्धुत्व एव एकता का विकास हो रहा था। इस्लाम मे कई ऐसे पथ थे, जिनका हिन्दुओ से बहुत कम अन्तर था, जबकि खुद इस्लाम के भीतर गभीर धार्मिक विभेद देखने को मिलता है, जैसे शिया एवं सुन्नी के बीच। मुसलमानो के बीच अशरफ एव अजलफ के रूप में जाति विभेद भी दृष्टिगत होता है। अशरफ वे है जिनकी उच्च जातीय प्रास्थिति है जो अपने आपको सैयद, शेख, पठान व मुगल कहते हैं, जिनके पूर्वज भारत के बाहर के थे। जबकि अजलफ हिन्दू धर्म से परिवर्तित है और बडे पैमाने पर व्यवसायिक जातियो मे विभाजित है।[3]

हिन्दुओ एवं मुसलमानो के बीच यह विभेद क्षेत्रीय स्तर पर भी विद्यमान था। यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दुओं एव मुसलमानो मे आपसी सहिष्णुता नही थी और वे वर्ग, क्षेत्र एव पंथ के आधार पर एक दूसरे से अलग मानते थे, लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्नीसवी शताब्दी मे 'दो राष्ट्र' नही था क्योकि राष्ट्रवाद का विकास हुआ ही नही था। फिर भी 19वी

शताब्दी के आते—आते आन्तरिक विभेद एव धर्म के आधार पर अलग—अलग परिभाषित होने लगे थे। इस शताब्दी का उत्तरार्द्ध हिन्दू एवं इस्लाम दोनो ही धर्मो के लिये सामाजिक एव धार्मिक सुधार एवं परिष्कार का समय था। इस धार्मिक—सामाजिक चेतना के साथ ही राजनीतिक—सांगठनिक चेतना का उदय हुआ जिससे दोनो सम्प्रदायो के बीच विभेद विकसित हुआ जिसने बाद मे एक—दूसरे के बीच प्रतियोगात्मक दक्षता को बढ़ावा दिया।

आर्य समाज आन्दोलन एवं हिन्दू राष्ट्रवादी लेखन जैसे बंकिम चन्द्र द्वारा हिन्दुओं को मुसलमानों के आगमन के पूर्व के गौरवशाली अतीत की याद दिलायी गयी तो मुस्लिम सुधारवादियों द्वारा मुसलमानों के प्राचीन मूल्यों, धरोहर तथा अखिल इस्लामवाद की भावना को बढ़ावा दिया गया। प्रारम्भ मे हिन्दू एवं मुस्लिम पुनर्जागरणवादियों ने दोनों समुदायों के मध्य अन्तरों पर बल देने के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सहारा लिया जिससे दोनों के मध्य प्रतिद्वन्दिता का भाव पैदा हुआ, जो आगे चलकर अलगाववाद मे परिणत हो गया। ध्यातव्य यह है कि उससे अलग—अलग राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात नहीं हुआ बल्कि दोनो धाराओ का प्रवेश राष्ट्रीय आन्दोलन में हुआ और इससे धार्मिक पहचान भी उभरी। जैसे बगाली बकिम चन्द्र से प्रभावित हुये, लाजपत राय आर्य समाज से होते हुये कांग्रेस मे आये, तिलक ने हिन्दू उत्सवो का सहारा लिया, गॉधी ने गीता, रामराज्य एव अहिंसा का समावेश किया तो दूसरी ओर अखिल इस्लामवाद एवं तुर्की खिलाफत की रक्षा का प्रश्न मुस्लिम नेतृत्व द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन मे जोडा गया।

औपनिवेशिक इतिहासकारो द्वारा भी स्थिति को उलझाने का प्रयास किया गया। 1880 के दशक के पूर्व साम्प्रदायिक दंगे नही के बराबर हुये किन्तु साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के इतिहासकार कूपलैण्ड बनारस मे घटित हिंसक घटनाओ का उल्लेख इसी दृष्टि से करते है।[4] इसी तरह की घटनाये 1813 एवं 1877 मे आजमगढ के मुबारकपुर मे भी घटी। ये हिसक घटनायें इस बात का प्रमाण है कि लोगो के भीतर धार्मिक उद्वेलन विद्यमान था।

जहाँ तक साम्प्रदायिक विचारधारा का प्रश्न है तो इसे आधुनिक सन्दर्भो मे ही देखा जा सकता है। बिपन चन्द्र के अनुसार – साम्प्रदायिकता के एक आधुनिक विचारधारा के रूप में देखना चाहिये न कि औपनिवेशिक अतीत से पहले के अवशेष के रूप मे जिसकी जडे मध्यकाल मे है। औपनिवेशिक शासन से पहले भारत में साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक हिसा कमोवेश

नदारद थे। निःसन्देह धर्म उस समय के लोगों के जीवन का एक महत्वपूर्ण अग था। लोग धर्म के नाम पर लडते भी थे, धार्मिक उत्पीडन भी होता था, परन्तु शासक वर्ग की राजनीति का आधार साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दू बनाम मुस्लिम नही था। जैसा कि राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में कहा जा सकता है, साम्प्रदायिकता भी औपनिवेशिक प्रभाव के तहत भारत के परिवर्तन का एक उत्पाद थी। यह आधुनिक राजनीति को एक नये दृष्टिकोण से देखने के कारण उत्पन्न हुई। यह धर्म की पुरानी पहचान का प्रयोग करके तथा नयी राजनीति में भागीदारी करने के लिये लोगों को संगठित करने का व्यापक प्रयास था।''[5]

वर्तमान परिवेश पर दृष्टि डालने पर साम्प्रदायिक जटिलता का एहसास होता है और इस जटिल स्थिति के लिये मुख्यतः हमारी असावधानी ही जिम्मेदार है। इसे रोकने के लिये न तो संवैधानिक स्तर पर कोई कोशिश की गयी और न ही सामाजिक स्तर पर किसी नये विकल्प की तलाश की गयी। राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये साम्प्रदायिकता का उपयोग होता रहा। सामान्य आदमी की समझ की परिधि मे साम्प्रदायिकता का रूप यह है कि अगर वह हिन्दू है तो मुसलमान को साम्प्रदायिक मानता है और इसके पीछे क्या, क्यो, कैसे को समझने की कोई कोशिश नहीं करता है। यही स्थिति कमोवेश मुसलमानो के साथ भी है। असगर अली इंजीनियर का मानना है – ''बदलता हुआ समाज बहुत ही जटिल समस्याये उत्पन्न करता है, जिनमे एक है जातीय समस्या। भारत मे साम्प्रदायिकता एक आधुनिक घटना है, इस अर्थ मे कि ब्रिटिश शासन के उदय के साथ सामाजिक–आर्थिक सरचना और परिणामस्वरूप विभिन्न समुदायों के बीच और खासतौर से हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच राजनीतिक सम्बन्धो मे बदलाव आने लगा। परिवर्तनशील बहुलतावादी समाज मुश्किल से साम्प्रदायिक या जातीय तनाव से मुक्त रह पाते है।''[6]

इस शोध प्रबन्ध मे मैने साम्प्रदायिकता जैसी आधुनिक सामाजिक परिघटना को उसकी सम्पूर्ण जटिलताओ के साथ समझने की कोशिश की है, क्योंकि किसी भी विचारधारा को तभी ठीक से समझा जा सकता है जबकि उससे जुड़े समस्त अवयवों पर दृष्टि डाली जाय। इसके लिये मै शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का उल्लेख/स्पष्टीकरण आवश्यक समझता हूँ। शोध प्रबन्ध के शीर्षक में प्रयुक्त 'उत्तर प्रदेश' शब्द के बारे में स्पष्ट करना चाहूँगा कि इसका आशय वर्तमान उत्तर प्रदेश से है, जिसका यह नाम स्वतत्रता

प्राप्ति के बाद 1947 मे रखा गया। 1902 से 1947 तक इसे 'संयुक्त प्रान्त आगरा एव अवध' तथा 1902 से पहले 'उत्तर पश्चिम प्रान्त एव अवध' के रूप मे जाना जाता था।

शोध विषय का क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित है। यहॉ मै स्पष्ट करना चाहूँगा कि विचारधाराओं के सन्दर्भ में भौगोलिक परिधि निर्धारित करना प्रायः दुष्कर होता है, क्योकि घट रही घटनाओं के कारण एवं प्रभाव को चिह्नित सीमाओं के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता है। ऐसी घटनाओं की व्यापकता भौगोलिक सीमाओं से कम मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओ से अधिक जुडी होती है ऐसी स्थिति में घटना विशेष के प्रभाव को सीमित करना मानवीय क्षमता के अन्तर्गत नहीं आता है। लेकिन सीमा की मर्यादा का पालन भी आवश्यक होता है नही तो तारतम्यता एवं सातत्यता टूटने का खतरा हमेशा उपस्थित रहता है। ऐसी स्थिति मे इसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्से तक सीमित करने की कोशिश की गयी है।

यही बात समय सीमा के साथ भी लागू होती है क्योंकि सामाजिक —सास्कृतिक मुद्दों से जुडी घटनाओ को कालावधि में सीमित करना सम्भव नही होता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि समाज एव सस्कृति निर्बन्ध होते है। इसलिये सही विश्लेषण, तथ्यपरकता एवं तार्किकता के साथ निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये कहीं न कहीं सीमा रेखा खीचनी ही होती है। इसलिये यह जानते हुये भी कि इतिहास की कोई काल सीमा नहीं है तथा यह खण्डित नही बल्कि सतत गतिमान प्रक्रिया है, फिर भी सुविधा के लिए एक समय सीमा निर्धारित की गयी है। यह ऐसा समय था जब राष्ट्रीय राजनीति मे राष्ट्रवाद एव सम्प्रदायवाद जैसी सवृत्तियॉ दस्तक दे चुकी थीं। इसी परिप्रेक्ष्य में मैने यह समय चिह्न चुना है।

मै यह भी स्पष्ट करना चाहूँगा कि स्रोत के रूप मे साहित्यिक रचनाओ का व्यापक उपयोग किया गया है। साम्प्रदायिकता के अध्ययन की जो परम्परा रही है प्रायः राष्ट्रीय स्तर पर ही अधिक रही है। साथ ही इसमें नेतृत्व करने वाले उच्च वर्ग एव सहभागी उच्च मध्यम वर्ग की भूमिकाओ का उल्लेख अधिक रहा है। ऐसी स्थिति मे जन सामान्य का एक बडा हिस्सा जो इस विचारधारा एवं इसके परिणामों का शिकार होता रहा है, उसका जिक्र नहीं के बराबर या कुछ शब्दों तक सीमित रहा है। इस सीमा का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि इतिहास की तलाश सरकारी ऑकडो एवं अभिलेखो में होती रही है।

निश्चित रूप से इतिहास की पुष्टि का यह एक महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन मेरी दृष्टि मे अन्तिम साधन नही है और जैसा कि प्रायः देखने में आता है कि अभिलेखो मे दर्ज घटनाओ के तथ्य एवं परिणाम सामान्य लोगो की स्मृति एवं धारणाओ से प्रायः काफी भिन्न होते है। यह सरकारी परम्परा आज भी बदस्तूर जारी है।

इसलिये मैंने अपने शोध प्रबन्ध में उन साहित्यिक स्रोतों का अधिकाधिक प्रयोग करने की कोशिश की है, जिनमें तत्कालीन जनमानस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति अन्तर्निहित थी। प्रायः रचनाकार/साहित्यकार जनता से सीधे जुडे हुये थे, उनकी भावनाओं से न केवल सम्बन्ध रखते थे अपितु उनके द्वारा किया गया वर्णन अधिक सहज था। यह इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि जहॉ सरकारी अभिलेख घटनाओं का ब्यौरेवार प्रस्तुतीकरण एवं गणितीय ऑकडो का संग्रह होता है तथा कारण एवं परिणाम तक सीमित होता है, वहीं साहित्यिक स्रोतो से वैचारिकता के साथ ही घटना विशेष के पीछे छिपी भावना का पूरा ज्ञान हो जाता है तथा सामान्य जन की भागीदारी का सही आकलन भी होता है।

यहॉ मै स्पष्ट करना चाहूँगा कि इसके पीछे मेरी यह धारणा कत्तई नही है कि मात्र साहित्य ही इतिहास का सही निदर्शन है, यद्यपि कि यह अति यथार्थवाद की ओर संकेत अवश्य करता है, किन्तु तमाम ऐसी स्थितियाँ होती है जहॉ साहित्यिक जरूरतो की पूर्ति में साहित्यकार कल्पना एवं परिकल्पना का समावेश भी कर लेता है। अतः ऐसी स्थिति मे इतिहासकार का यह दायित्व है कि साक्ष्यो से पुष्टि करके ही तथ्यो का समावेश करे। यहॉ यह दृष्टिगत रखना होगा कि साहित्य मानव समाज की गतिविधियो की सवेदनशील प्रस्तुति है। अत इसके महत्व को खारिज नही किया जा सकता। कालिगवुड इतिहासकार की तुलना उपन्यासकार से करते है। दोनों का सम्बन्ध कल्पना से है और दोनो ऐसे दृश्य की रचना करते है, जो घटनाओ के वृतान्त, परिस्थितियों की विवेचना उद्देश्यो की अभिव्यक्ति और पात्र विश्लेषण पर निर्भर करते है।[7]

आज यह भी स्वीकार किया जाने लगा है कि साहित्यिक स्रोतों के प्रयोग से इतिहासकार को अतीत में झॉकने के लिये एक ऐसी खिडकी उपलब्ध हो जाती है जिसे परम्परागत स्रोतों से प्राप्त नहीं किया जा सकता।[8] आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में स्रोत सामग्री के रूप में साहित्य का प्रयोग करने की परम्परा नयी है। सामान्यतः किसी घटना/परिदृश्य पर परम्परागत

स्रोतो के मौन होने की स्थिति में साहित्यिक स्रोतों का प्रयोग किया जाता है। रिक्त स्थानो की पूर्ति या स्पष्टीकरण के रूप में पाद–टिप्पणि यों में भी इसका उपयोग होता है। साहित्यिक स्रोतो को परम्परागत स्रोतों की दासता से मुक्ति दिलाने एवं प्रतिष्ठित करने की प्रथा नवीन है। सुधीर चन्द्र, पार्थ चटर्जी, सुमित सरकार तथा 'उपाश्रयी' अध्ययन से जुड़े शोध कर्ताओं ने अपनी रचनाओ में इसके लिए अलग–अलग विधाओं का प्रयोग किया है।[9]

इन नवीन अध्ययनों से विदित होता है कि वर्तमान परिवेश में परम्परागत स्रोतो (अर्थात शासक वर्ग द्वारा तैयार किये गये) के पुनर्पाठ की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि नयी स्रोत सामग्री (जो शासित वर्ग द्वारा रची गयी हो) के खोज एवं पुनर्व्याख्या की। औपनिवेशिक काल मे शासकीय कर्मचारियो, धर्म प्रचारको एवं लेखकों द्वारा भारत को अन्धकारमय प्रदेश के रूप मे व्याख्यायित करते हुये औपनिवेशिक शासन काल को नवजागरण काल के रूप मे स्थापित किया गया। इसी काल में नवजागरण के उपादानो के रूप मे गजेटियरो, मानचित्रों, शासकीय इतिहासों एव अन्य वृन्तातों का निर्माण हुआ। सुशासन, शान्ति एवं सुधार जैसे छद्म आदर्शों की आड मे इन आधिकारिक सूचनाओ द्वारा सरकारी वर्चस्व एव नियंत्रण मे वृद्धि की गयी। इनमे भारतीय इतिहास के वही पहलू शामिल थे जिनसे ब्रिटिश सरकार का सरोकार था। बाद मे उत्तर औपनिवेशिक काल मे भी इन्ही वृन्तातो के आधार पर इतिहास की पाठ्य पुस्तकें लिखी गयी। यही कारण है कि आज इतिहास के पुनर्लेखन पुनर्पाठ एवं पुनर्व्याख्या की बहस चल पडी है।

भारतीय साहित्य मे राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत–प्रोत कृतियो का सृजन उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही मिलने लगता है। इसका प्रतिबिम्बन बॅग्ला साहित्य मे काफी प्रखरता के साथ हुआ है, लेकिन बकिम चन्द्र की विचारधारा को लेकर विवाद अब भी है कि ये राष्ट्रवाद के प्रतीक थे या हिन्दू सम्प्रदायवाद के। उनके उपन्यासो के अन्तः साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने मुसलमानों एव उनके शासन की आलोचना की। तुलनात्मक रूप से औपनिवेश्कि शासन की प्रशसा की और हिन्दू धर्म के परिष्कृत रूप को सर्वोत्कृष्ट माना। यहाँ ध्यातव्य है कि 1857 के विद्रोह के बाद से ही मुस्लिम समाज में यह विश्वास घर कर गया था कि उनके समाज की सुरक्षा अंग्रेजो के साथ मिलने पर ही सम्भव है। अलीगढ़ आन्दोलन एवं सैयद अहमद के विचारो की पृष्ठभूमि मे यही विश्वास अन्तर्निहित था। ऐसी स्थिति में परवर्ती चरणो मे यह भी स्पष्ट होता जा रहा था कि अंग्रेजों के चले जाने के

बाद जो लोकतत्र भारत मे बनेगा वह हिन्दू लोकतंत्र होगा। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य स्वर के विरोध मे मुसलमानों ने अपने इतिहास एवं परम्परा से प्रेरणा ली। यही कारण है कि बंकिम चन्द्र के राष्ट्रवादी साहित्य मे हिन्दू सम्प्रदायवाद का प्रतिबिम्ब देखा गया।

रमेशचन्द्र दत्त के इतिहास एवं साहित्यिक ग्रन्थों, शरत चन्द्र के उपन्यासों एवं टैगोर–साहित्य में राजनीति का स्वर तो था ही व्यापक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति भी मिलती है। उर्दू साहित्य में अल्लामा इकबाल (प्रारम्भ में) एवं जोश मलीहाबादी की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में अंग्रेजों का विरोध एवं राष्ट्रवादी चेतना दिखायी पडती है। यह और बात है कि इकबाल ने 'सारे जहॉ से अच्छा हिन्दोस्तॉ हमारा' लिखने के बाद आगे चलकर अलगाववादी राजनीति के प्रभाव में 'मिल्ली तराना' भी लिख डाला।

साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति के प्रयास के प्रारम्भिक दौर मे ही हिन्दी साहित्य क्षेत्रीय बोलियों से मुक्त हो मानक भाषा का निर्माण कर रहा था। साम्राज्यवादी वर्जनाओ के बावजूद हिन्दी साहित्यकारों की रचनाओ मे प्रखर राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति प्रारम्भिक दौर से ही देखने को मिलती है। इसे भारतेन्दु एव द्विवेदी युगीन आरम्भिक रचनाकारो मे देखा जा सकता है। बाद मे रचनाकारों के लिये यह अभिव्यक्ति क्षेत्र और व्यापक होता गया। धर्म एव साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर भी हिन्दी साहित्यकारों ने सवाद कायम करते हुये धर्म मे व्याप्त पाखण्ड, ढोग और उसकी साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति की आलोचना की। पुरोहितों की मध्यस्थता एवं मठाधीशो के शोषण को अनावृत्त करते हुये साम्प्रदायिक फूट को समाप्त करने एवं साम्प्रदायिक सौहार्द कायम करने की वकालत की, क्योंकि इन साहित्यकारो को औपनिवेशिक शासन के मन्तव्यों एव साजिशो का अच्छी तरह से ज्ञान था।

शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में साम्प्रदायिकता के वैचारिक एव सैद्धान्तिक पक्ष को रखते हुये इसके लिये जिम्मेदार कारको/तत्वो की खोज की गयी है। एक ऐसी विचारधारा जिसका कि अतीत मे उल्लेख लगभग नही के बराबर है जबकि एक लम्बे समय तक मुस्लिम शासन यहॉ कायम था। जो कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के सर्वथा विपरीत था। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियो मे सौहार्द एवं सामजस्य स्थापित करने की तमाम कोशिशे परिलक्षित होती हैं। वहीं औपनिवेशिक शासन के दबाव एवं स्वार्थो के चलते आपसी विभाजन की प्रवृत्तियॉ देखने को मिलती है, जिससे साम्प्रदायिकता

जैसी विचारधारा को पनपने का अवसर मिला। हिन्दू एवं मुसलमान दोनो ही सम्प्रदाय के लोग अपने सामुदायिक हितों तक सिमटते गये तथा यह मानने लगे कि धर्म ही भौतिक हितो की एकता का भी आधार है।

एक बार जब ऐसी मनोवृत्ति का निर्माण हो गया तो अपने हितों एवं लक्ष्यों की पूर्ति के लिये साम्प्रदायिक विचारधारा का हिंसक प्रयोग भी शुरू हुआ और इसे विकसित एवं प्रभावी बनाने के लिये इतिहास से उद्धरण जुटाये जाने लगे। साम्प्रदायिक नेताओ द्वारा अपने—अपने अतीत के पक्ष में तमाम तर्क एवं मिथक गढे जाने लगे जो सही न होते हुये भी बार—बार पुनरावृत्त होने पर जन सामान्य में सही समझे जाने लगे। इस अध्याय मे इन्हीं बिन्दुओ के परिप्रेक्ष्य में साम्प्रदायिकता को समझने का प्रयास किया गया है।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता के स्वरूप को विवेचित करने का प्रयास किया गया है। इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली कांग्रेस पार्टी एवं मुस्लिम हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली मुस्लिम लीग के बीच चल रहे वैचारिक संघर्ष को देखने का प्रयास होगा। यहॉ लीग की इस भूमिका को विवेचित करने का प्रयास होगा कि मुस्लिम हितो की पूर्ति के लिय वह औपनिवेशिक शासन से किस प्रकार समझौते कर रही थी। साथ ही समय—समय पर अपने वर्गीय स्वार्थो की पूर्ति हेतु कांग्रेस का उपयोग भी कर रही थी। इसी क्रम मे यह देखने का प्रयास होगा कि काग्रेस का समझौतावादी रुख किस हद तक साम्प्रदायिकता को विकसित करने में सहायक रहा और मुस्लिम लीग की मॉग क्रमशः तीव्रतर होती हुई देश विभाजन तक पहुॅची।

शोध—प्रबन्ध के तृतीय अध्याय मे तत्कालीन हिन्दी साहित्य के कतिपय चयनित साहित्यकारो के साहित्य मे साम्प्रदायिकता का किस प्रकार निरूपण हो रहा था, इसे देखने का प्रयास किया गया है। इसके लिये मैंने शोध विषय के क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔध, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी – निराला एवं श्याम नारायण पाण्डेय की साहित्यिक कृतियों को आधार बनाया है। इस चयन के पीछे मेरा मन्तव्य यह है कि शोध अवधि की पूरी सीमा इन साहित्यकारों द्वारा आच्छादित हो जाती है। साथ ही साहित्य की विभिन्न विधाओ का प्रतिनिधित्व भी इनके साहित्य द्वारा हो जाता है। यह चयन अध्ययन की सुविधा के लिये भी किया गया है। ऐसा करके शेष साहित्यकारो की महत्ता कम करने का उद्देश्य नहीं है बल्कि सन्दर्भ स्रोतो के अधिक्य से बचने की कोशिश है।

इन साहित्यकारो मे पृष्ठभूमि के रूप मे भारतेन्दु के उस स्वर को पहचानने की कोशिश होगी जिसमें वे राजभक्ति एवं देशभक्ति के दो ध्रुवों पर लेखन कर्म करते हुये जातीय आग्रह के भाव से मुक्त नही हो पाते। इसी प्रकार हरिऔध का साहित्य आद्योपान्त जातीयता एवं हिन्दुत्व के दायरे मे घूमता है। प्रेमचन्द जन साहित्य के पुरोधा थे। इसी दृष्टि से साम्प्रदायिकता एवं उस पर उनके प्रहार को उनके साहित्य के माध्यम से देखने की कोशिश होगी। जयशंकर प्रसाद प्रायः ऐसा चित्रण करने से अपने साहित्य को बचाते रहे हैं लेकिन बच नहीं सके हैं। सम्भवतः ऐसा उनकी शान्त एवं अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण था। निराला इस सन्दर्भ में अपने नाम के अनुरूप ही है, उनके साहित्य मे तमाम ऐसे उद्धरण हैं जहाँ उन्होंने इस विषय पर पूरी बेबाकी के साथ अपनी बात कही है। श्याम नारायण पाण्डेय की रचनायें हिन्दू आख्यानों पर आधारित है और उस समय प्रकाशित हुई हैं जबकि राष्ट्रवादी भावनाओं के साथ–साथ साम्प्रदायिक राजनीति भी अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इन बिन्दुओ के परिप्रेक्ष्य में ही इन साहित्यकारों के विचारों का विवेचन होगा। साथ ही उन बिन्दुओ पर भी दृष्टि डाली जायेगी जहाँ इन साहित्यकारो द्वारा साम्प्रदायिकता जैसी नकारात्मक मनोवृत्ति पर प्रहार किया गया है तथा सामजस्य स्थापित करने की कोशिश की गयी है।

शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय मे पूर्वी उत्तर प्रदेश की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियो के विवेचन के साथ ही उन स्थितियों की चर्चा होगी जिनसे साम्प्रदायिकता का निर्माण एवं विकास हुआ। हिन्दी–उर्दू विवाद एव गोरक्षा आन्दोलन ने कैसे साम्प्रदायिक स्थिति को जटिल बनाया साथ ही परवर्ती चरण मे कांग्रेस मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा एवं अन्य छोटे दलों एव उनके नेताओ की गतिविधियो एवं क्रियाकलापों का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय में विभाजन के तुरन्त बाद की स्थिति को विश्लेषित करने का प्रयास होगा। इसके लिये जनसंख्या, विचारधारा, मनःस्थिति, आर्थिक एवं जन हानि–लाभ को दृष्टि में रखने का प्रयास होगा। यहाँ मैंने पुनः तत्कालीन साहित्य के माध्यम से लोगों की मनः स्थिति एवं उससे उठती प्रतिक्रिया को देखने का प्रयास किया है।

शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में साम्प्रदायिकता के निर्माण उसके विकास के प्रमुख घटको एव उपादानों का जो विश्लेषण पिछले अध्यायों मे किया गया है, उनके सन्दर्भ में एक सतुलित दृष्टिकोण के साथ निष्कर्ष पर

पहुँचने का प्रयास इस दृष्टि के साथ होगा कि क्या सचमुच किसी निष्कर्ष पर पहुँच सका हूँ। वस्तुतः साम्प्रदायिकता तमाम किन्तु–परन्तुओ के बीच आज भी न केवल उलझी हुई है बल्कि दिन–प्रतिदिन नये आयाम ग्रहण करती जा रही है। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिकता–विषयक बहस मे हस्तक्षेप कर उसकी जटिलता को समझने का मेरा यह प्रारम्भिक प्रयत्न इस दृष्टि से माना जाना चाहिये कि इस विषय में कुछ नये पदचिह्न छोड़ सका हूँ।

सन्दर्भ

1. मजूमदार आर.सी., हिस्ट्री एण्ड द कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, खण्ड–5, भारतीय विद्या भवन, पृ. 28
2. वही, पृ. 31
3. अहमद इम्तियाज, द अशरफ–अजलफ डायकाटमी इन मुस्लिम सोशल स्ट्रक्चर इन इंडिया, इण्डियन इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, अक–3, 1966, पृ. 268–78, एवं ज्ञान पाण्डेय के कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज्म इन कालोनियल नार्थ इंडिया, दिल्ली, 1990 में, पृ. 85–86, एवं 139, पाण्डेय ने अजलफ के लिये राजिल (या मेहनतकश लोग) शब्द का प्रयोग किया है।
4. आर.कूपलैण्ड अपनी पुस्तक कॉस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इंडिया, (लदन 1944, पृ. 29) पर बनारस के 1809 एवं 1871–72 के दंगो का उल्लेख करते हैं। उनका मानना है कि हिन्दू–मुस्लिम समस्या ही ब्रिटिश शासन के चलते रहने का महत्वपूर्ण कारण थी।
5. चन्द्र बिपन आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृ. 170
6. इंजीनियर असगर अली, हिन्दू–मुस्लिम समस्या : एक सहयोगात्मक प्रयास, असली भारत, फरवरी 1992, पृ. 18
7 कालिंगवुड आर.जी., द आइडिया ऑफ हिस्ट्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1992, पृ. 245
8. जोशी ललित, साहित्य और इतिहास लेख अन्तर्सम्बन्ध–सन्दर्भ गुमानी, इतिहास बोध, इलाहाबाद, 1996, पृ. 48–52
9. सुधीर चन्द्र ने हिन्दी, बॅग्ला, गुजराती में उपलब्ध साहित्य का अध्ययन किया है (लिटरेरी एण्ड सोशल कान्शसनेस इन कालोनियल इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1992) सुमित सरकार की नवीनतम रचना राइटिंग सोशल हिस्ट्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1997 मे छठवें, सातवें एवं आठवे अध्याय में इसके प्रमाण उपलब्ध है।

अध्याय—1

औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या

साम्प्रदायिकता एक आधुनिक विचारधारा और अवधारणा है, जिसकी उत्पत्ति के लक्षण उन्नीसवी शताब्दी के द्वितीयार्द्ध से देखे जा सकते हैं। जहाँ एक ओर राष्ट्रवाद की अवधारणा 'अग्रदृष्टि, प्रगतिशील और आधुनिक' है, वहीं दूसरी ओर साम्प्रदायिकता पश्चगामी, प्रतिक्रियावादी और मध्यकालीन[1] है इस प्रकार साम्प्रदायिकता राष्ट्रवाद की प्रतिपक्ष है। मोइन शाकिर के अनुसार—"साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता के समानान्तर सत्ता स्थापित कर लेती है। भारतीय सन्दर्भ मे साम्प्रदायिकता का अभिप्राय भारतीय राष्ट्रीयता के विरोध का परिणाम भी हो सकता है। भारतीय समाज के बहुमत का चरित्र और इसकी अनेकता का प्रादुर्भाव समान राष्ट्रीयता की चेतना से हुआ है। भारतीय राष्ट्रवादियो के लिये साम्प्रदायिकता महत्वपूर्ण थी (और है) क्योंकि यह राष्ट्रीयता नहीं थी। भारत में राष्ट्रवादियों के लिये साम्प्रदायिकता शासन तन्त्र के अभिशाप के रूप मे है।"[2]

विचारणीय प्रश्न यह है कि मध्ययुग में हिन्दू एव मुसलमानो के बीच समुदाय के आधार पर सम्प्रदायगत विभेद देखने को नहीं मिलता। हिन्दू एव मुसलमानो के त्योहारों में दोनो समुदाय के लोगों की परस्पर भागीदारी का प्रमाण उस समय के दरबारी इतिहासकारों यूरोपीय यात्रियों के विवरणों और अन्य विद्वानो की रचनाओ में देखने को मिलता है।

इस आधार पर एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि मध्यकाल में, राजनैतिक विचारधारा के रूप मे, न तो साम्प्रदायिकता विद्यमान थी और न ही धर्म के आधार पर लोगो के बीच किसी तरह की हिसा थी। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जिन लोगों ने उस समय का विवरण प्रस्तुत किया है प्रायः तत्कालीन जन सामान्य की भावनाओ का जिक्र नहीं के बराबर किया है। फिर भी सामान्यतः मान्य विचार यह है कि उस समय सामुदायिक भावना विद्यमान नही थी।

हिन्दुओं एव मुसलमानों के बीच समान संस्कृति के निर्माण के साथ—साथ पृथक सामाजिक अस्तित्व की प्रवृत्ति आधुनिक काल के आगमन से पूर्व ही शुरू हो गयी थी। अतः आवश्यक हो जाता है कि अग्रेजो के आगमन के पश्चात जिस तथ्य को के. एन. पणिक्कर ने 'समुदाय केन्द्रित परिप्रेक्ष्य'[3] के

रूप में देखा है, उसे विवेचित किया जाय। यद्यपि यह माना जा सकता है कि हिन्दुओं और मुसलमानो (अभिजात) के बीच धार्मिक एव सांस्कृतिक मतभेद पहले से विद्यमान थे, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इस तरह के अन्तर का विकास हो रहा था। विशेषतः उस युग के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच जो मतभेद पिछली एक शताब्दी से चल रहा था, उसका कारण राजनीतिक सर्वोपरिता के लिये चल रहा द्वन्द था। मुस्लिम अलगाववाद की विचारधारा हिन्दुओ एवं मुसलमानों के वस्तुनिष्ठ अन्तरो के कारण ही नहीं थी, बल्कि मुसलमानों एवं हिन्दुओं के बीच कुछ ऐसे प्रतीक थे, जिनका उपयोग अभिजात वर्ग के लोगो ने अपने राजनीतिक स्वार्थ एवं महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति के लिये किया था।[4]

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुओ एव मुसलमानो में अलगाववाद की जिस प्रवृत्ति की व्याख्या इतिहासकारों ने की है उससे दोनो के बीच मौलिक अन्तर की चार मान्यतायें[5] स्पष्ट होती है।

1 मुसलमानो मे हिन्दुओ की अपेक्षा आधुनिक शिक्षा पद्धति के सन्दर्भ मे पिछडापन अधिक था। जिसका परिचय अंग्रेजो ने अपने शासन के दौरान कराया। परिणामस्वरूप अपने इस पिछडेपन को दूर करने के लिये मुसलमानो ने शैक्षिक और राजनीतिक रूप से सगठित होकर प्रयास किया। इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना और उसके सुदृढीकरण (1857 के विद्रोह के बाद) ने मुस्लिम शासक वर्ग को उसकी स्थिति से विस्थापित कर दिया था, इसलिये वे लोग निराश थे और बाद में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के प्रति उदासीन होने के कारण वे लोग आधुनिक शिक्षा एव नौकरियो से वंचित हो गये।

2. दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि साधारण मुस्लिम जनता अपनी गरीबी एवं पिछडेपन के कारण नई शिक्षा और रोजगार के अवसर का लाभ उठाने मे असफल रही और ऐसा मुस्लिम उलेमाओ द्वारा आधुनिक धर्म निरपेक्ष शिक्षा के प्रबल विरोध के कारण हुआ।

3. हिन्दू जो कि इस तरह की भावनाओ से ग्रस्त नहीं थे, इसका भरपूर लाभ उठाते हुये मुसलमानों से आगे निकल गये।

4. अलीगढ़ आन्दोलन के उद्‌भव के पश्चात मुसलमानो ने राजनीतिक रूप से सगठित होते हुये, हिन्दुओ की अपेक्षा अपनी अलाभकारी स्थिति को दूर करने का प्रयास किया। इसके लिये मुसलमानो में

मुसलमानो द्वारा हिन्दुओ एव कांग्रेस के प्रबल विरोध ने दोनों के बीच तनाव पैदा किया और अन्तत जिसकी परिणति देश विभाजन के रूप मे हुई।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान मुसलमानो मे अलगाववाद की प्रवृत्ति के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो यह पता चलेगा कि जनता राजनीतिक उद्देश्यों की प्राथमिकता की पूर्ति के लिये अपने प्रतीकों का चुनाव करने की प्रक्रिया से किस प्रकार इतिहास को निश्चित दिशा देती है। कोई भी विद्वान जो राष्ट्रीय विचारधारा के विकास और इसकी सफलता का अध्ययन करना चाहता है, उसे समय की वस्तुनिष्ठ स्थिति और प्रतीक के परिचालन की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर एक मिथक का निर्माण करना होता है, जिससे कि राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति हो। यह संकेत करना कि ऐतिहासिक मिथक स्वयं में राष्ट्र के विकास में एक तथ्य है, सही इतिहास नही है। ऐसा करने से न तो सही इतिहास की ओर जाया जा सकता है और न ही सामाजिक वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है।[6]

इस अध्याय में इसी पृष्ठभूमि के आलोक मे औपनिवेशिक भारत मे साम्प्रदायिक समस्या के मोटे पहलुओ को रेखांकित किया जायेगा। साम्प्रदायिकता क्या है? साम्प्रदायिक दंगो से इसका क्या सम्बन्ध है, इसके उदय के क्या कारण थे? सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सास्कृतिक पक्षो को कैसे प्रभावित किया? को विवेचित करने का प्रयास होगा, क्योकि सामाजिक घटनाये सामान्यत जटिल और परस्पर विरोधी होती है। उन्हें तभी समझा जा सकता है जबकि उनके सभी परस्पर विरोधी पहलुओ पर एक साथ दृष्टिपात किया जाय।

औपनिवेशिक भारत मे साम्प्रदायिक समस्या पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिकता की अवधारणा को विवेचित किया जाय। सामान्य रूप से साम्प्रदायिकता का अर्थ ऐसी स्थिति से है, जहाँ दो विभिन्न धार्मिक समुदायो के सदस्य परस्पर भय एवं अविश्वास की स्थिति में रहते है। यद्यपि विद्वानो ने इसे कई तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया है। जैसे 'एक विचारधारा के रूप में' 'एक झूठी चेतना के रूप में' 'सीमित ससाधनों के लिये सघर्ष' 'नौकरी के लिये प्रतियोगिता' 'शासक वर्ग द्वारा एक राजनीतिक हथियार के रूप मे इसे अपनाया जाना' आदि।

डब्ल्यू. सी. स्मिथ ने इसे परिभाषित करते हुये लिखा है कि "यह प्रत्येक धर्म के अनुयाइयो के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पहलुओ पर जोर देती है। साथ ही यह इनके बीच अन्तर और शत्रुता के भाव को भी रेखांकित करती है।"[7] इसी प्रकार बिपन चन्द्र का विचार है कि – 'साम्प्रदायिकता एक ऐसा विश्वास है जिससे यह लगता है कि जिन लोगो का एक ही धर्म है उनका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित भी समान है।"[8] सैन्ड्रिया फ्रितॉग ने कुछ हटकर इसे परिभाषित करते हुये लिखा है – "यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें धर्म का राजनीतिक स्वरूप प्राथमिक हो जाता है।"[9] शशि जोशी भगवान जोश ने साम्प्रदायिकता की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "इसका स्वरूप मुख्यतः सास्कृतिक संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है।"[10]

कई अवसरों पर जवाहर लाल नेहरू ने भी साम्प्रदायिकता पर अपनी विस्तृत राय दी है। 1937 मे साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ में उन्होने लिखा है कि 'साम्प्रदायिकता यह चाहती है कि "राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मामलों में हिन्दू और मुस्लिम अलग–अलग गुटों मे कार्य करें तथा परस्पर इस प्रकार का व्यवहार करे जैसा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ करता है और इसी प्रकार का व्यवहार श्रमिक संघो व्यापारिक सस्थानो तथा दूसरी गतिविधियो मे करे।"[11] इसी प्रकार 1944 मे साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुये लिखा – "यह एक सकीर्ण मनोवृत्ति है, जो एक धर्म समुदाय को अपना आधार बनाती है, परन्तु वास्तव में इसका सम्बन्ध उस वर्ग विशेष के लिये राजनीतिक सत्ता तथा राजनीतिक संरक्षण से है।"[12] बाद में 1955 में उन्होंने लिखा कि – "साम्प्रदायिकता धार्मिक आवरण के पीछे की राजनीति है, जिसमे एक धार्मिक समुदाय को दूसरे समुदाय से घृणा करने के लिये उकसाया जाता है।"[13]

साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध मे थियोडोर मॉरिसन ने औपनिवेशिक मत को व्यक्त किया है कि "हिन्दू एव मुसलमानो के बीच अन्तरो की व्याख्या करना व्यर्थ है। केवल एक मात्र चीज जो वास्तविक है वह यह है कि दोनो स्वयं को अलग मानते है। अगर इसे मानक माना जाय तो भारत के मुसलमान एक राष्ट्र है और साम्प्रदायिक विभेद वास्तव मे एक राष्ट्रीय ईर्ष्या है।"[14] साम्प्रदायिकता इस अर्थ में राष्ट्रवाद है, लेकिन भारतीय राष्ट्रीय नेताओं के लिये साम्प्रदायिकता का महत्व यह था कि यह राष्ट्रवाद नही था क्योंकि यह उससे भिन्न था, इसलिये मुख्य दुश्मन था। राष्ट्रीय नेताओं के लिये साम्प्रदायिकता भारतीय राष्ट्रवाद पर एक काला धब्बा था। ज्ञान पाण्डेय का विचार है कि "साम्प्रदायिकता एक तरह का औपनिवेशिक ज्ञान है। विडम्बना यह है कि साम्प्रदायिक लोगों

की तुलना मे राष्ट्रवादियो ने ही साम्प्रदायिकता का प्रचार–प्रसार अधिक किया।[15] साम्प्रदायिकता को परिभाषित करने मे समस्या होती है क्योंकि बहुसख्यक सम्प्रदाय की साम्प्रदायिकता मे राष्ट्रीयता के रूप मे प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति होती है जबकि अल्पमत मे उपराष्ट्रीयता की।[16]

भारतीय सन्दर्भ में सम्प्रदाय शब्द को परिभाषित करते हुये राबर्ट हार्डग्रेव जूनियर कहते है कि – "भारत में सामान्यतः समुदाय नस्ल, जाति, भाषायी, या धार्मिक समूह से सम्बन्धित है न कि संयुक्त राज्य की तरह स्थान से।"[17] बिपन चन्द्र की साम्प्रदायिकता की परिभाषा इसके यथासंभव अनेक अर्थ निकालने का प्रयत्न करती है। उनका यह भी विश्वास है कि "सम्बन्धित धार्मिक सम्प्रदाय आधुनिक भारतीय राजनीति के संगठन का आधार बन चुके है। भारतीय समाज साम्प्रदायिक पहचान और बॅटवारे के लिये अडिग संघर्ष मे हमेशा से जलता रहा है। वह पुनः एक सम्प्रदायवादी के मानसिक और वैचारिक गठन पर बल देने का प्रयास करके इसका विस्तार करते हैं। सम्प्रदायवादी मानता है कि भारतीय समाज का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विषयो पर सर्वाधिक सार्थक विभेद इन्ही धार्मिक सम्प्रदायों के आधार पर ही होता है। भारतीय समाज अपने अस्तित्व, सामाजिक व्यवहार, सामूहिक या गैर व्यक्तिगत हितों की रक्षा केवल इन धर्म आधारित सम्प्रदायों के सदस्य के रूप में ही कर सकता है। वे उन समरूप सम्प्रदायों जिनका हित, दृष्टिकोण, जीवन शैली आदि समान होती है के सदस्य के अतिरिक्त किसी अन्य ढंग से कभी व्यवहार नहीं करते और न सोचते एवं महसूस करते है।"[18]

सम्प्रदाय शब्द जैसा कि भारत में प्रयोग किया जाता है, उन सुविधाजनक अस्पष्ट शब्दों में से एक है जो असमान सामाजिक इकाइयों के उल्लेख में बहुत सहायक है। भारतीय राजनीतिक शब्दावली मे 'साम्प्रदायिक' विशेषण सर्वाधिक नकारात्मक प्रभाव वाला शब्द है। इसका प्रयोग उस संगठन के वर्णन मे किया जाता है जो जनसख्या के केवल एक भाग के हित चाहने की धारणा, धर्म एव परम्परा के नाम पर सामाजिक परिवर्तन के विरोध को बढाता है और यह धारणा सम्पूर्ण समाज के लिये हानिकारक होती है। अतः यह एक विशेषण है जो समाज विरोधी लालच और प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती है।[19]

जी.डी. मिचेल समुदाय शब्द की व्याख्या करते हुये कहते है कि – "वास्तव मे यह (समुदाय) ऐसे लोगो की ओर इशारा करता है जो एक भौगोलिक क्षेत्र में एक साथ रहते हैं। एक साथ आर्थिक एवं राजनीतिक

गतिविधियो में भाग लेते है और अपने ऊपर स्वय शासन करते है तथा दूसरे के प्रति प्रेम एव सद्भावना रखते है।"[20] यद्यपि कि धर्मो की अधिकता और परम्पराओं में अनेकता साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति नहीं है और श्रद्धा के विभिन्न सोचो के बीच टकराव साम्प्रदायिक सोच का परिणाम नहीं है। मोइन शाकिर के अनुसार – "अपने धर्म के प्रति गर्व साम्प्रदायिकता नहीं है। . ... यह अन्य के धर्म और संस्कृति के प्रति घृणा का भाव नहीं है। निष्कर्षतः धर्म अलौकिक विचारो का स्वरूप नहीं है, परन्तु इस प्रकार धर्मो का सामाजिक पहलू अतार्किक एकात्मक समूहों को उत्पन्न कर सकता है।"[21]

हैस क्रूज के अनुसार इन समूहों का दृष्टिकोण इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है – "साम्प्रदायिकता वहॉ होती है जब इसके सदस्य अपनी धार्मिक निष्ठा राजनीतिक प्रशासन चलाने वाली इकाई के विपरीत विकसित कर लेते है।"[22]

साम्प्रदायिकता अपनी महत्वपूर्ण विशेषतायें उस विशेष समूह के इतिहासकारों के इतिहास लेखन से प्राप्त करती है जो औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त थे। यह शुरुआत इस शताब्दी (बीसवी) के प्रारम्भ में हुई, क्योकि यह प्रारम्भ मे राष्ट्रीयता के उपमहाद्वीपीय सस्करण के रूप मे दिखायी पड़ी। लुइस ड्यूमॉट यह विचार व्यक्त करते है– "साम्प्रदायिकता अपना अर्थ समान्तर वस्तुओ के साथ अभिव्यक्त करती है। इससे पूर्व औपनिवेशिक लेखको एव शासकों के द्वारा रुचिपूर्वक नस्ल, राष्ट्र, राष्ट्रीयता वर्ग जैसे बहुवाचक शब्दों का प्रयोग अधिकता के साथ किया गया, जिसका उद्देश्य उपमहाद्वीप को अलग–अलग राजपूतो, सिखों, मुसलमानो, और भीलो आदि के रूप में व्यक्त करना था।"[23] तुलनात्मक रूप से सामान्य शब्द सम्प्रदाय इसी के बाद सामान्यतया प्रयुक्त होने लगा। इसका एक कारण तो यह था कि शब्द 'नस्ल' डार्विन युग मे एक जीव वैज्ञानिक व्यवहार के अर्थ मे प्रयुक्त होता था और राष्ट्र शब्द का सही प्रयोग यूरोप और अमेरिका के नये राष्ट्र राज्यों के अस्तित्व मे आने के बाद शुरू हुआ। अतः यह जानबूझकर एशिया के लोगो के द्वारा इकार कर दिया गया।

डब्ल्यू सी. स्मिथ कहते हैं कि – "भारतीय मुसलमान, मुसलमान और भारतीय दोनों हैं। इस द्वैतता मे से जब किसी एक को ही मानने का प्रयास होता है तब स्थिति को हम विस्फोटक कह सकते हैं। यहाँ इन दोनों ध्रुवो के रचनात्मक संश्लेषण में बौद्धिक प्रयास असफल हुये है।"[24] भारतीय मुसलमानो

की इस द्वैतता मे भारतीयता तथा मुसलमानत्व दोनों तथ्य समान एवं अन्योन्याश्रित है। भारतीयता पर अनावश्यक दबाव भारतीयता के सिद्धान्त की पूर्णता की कल्पना करता है, जबकि इसकी अनदेखी करना राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया की जड़ें खोदना है।

मोइन शाकिर का मत है कि – ''पाकिस्तान का जन्म साम्प्रदायिकता का परिणाम था। यह समुदाय के भीतर और बाहर भारतीय और मुस्लिम वृत्त खण्डों के मध्य सन्तुलन स्थापित करने में व्यवहारिक असफलता है।''[25]

डब्ल्यू. सी. स्मिथ इस बात को स्वीकार करते हैं कि – ''यह इस्लाम ही है जिसने भारतीय मुसलमानो को साम्प्रदायिक बनाया। मुस्लिम जो कि अल्पसंख्यक है, अपने को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखा, अपना अलग अस्तित्व बनाये रखा। भारत की ही तरह मुस्लिम समस्या इथोपिया, थाईलैण्ड एवं फिलीपीन्स में भी है। भारत में साम्प्रदायिकता को ऐतिहासिक तौर पर राष्ट्रीयता के प्रतिपक्ष के रूप मे निर्धारित किया गया, ऐसा दूसरे देशो मे शायद नही है जैसे कि मलेशिया, जबकि वहॉ पर भी साम्प्रदायिकता की समस्या है।''[26]

साधारणतया साम्प्रदायिकता उस स्थिति को इंगित करती है जहॉ विभिन्न धर्मो के लोगो के बीच शक, डर तथा विरोध होता है। बौद्धिक स्तर पर साम्प्रदायिकता सोची–समझी राजनीति के कारण उत्पन्न होती है, जो कि धार्मिक समुदायो के बीच वास्तविक या काल्पनिक डर के कारण होती है। एल. ड्यूमॉट ने अपने निबन्ध 'नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म' में लिखा है कि – ''साधारणतया धार्मिक समुदायो के बीच उत्पन्न विरोध को साम्प्रदायिकता कहा जाता है। साम्प्रदायिकता एक सकर, माध्यमिक तथा संक्रमित घटना के रूप मे दिखती है।''[27]

सामाजिक विज्ञान मे 'साम्प्रदायिकता' एक अवधारणा या सैद्धान्तिक गठन के रूप मे नवीन है। वह शायद इतिहास है जिसने प्रथमतः इसका प्रयोग किया। राजनीति शास्त्र एवं समाज शास्त्र ने इसका उपयोग किया। यह कहा जाता है कि साम्प्रदायिकता जैसा कि वर्तमान मे प्रयोग किया जाता है धार्मिक विचारधारा का राजनीतिक दोहन है, जो समाज में समूहों को केवल धर्म के आधार पर परिभाषित करता है। यहॉ तक कि यह उपागम समूहों का सम्बन्ध, धन, स्तर, सम्मान और सामर्थ्य सभी खत्म कर देता है।''[28]

इतिहासविद् एवं राजनीति विज्ञानी अक्सर तर्क देते हैं कि साम्प्रदायिकता की जड इतिहास मे ही वापस जाती है, परन्तु इस प्रवृत्ति को न्याय संगत सिद्ध करने के लिए लोगो द्वारा इतिहास का भी दुरुपयोग किया गया है। ब्रिटिश इतिहासकारों ने सभवतः पहली बार 'साम्प्रदायिकता' शब्द का प्रयोग हिन्दू बनाम मुस्लिम के लिये किया उन्होने हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल का सीमाकन करके इतिहास को कालों में विभाजित किया जो बाद मे प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास के रूप में हो गये।

बेवर और पारसन्स के द्वारा विकसित सामाजिक व्यवहार को सर्वाधिक व्यापक अभिव्यक्ति देने वाला विचार समष्टिक व्यवहार के साथ कार्य करने मे समर्थ है। सामूहिक घटनाओ के साथ व्यवहार के मामले में सामाजिक विश्लेषण में ऐसे प्रलाप की प्रवृत्ति होती है मानो यह अदृश्य शक्तियो का कार्य हो। स्मेल्सर कहते है कि छोटे समूहो के व्यवहार और सामूहिक व्यवहार की अन्योय क्रिया की प्रकृति मे अन्तर है। सामूहिक व्यवहार को परम्परागत व्यवहार की कोटियो की तरह विश्लेषित किया जा सकता है।[29]

सामूहिक व्यवहार की परिभाषा मे स्मेल्सर न केवल प्रतिकूल व्यवहार और प्रकोप (Outbrust) को सम्मिलित करते है, बल्कि मानदण्ड आधारित आन्दोलनों और मूल्य आधारित आन्दोलनो समेत अन्य आन्दोलनो पर भी विरोध प्रकट करते है। स्मेल्सर के लिए सामूहिक व्यवहार दबाव द्वारा उत्पन्न समस्याओ पर सघनित आक्रमण है। उनके अनुसार सामान्य सामाजिक व्यवहार परिभाषित करने योग्य घटकों के मानचित्र और रेखाचित्र के साथ चलता है। हॉलाकि विरोध की स्थिति में व्यवहार के स्थापित मार्ग असफल हो जाते है। इस प्रकार बिना ढॉचागत स्थिति में प्रतिकूल प्रकोप से लेकर मानदण्ड विरोधी आन्दोलनो के विभिन्न प्रकार के सामूहिक व्यवहार, दबाव की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते है।

प्रतिकूल प्रकोपो की विशिष्ट घटनाओ में जिसके अन्तर्गत स्मेल्सर सावधानीपूर्वक नस्लीय दगों के साहित्य पर विचार करते है, यह विश्वास करते है कि दबाव की जिम्मेदारी भलीभॉति परिभाषित समूहों और लोगों के वर्ग को दी जाती है न कि गैर वैयक्तिक बल को। इस तरह के समूहों को हिसात्मक दण्ड देने और मिटा देने की इच्छा की जाती है। अतः हिसा का आन्दोलन सामान्यीकृत विश्वासों के विकास की पूर्वकल्पना कर लेता है जो बाद मे निशाना बनाये गये लक्ष्यो के प्रतिकूल होता है। स्मेल्सर का यह विचार कुछ

हद तक साम्प्रदायिक दंगो पर बिपन चन्द्र के विचार से मिलता–जुलता है। वह तर्क देते है कि साम्प्रदायिक विचारधारा के विकास के कारण ही साम्प्रदायिक दगे होते है। साम्प्रदायिक विचारधारा समाज को एक विशेष नजरिये से देखने और गतिशील करने का मार्ग है, जिसको बढावा देना 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आरम्भ हुआ। भारत में साम्प्रदायिक विचारधारा की कल्पना हुई जब समाज समरूप धार्मिक सम्प्रदायों में विभाजित हुआ, जिसके धर्म निरपेक्ष हित समान थे अर्थात उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित दूसरे धर्मों के हितों से अलग और विरुद्ध थे।

भारतीय लोगों में यह धार्मिक पहचान ही थी, जिसने उनके सामाजिक अस्तित्व को प्रभावित किया। इस पहचान के अनुसार संगठित होने में, अन्य पहचानों जैसे वर्ग, भाषायी, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहचानों को भी सम्मिलित किया गया भारतीय इस सन्दर्भ में अद्वितीय हैं। अन्य समाजों की तरह विशेषत· आधुनिक पाश्चात्य समाज में इस ढंग से संगठन कभी नही दिखा।[30]

भारतीय समाज के इस विचार को उत्पन्न करने तथा आगे बढाने के लिए अग्रेज औपनिवेशिक शोषकों ने बहुत कुछ किया। उनकी सफलता इस बात से सिद्ध होती है कि भारत की स्वतन्त्रता के दशको बाद तक बौद्धिक वर्ग से लेकर साधारण वर्ग तक अपने समाज को भूतकाल से लेकर वर्तमान तक वर्ग तथा राष्ट्र जैसी धर्म निरपेक्ष श्रेणियो का उपयोग करते हुये भी धर्म सम्प्रदाय तथा जातीय वर्ग में विश्लेषित करने की धारणा है। कई सालो तक भारतीय इतिहास प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक काल में विभक्त होने के बजाय हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल मे विभक्त था। डब्ल्यू सी. स्मिथ (1946) प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय समाज के पक्ष को बताने के लिये उपयोग मे लायी जाने वाली साम्प्रदायिक श्रेणियों को बड़ी खूबसूरती से पेश किया, लेकिन पश्चिम के उसी पक्ष को सामने लाने में ये व्यर्थ सिद्ध हुई।[31]

भारतीय सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता को व्यक्तिगत माना जा सकता है। पश्चिमी देश जो भारत के अधिक नजदीक हैं इस शब्द का सही ढंग से अर्थ भी नही जानते, यद्यपि कि पूर्व मे की गयी तुलना जातीयता या युगीन घटनाओ पर आधारित थी। त्वचा के रंग को धर्म के लिये निर्धारित किया जाना महत्वपूर्ण था। बहुत पहले से भारतीय समाज धार्मिक–साम्प्रदायिक श्रेणियों मे विभक्त नही था। ऐसा अब अधिक विश्वास के साथ कहा जा सकता है। परम्परागत भारतीय समाज मे विभिन्न धार्मिक समूह एक दूसरे की अलग–अलग सामाजिक

प्रथाओ एवं धार्मिक कर्मकाण्डो से जुडे हुये थे। हॉलाकि वे आवश्यक रूप से साम्प्रदायिक विभाजन के लिये उत्तरदायी नही थे। भारत का इतिहास एव समाज इस बात का गवाह है कि हिन्दू एवं मुसलमानों के तमाम कर्मकाण्डी विरोध होने के बावजूद कोई साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न नही हुआ, जब तक कि उसे उकसाया नही गया। फिर भी आज माना जाता है कि साम्प्रदायिकता की वर्तमान जड ब्रिटिश साम्राज्यवाद में निहित है।

साम्प्रदायिक आदर्शवाद और राजनीति दोनो का ही उदय समानान्तर रूप से आज के राजनीतिक क्रिया कलाप में निहित है जिसका आधार लोकमत सामूहिक भागीदारी एवं गतिशीलता है। इस साम्प्रदायिक आदर्शवाद को परिभाषित करना कठिन है। किन्तु बिपन चन्द्र धर्म को साम्प्रदायिक स्तर पर विभक्त करते हैं। साम्प्रदायिक आदर्शवाद इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि कैसे धर्म एक निजी आस्था का विषय होते हुये आम जनता का विषय बन जाता है और आगे चलकर राजनीतिक एवं आर्थिक हितो की पूर्ति के लिए संगठनात्मक आधार प्रदान करता है।[32]

एस. मोहंती साम्प्रदायिकता को इस रूप मे परिभाषित करते है – "जिसमे लोग एक धर्म के साथ–साथ समान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सास्कृतिक हितों मे भी विश्वास करते है ...... हम कह सकते हैं कि यह विश्वास दो वर्गों मे दुश्मनी उत्पन्न करता है।"[33]

असगर अली इंजीनियर "साम्प्रदायिकता को समाज के उच्च वर्ग के लोगो एवं उनके वर्गीय हितों के सघर्ष से जोडते है।[34] साम्प्रदायिकता वह हथियार है जो जनता को एक साम्प्रदायिक स्तर पर ला सकती है। इंजीनियर के अनुसार – "उच्च वर्ग से सघर्ष को हम साम्प्रदायिक धारा से जोड सकते है। वे कहते हैं कि बँटवारे के पहले उत्तर प्रदेश के सम्भ्रान्त मुस्लिम अपने आप को मुस्लिम लीग से इसलिये जोडे हुये थे कि वे अपनी प्राप्त सुविधाओ की रक्षा कर सके। वे इसे हितों की 'आदर्शवादिता' के रूप में प्रतिपादित करते है।[35] जातीय दंगो के क्यों और कैसे को वे सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन का परिणाम मानते है।[36]

मोइन शाकिर साम्प्रदायिकता की समस्या को राष्ट्रीय एकता से जोडते है ओर इसकी जडों को सामाजिक आर्थिक कारणो मे निहित मानते है। उनके अनुसार यदि सामाजिक और आर्थिक नीतियॉ ऐसी नही बनायी गयी, जिससे कि समाज मे एकता आ सके तो साम्प्रदायिकता को रोकना मुश्किल होगा और ऐसी व्यवस्थाओं में शासक वर्ग का व्यापक हित जनता के साम्प्रदायिक स्तर पर विभाजित होने मे ही होता है।[37]

गुलाम रब्बानी तबन साम्प्रदायिकता को एक सामाजिक समस्या मानते है और इसका कारण वे सम्प्रदायवादी ताकतो पर थोपते हैं।[38] हुसैन शाहीन पूर्वाग्रह को साम्प्रदायिकता के 'साफ्टवेयर' के रूप मे व्याख्यायित करते है और इस साफ्टवेयर से दगो की उत्पत्ति को हार्डवेयर के रूप में व्याख्यायित करते है। वे असगर अली के समरूप विचार रखते हुये तर्क देते हैं कि उच्च वर्ग द्वारा चलाया जाने वाला पूर्वाग्रह 'हार्डवेयर के अभ्यास के लिये होता है। जिससे कि साम्प्रदायिक हिंसा की उत्पत्ति होती है। साम्प्रदायिकता पर टिप्पणी करते हुये हुसैन शाहीन लिखते हैं कि – "यदि किसी व्यक्ति को वर्ग के आधार पर उसके अधिकारो एवं विशेष लाभों से वंचित किया जाता है, तो इससे साम्प्रदायिकता का गठन होता है।[39]

अब्दुल अहमद साम्प्रदायिकता को समाज के दो भिन्न धर्मो /वर्गो के बीच तनाव के रूप में परिभाषित करते हैं। किन्तु परोक्ष तौर पर साम्प्रदायिकता जातिगत आधार पर रोजगार, शिक्षा, वाणिज्य और राजनीति आदि मे विभेद का परिणाम होती है।[40]

प्रभा दीक्षित साम्प्रदायिकता की व्याख्या 'राजनीतिक सिद्धान्त' के रूप मे करती है। जो राजनीतिक लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये धार्मिक–सांस्कृतिक विभेदो का उपयोग करता है। वह प्रतिपादित करती है कि 'हिन्दू एवं मुसलमानो मे साम्प्रदायिकता धार्मिक प्रतिद्वन्दिता के कारण नहीं है बल्कि राजनैतिक सिद्धान्त के रूप मे उत्पन्न हुई और शक्ति प्राप्त करनेके साथ बँधी थी।'[41] वह कहती है कि "जब सास्कृतिक पहचान की भिन्नता राजनीतिक मॉग का मुख्य आधार बनती है, तब सास्कृतिक भिन्नता राजनीतिक सिद्धान्त का रूप ले लेती है।"[42]

जैनाब बानू भी राजनैतिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिकता को इसी भॉति देखती हैं। उनके अनुसार "भारत मे साम्प्रदायिकता अनिवार्य रूप से राजनीतिक घटना है। साम्प्रदायिकता का उद्भव सामूहिक पूर्वाग्रह, जातीय भिन्नता, कटुता, दंगा और शक्ति स्रोतो पर नियत्रण स्थापित करने के संघर्ष के कारण होता है। राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक शक्ति प्राप्त करना ही इसकी जड है।"[43] राजनैतिक वैज्ञानिक दस्तूर आलू भी इसको (साम्प्रदायिकता) इसी दृष्टि से देखती हैं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे 1906 में आगा खान के नेतृत्व मे लार्ड मिण्टो से मिलने वाले प्रतिनिधिमंडल की मुस्लिमो के लिये अलग निर्वाचन क्षेत्र की मॉग को साम्प्रदायिकता के विस्तार का कारण मानती है।[44] पाडव नायक के अनुसार "साम्प्रदायिकता प्रथमत एक सैद्धान्तिक विचार है, जो

शासक एव शासित वर्ग द्वारा प्रतिक्रियावादी एव प्रगतिशील कारणो से औचित्य प्राप्त करती है। इस प्रकार साम्प्रदायिक वैभिन्नता राजनैतिक स्तर पर बनती है जो वर्गीय आधार पर सैद्धान्तिक रूप लेती है।''[45]

कुछ विद्वानों ने प्रजातन्त्रीय व्यवस्था मे साम्प्रदायिकता को अल्प वर्ग एव बहुसंख्यक वर्ग की समस्या के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हुमायूँ कबीर के अनुसार 'अल्पवर्ग की समस्या का उद्‌भव प्रजातन्त्र के लिये प्रथम शर्त है।''[46] वह स्पष्ट करते हैं कि प्रजातन्त्र के पहले अल्पवर्ग का अस्तित्व नही था। प्रजातन्त्रीय संस्थाओं के जन्म के बाद शक्ति के विकेन्द्री करण से भिन्न–भिन्न शक्ति स्रोतों का उदय हुआ, जिससे अल्प वर्ग और बाहुल्य वर्ग तथा उनके आपसी हित के लिये अलग–अलग समूह बने। कबीर आगे कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ अल्पवर्ग एव बाहुल्य वर्ग के राजनीतिक हितो में टकराव का कारण बनीं। इसे वे और स्पष्ट करते हैं कि अल्पवर्ग की जागरूकता विशेषकर भारत मे हिन्दू–मुसलमान में राजनैतिक दरार का कारण बनी।[48] उनके अनुसार यह एक तथ्य है जिसके द्वारा एक जाति का दूसरे जाति के प्रति भेदभाव करना या गुण–अवगुणो की अनदेखी जाति के आधार पर करना है।

राजनैतिक भेदभाव जनसख्या के ध्रुवीकरण से उत्पन्न होता है। जातीय भेदभाव, वर्ग भेदभाव की तरह ही मौलिक होता है। जनसख्या का समूह जातीय आधार पर दंगा प्रभावित क्षेत्रों मे काफी महत्वपूर्ण होता है। अतएव इसे काल्पनिक या सैद्धान्तिक मानना वर्गभेद से जातीय समस्या से हटना है।

साम्प्रदायिकता मन की वृत्ति है। यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य की कौन सी वृत्ति जातीय सघर्ष के लिये उत्तरदायी है। अतः साम्प्रदायिक मानसिकता को कौन से तत्व प्रभावित करते है इसका विश्लेषण आवश्यक है। जातीयता शब्द जाति समूह शब्द से बना है, जिसका अर्थ है साथ रहना या सामूहिक एकता में हिस्सेदारी करना अर्थात यह अपने लोगो के बीच एकता की ओर सकेत करता है। साम्प्रदायिकता एक आदर्श है जिसका उद्देश्य सामूहिक हित एवं खुशहाली है, लेकिन अब साम्प्रदायिक शब्द का अर्थ इस अर्थ तक ही सीमित नहीं है। समूह एवं समूह के सदस्य का अर्थ है वे लोग जिनका एक ही विश्वास एवं आस्था है। हम साम्प्रदायिक लोगो को उनके नेताओ द्वारा स्थापित सामूहिक विचारधारा पर विश्वास रखने वाले तत्वों के रूप मे परिभाषित कर सकते है। उनका विश्वास पक्का होता है। वे सम्पूर्ण समाज की अपेक्षा अपने समूह के हित मे ही सोचते है तथा मानवता एव समाज की अपेक्षा अपने समूह की जिम्मेदारी लेते हैं।

साम्प्रदायिकता एक सिद्धान्त के रूप में निम्नलिखित चरित्रों मे व्यक्त होती है।[49]

1. उनका (साम्प्रदायिको का) पूर्ण समर्पण अपने विश्वास एवं निष्ठा पर होता है, जिसमें विवेक का कोई स्थान नहीं होता है।
2. यह उस जाति से सम्बन्धित होता है, जिसके वे सदस्य होते हैं, जिसकी एकता पहचानी जाती है।
3 यह दूसरे प्रतिष्ठित नेताओ के विश्वास को परखने को अनिच्छुक होते है।
4. यह सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में इस विचार धारा द्वारा निर्देशित होते है तथा कभी कानून के दायरे से भी ऊपर उठ जाते है। अन्य स्थितियों की ओर से ऑखे बन्द कर लेते हैं और भावुक हो जाते है।

इसे रेखाचित्र के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता एक विचारधारा

क्रियायें, संविधान, कानून विरोधी, सार्वभौमिकता, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद एवं प्रजातन्त्र के विरुद्ध

स्व स्वार्थ, जातीय स्वार्थ, समाज, आर्थिक एव राजनेतिक क्षेत्र में देखना

अपने जाति समूह के स्वार्थ में सीमित

अपनी वचनबद्धता के प्रति भावुक होकर अपने मे संलग्न रहना

स्व

कुछ विश्वास एवं निहितार्थ मे दृढ रहना

दूसरी विचारधारा को न स्वीकार करना तथा विचार भी करने को तैयार न होना

समान विचारधारा वालों से विचार–विमर्श करना

इस विचारधारा एवं मानसिकता को आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र मे लागू करना

साम्प्रदायिको का कोई कार्य जो देश की अखण्डता राजनीति और क्षेत्रीयता का उल्लघन करता है एव जिसके परिणाम स्वरूप अलगाववादी आन्दोलनो को बल मिलता है, जिससे सामाजिक सिद्धान्तो एव अवसरो की समानता पर विपरीत प्रभाव पडता है। इस प्रकार यह अवाछित है तथा राष्ट्रविरोधी, धर्म निरपेक्षता विरोधी तथा समाज विरोधी है। वास्तव मे साम्प्रदायिकता स्वय की संतुष्टि या विकास के लिये होती है। जब इसका विस्तार सामाजिक उन्नति के नाम पर व्यक्तिगत होता है तो इसे कानूनी दायरे में रखना कठिन होता है और दूसरी जातियों मे विद्वेष का कारण होता है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता की अवधारणा के विवेचन के पश्चात यह आवश्यक हो जाता है कि साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दगों के बीच अन्तर को पहचाना जाय। वस्तुत· इन दोनो शब्दों का अर्थ भिन्न है, यद्यपि कि आभास होता है कि साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दंगे एक ही शब्द के पर्याय है। सामान्यत साम्प्रदायिकता साम्प्रदायिक दंगो के पहले की स्थिति है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि यह (साम्प्रदायिकता) व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष की मनः स्थिति है, जब कि दंगे इसका बाह्य विस्फोटक स्वरूप है।

साम्प्रदायिक हिसा दगो, सामूहिक हत्याओं या आतंकवाद के रूप मे नाटकीय ढग से लोगो का ध्यान आकृष्ट करती है। अपने विभिन्न रूपों मे भय तथा घृणा की भावनाओ पर आधारित साम्प्रदायिक हिंसा एक विचारधारा के रूप मे पूर्व प्रचारित साम्प्रदायिकता के तार्किक विस्तार की विकृत तथा पाशविक अभिव्यक्ति है। यही साम्प्रदायिक वैचारिकता ही वह आधार है जिससे साम्प्रदायिक तनाव एव हिसा फैलती है। साम्प्रदायिक हिंसा में राजनैतिक शक्ति तथा सामाजिक एवं धार्मिक मुद्दे भी सम्मिलित होते हैं, परन्तु साम्प्रदायिकता निश्चित रूप से एक ऐसी राजनीति का विकास है, जिसका सामाजिक मुद्दो से कोई सम्बन्ध नहीं होता।[50]

साम्प्रदायिक हिसा किसी क्षेत्र विशेष के सम्पूर्ण निवासियों को खतरे का आभास कराती है और उन्हें साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा के लिये विवश करती है। धर्म निरपेक्ष व्यक्ति भी साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा करने को विवश हो जाते हैं। साथ ही अपने जीवन एव भौतिक ससाधनो की रक्षा के लिये साम्प्रदायिक तत्वो पर आश्रित हो जाते है क्योंकि अधिकांश साम्प्रदायिक

दंगे कतिपय सामान्य धार्मिक मुद्दो जैसे—पीपल के पेड को काट देना, मस्जिद के आगे बाजा बजाना, होली पर किसी मुसलमान के ऊपर रंग फेकना, एक गाय की हत्या या किसी पूजा स्थल के अनादर मात्र से ही भडक जाते हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिसा कुल मिलाकर एक समाज की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के उत्पाद है।

साम्प्रदायिकता का स्वरूप चाहे जो हो, यह निश्चित है कि यह सामाजिक राजनीतिक बुराई समाज के विभिन्न स्तरों पर विद्यमान है। इसे व्यक्तिगत सम्बन्ध और हित से लेकर स्थानीय, संस्थागत और राष्ट्रीय राजनीति में भी किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। सामान्यतः साम्प्रदायिक दंगों को साम्प्रदायिक राजनीति का परिणाम माना जाता है। प्रायः साम्प्रदायिक दगें छिटपुट होते है जिसमे निम्न वर्ग के लोगो की भागीदारी अधिक होती है। जातीय दगो की स्थिति मे उच्चवर्ग का नियत्रण गरीबों पर नहीं होता बल्कि जातीय नेता, जो आवश्यक नही कि उच्चवर्ग से सम्बन्धित हो नेतृत्व करते है। वे जाति के सामूहिक हित से प्रभावित होते है न कि जाति के अमीर वर्ग के हितों से। नेतृत्व बाध्यकारी नही होता और न ही बदला जा सकता है। यह स्वेच्छा से उभरता है और सामूहिक हितो के बारे मे सोचता है। यह अनुमान कि जातीय सघर्ष उच्च वर्ग के आपसी हितों के कारण होता है, सही नहीं है क्योकि संघर्ष निम्न जातियो के आपसी मतभेदो से भी होता है। यद्यपि कि मध्य एवं उच्चवर्गीय लोगों की प्रत्यक्ष एवं सक्रिय भागीदारी दृष्टिगत नही होती, किन्तु वे सक्रिय लोगों की नैतिक एव भौतिक सहायता अवश्य करते है।

साम्प्रदायिक दगे विभिन्न धर्मावलम्बियो के बीच वैमनस्य एवं तनाव मे वृद्धि करते हैं। इसे (वैमनस्य) ऐसे क्षेत्रो मे भी देखा जा सकता है, जहॉ कि साम्प्रदायिक दंगे नही होते। साम्प्रदायिक हिंसा के फलस्वरूप उदारवादी व्यक्ति भी अस्थायी तौर पर साम्प्रदायिक विचारों का पोषण एवं समर्थन करने लगता है। इस तरह एक विषाक्त चक्र अस्थायी रूप मे ही सही, लेकिन कार्यरत हो जाता है।

साम्प्रदायिक हिंसा के मनोवैज्ञानिक प्रभावों के बारे में नेहरू ने लिखा है कि 1946 के कलकत्ते के नर सहार ने उन लोगों को भी साम्प्रदायिक मस्तिष्क वाला बना दिया, जो कभी भी इस साम्प्रदायिकता के बारे में सोचते भी नही थे।[51] इससे भी बढकर जो भावनात्मक अवशेष होता है, उसका दुरुपयोग साम्प्रदायिक विचारक अपना हित (साम्प्रदायिक हित) साधने में करते है। इस

प्रकार साम्प्रदायिक हिसा परिवर्तनशील और ऐतिहासिक घटना होती है। यह लोगो की अवधारणाओं एव इच्छाओ को निर्धारित एव परिवर्तित करने मे प्रभावकारी होती है। लोग बदल जाते है, उनकी पारस्परिक मनोवृत्ति और सोचने का ढग बदल जाता है।[52]

साम्प्रदायिक हिंसात्मक स्थिति का निर्माण कैसे होता है, इसे स्पष्ट करने के लिये अनेक सिद्धान्त हैं। प्रत्येक सिद्धान्त मानव क्रियाकलाप के किसी न किसी अंग से सम्बन्धित होता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार सघर्ष आर्थिक कारणो से होता है। आर्थिक संसाधनों के नियन्त्रण से कुंठा का निर्माण होता है। संघर्ष इनके पुनर्वितरण एवं बॅटवारे के लिये होता है।[53] सामाजिक डार्विन वादियों के अनुसार संघर्ष की विचारधारा जीव वैज्ञानिकता के साथ उत्पन्न होती है। हर्बर्ट स्पेन्सर एवं समनर के अनुसार आधुनिक उद्योगों का नेतृत्व ही समाज का सही प्रतिनिधि है।[54]

आर्थिक सोच एवं विरोधाभास ध्रुवीकरण में भिन्नता का कारण होता है, जिससे कमियो को महसूस कर उत्पन्न कुठा कई पीढियो मे सघर्ष का आधार निर्मित करती है। दगाग्रस्त क्षेत्र मे असामाजिक तत्व भी इसके कारण होते है जो दगा की स्थिति पैदा करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। विचारणीय यह है कि कुंठा दंगो के रूप मे कैसे परिवर्तित होती है।

सभी पहलुओ को दृष्टिगत रखते हुये इसका विवेचन आवश्यक है। विभिन्न शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थ सन्दर्भो मे किस प्रकार प्रयुक्त होता है, इसे निम्नलिखित ढंग से समझा जा सकता है।

1. ध्रुवता (Polarity) - ध्रुवता वह स्थिति होती है, जो एकता, अपनत्व, एवं साहचर्य का भाव लाती है जिसे लोग विशेष सन्दर्भो में अपनाते है। यह आदर्शवादिता ऐतिहासिक धार्मिक या आर्थिक प्रकृति की हो सकती है।

2 विभाजन तथ्य (Cleavage Phenomenon) - इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि क्षेत्र विशेष मे आपसी मतभेदो के कारण जनता बॅटी होती है।

3. ध्रुवीकरण—यह दो विपरीत विचार धारा के लोगों का आपसी हितों के लिये एकत्र होना है। इसमे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह मे अत्यन्त अपनत्व एवं भावुकता पैदा होती है।

4. सामूहिक प्रभाव (Cluster Effect) - एक समय विशेष मे किसी क्षेत्र विशेष मे सामूहिक रहन–सहन के कारण उत्पन्न होता है।

5 अत्यधिक निकटता (Clise Proximity) - दो भिन्न समुदाय के लोगो मे अत्यधिक नजदीक रहने से आपसी एकता होती है।

यहॉ विभाजन अन्तर सामुदायिक और गैर सामुदायिक दोनो ही प्रकार की साम्प्रदायिकता का वर्णन करता है। यह आपसी वर्ग संघर्ष को महत्व नहीं देता है चाहे वह आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक सम्बन्धों के कारण हो। अतएव यह वास्तविकता की अनदेखी करता है। किसी समस्या के एक ही पहलू पर विचार अनुचित है क्योकि हिसा अनेक पहलुओ को एक साथ लेकर होती है। जैसे यह धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक या अन्य कुछ भी हो सकती है। यह कहना व्यर्थ है कि वे एक दूसरे से भिन्न हैं। वास्तव में वे सभी एक दूसरे से सम्बन्धित है। मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक स्वय से उत्पन्न होते है। स्व का अर्थ है महत्व और व्यक्तिगत व्यवहार। चूँकि मनुष्य समाज का हिस्सा होता है। अतः इस सम्बन्ध मे व्यक्तिगत व्यवहार की विवेचना महत्वपूर्ण है।

साम्प्रदायिक दगे सामाजिक वास्तविकता जो एक दूसरे का विरोध करती है, को चित्रित करते है। इसीलिये यह आवश्यक है कि दगो के लिए वातावरण बनाने वाले तत्वों वैरभाव, सम्बन्ध, बनावट आदि की सावधानी पूर्वक विवेचना की जाय। इसके लिये व्यक्ति की मानसिक दशा एव दगो के समय की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण आवश्यक है। अत. अपने अस्तित्व को बचाने के लिये व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक स्थिति को समझना होगा। प्रजातांत्रिक व्यवस्था मे अपने अस्तित्व को बचाने मे व्यक्ति अपने को अकेला एवं असुरक्षित पाता है। व्यक्ति कमजोर होता है जबकि मजबूती भीड़ एवं समूह से प्राप्त होती है। अतः शक्ति एव सुरक्षा प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सगठित होने की प्रेरणा प्राप्त होती है, जो अन्ततः एक दूसरे समूह के प्रति हिंसा के रूप मे प्रकट होती है।

'स्व' एव 'अन्य' की विवेचना से इसे समझा जा सकता है। हिंसा किसी भी समाज में तभी सभव है जब इसे 'स्व' न समझा जाय। अत. यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि 'स्व' या 'अन्य' क्या है? जो वातावरण है उसमे 'स्व' का मूल्य क्या है? 'स्व' को विभिन्न प्रकार से समझा जा सकता है। तुच्छ 'स्व' मनुष्य को एक दूसरे से अलग करता है। यह विचार जातिवाद, धर्म, पारिवारिक

व्यवसाय, जन्म स्थान, भाषा से सम्बन्धित है। विस्तारित 'स्व' में भारतीय, एशियाई एव यूरोपीय का विचार आता है। यह विचार तब आता है जब व्यक्ति वैश्विक विचारधारा का हो जाता है।[55]

'स्व' का बढा हुआ रूप समाजीकरण है जो वातावरण से प्रतिबन्धित होता है। इस तरह व्यक्ति जाति, समूह, भाषा धर्म एवं वर्ग से प्रभावित होता है। इन सम्बन्धो मे परिस्थितियॉ एवं विचार भावनाओं को बढाते है और वाह्य स्रोतों द्वारा की गयी अपील वर्ग विशेष में निम्न स्तरीय भावना उत्पन्न करती है। यह ध्रुवीकरण की चरम स्थिति होती है। इस प्रकार पागलपन की स्थिति तक साम्प्रदायिक विचारो का निर्माण व्यक्ति में होता है। यही विचार सामूहिक रूप से सगठित प्रक्रिया का रूप होता है। जातीय नेता एव संगठन इसी विचार का ध्रुवीकरण करते है। इस प्रकार 'इस्लाम खतरे मे है' धर्म खतरे में है' का नारा देकर अपील करते है।

सामाजिक समूहो का निर्माण समाज मे प्रभाव रखने वाले विशेष ध्रुवीकृत लोगो द्वारा किया जाता है। ध्रुवीकरण एक एहसास है, जो आपसी सम्बन्ध, पहचान एवं आकर्षण से उत्पन्न होता है। विभिन्न प्रकार की ध्रुवीयता व्यक्ति के दिमाग मे बिखरे रूप में हमेशा रहती है। रोजमर्रा की बातचीत मे यह प्रकट होती है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न–भिन्न परिस्थितियो मे अपने स्वार्थ खोजता है और इस प्रकार जनसंख्या की सम्बद्धता ध्रुवीकरण से होती है।

यह ध्रुवीकरण दो प्रकार से होता है– स्थायी और अस्थायी। स्थायी ध्रुवीकरण विचारधारा, धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र, रग और लिग का होता है। इनका चरित्र ऐतिहासिक होता है। 'स्व' की भावना स्थायी ध्रुवीयता मे महत्वपूर्ण पहचान है, जो व्यक्ति मे अन्त तक रहती है। अस्थायी ध्रुवीयता, पेशा, अधिकार और कार्य के आधार पर निहित स्वार्थवश होती है। इसमे स्थायित्व नही है। यह ध्रुवीयता एकमात्र आपसी नहीं होती। यह तभी एकान्तिक होती है, जब समाज मे ध्रुवीकरण के कारण फूट पैदा होती है।

ध्रुवीकृत व्यक्ति/समूह स्वय से अलग व्यवहार पाते है। दूसरो के लिये ध्रुवीयता का कोई महत्व नहीं है क्योंकि जो स्वयं में निहित हो जाता है वह तुच्छ 'स्व' के स्तर का होता है। समूह सामान्यतया उसी ध्रुवीयता के साथ हो जाता है और वही मुख्य कारक हो जाता है। वहाँ की जनता का नजरिया बन जाता है। उत्तर प्रदेश के दंगा प्रभावित क्षेत्र मऊ, बनारस, फिरोजाबाद, मुरादाबाद, अलीगढ, सम्भल आदि में हुये दगों के पीछे धर्म, जाति एव आर्थिक स्थिति मुख्य कारण थे।

एक विशेष समाज, स्थान एवं समय में लोगों द्वारा समान ध्रुवीकरण चिन्तन का निश्चय करने पर जनसख्या का समूह ध्रुवीयता के आधार पर बनता है। ऐसे समूहों का रहना अहितकर होता है क्योकि इससे दगा भडकाने की स्थितियों का खतरा होता है। जैसे—जैसे वैयक्तिक सम्बन्धो की धारा बिगडती जाती है तनाव की स्थितियाँ प्रायः आक्रमण अपमान एवं एक दूसरे का परित्याग करने में परिणत हो जाती हैं। चूँकि लोग सामूहिक झुण्डों में रहकर एक दूसरे के अधिक समीप हो जाते है। अतः एक छोटी सी दुर्घटना का प्रभाव पूरे समुदाय पर पड़ता है। इससे एक समूह विशेष के लोगों में नजदीकी बढ़ जाती है, जो सामूहिक अव्यवस्था फैलाने में सहायक होती है। किसी भी प्रकार की वैयक्तिक उपेक्षा व्यक्ति विशेष को प्रभावित करती है। विपरीत बदतर परिस्थितियो मे ऐसे तनाव या दबाव जो समूहों के बीच पैदा होते हैं, दो दिशाओ मे कार्य करते हैं। प्रथम सामूहिक शत्रुता हेतु एकजुटता और द्वितीय बढते सम्पर्को एवं सम्बन्धो के कारण ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ऐसे तनाव सामूहिक मानसिकता एवं मनोवृत्तियों को जन्म देते हैं। जैसे ही किसी समुदाय में यह चेतना जागृत होती है तो विरोधी समुदाय प्रतिद्वन्दी बन जाता है और व्यक्ति अपना ध्रुवीय स्थान ग्रहण कर अपने—अपने समुदायो से जुड जाता है। नेतृत्व का विकास होने लगता है और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तीव्रगति से प्रारम्भ हो जाती है।[57]

आबादी के इस ध्रुवीकरण को यों परिभाषित किया जा सकता है कि भावनात्मक पहचान जो सम्बन्धों की प्रगाढ़ता से पैदा होती है किसी व्यक्ति या समूह को एक कर देती है। इसे हम इस तरह भी कह सकते है कि किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षा उसे समूह या सामूहिक व्यक्तित्व मे विकसित होने को प्रेरित करती है। एक समुदाय का ध्रुवीकरण प्रतिद्वन्दी समाज को ध्रुवीकरण हेतु प्रेरित करता है क्योकि इसे वह अपने लिये चुनौती समझता है। यही कारण है कि जब एक समुदाय द्वारा कोई साम्प्रदायिक आह्वान किया जाता है तो दूसरा समुदाय भी प्रतिक्रिया स्वरूप यही करता है। यह केवल अलगाव नही बल्कि पूरे समुदाय को विजातीय मानकर उससे अलग रहने की आत्मनिष्ठ भावना का प्रतीक है। इस अहम् तात्विक प्रवृत्ति की उत्पत्ति विभिन्न स्थितियो मे अर्जित अनुभवो के आधार पर परस्पर हितों मे टकराव के कारण और वास्तविक हिस्सेदारी, सामाजिक स्तर, प्रतिष्ठा के प्रति दिखाये गये दूसरे समुदाय द्वारा अन्याय के कारण उत्पन्न होती है।

प्रायः लोग उन समूहो मे रहना पसन्द करते हैं जिन्हे वे जानते और पहचानते हैं। किसी भी ध्रुवीकरण का आधिपत्य निम्नलिखित कारक तत्वों पर निर्भर करता है।[58]

1. समय एवं क्षेत्र – इसका सम्बन्ध विशिष्ट काल, क्षेत्र, स्थिति और परिस्थिति अर्थात भौगोलिक सीमाओं से होता है।
2. सामाजिक संरचना – वर्तमान सामाजिक संरचना और इसका मिश्रितनिर्माण एवं आपसी सम्बन्ध किसी प्रभावशाली ध्रुवीकरण को प्रभावित करता है। संरचना एक बहुजातीय, बहुधार्मिक प्रक्रिया है, जैसाकि भारत के उदारवादी प्रजातान्त्रिक ढाँचे से स्पष्ट हैं। लोग अपनी जाति, सम्प्रदाय वर्ग और सामाजिक समूहो को देखते है। इससे आबादी, समूह एवं समूहो के प्रभाव की ध्रुवीकरण प्रक्रिया को गति मिलती है।
3. शिक्षा – शिक्षा जागृति पैदा करती है, अपने हितो को समझने मे सहायक होती है और अपनी रुचि के हितों के चयन को वरीयता प्रदान करती है, यद्यपि एक अनपढ़ आदमी भी अपनी हितकारी परिस्थितियों को समझ सकता है, किन्तु शिक्षा विश्लेषण और समझदारी की क्षमता के विकास में सहायक होती है।
4 निहित आर्थिक तत्व – आर्थिक तत्व जैसे सुअवसर, असमानता और आर्थिक हितो के बीच टकराव ही लोगो मे ध्रुवीकरण की भावना जागृत करते है। इस प्रकार प्रभावशाली ध्रुवीकरण चयन एवं वरीयता की सुविधा, मानक तथा जनता द्वारा प्रदर्शित रुझान से उत्पन्न होता है।
5 राजनैतिक नेतृत्व एवं दल जनमत का ध्रुवीकरण सामुदायिक नारो, जातीय आकाक्षाओ, भावनात्मक भाषण, आश्वासन एवं नीतियो के द्वारा करते है।

कुछ ध्रुवों पर जनता का निर्णय इसलिए संभव हो पाता है कि वे समझते हैं कि ऐसा करके वे अपने हितों की सुरक्षा कर सकेगें। स्कोस्टर का कहना है कि भय और झूठ की तनावपूर्ण स्थितियो में लोगो मे एक–दूसरे के प्रति प्रगाढ इच्छा जग जाती है।

मानवीय ध्रुवीकरण का निरीक्षण एक संगठित ओर जुड़े हुये समूह को प्रदर्शित करता है। जो निम्नलिखित बिन्दुओं पर आधारित है।[59]

1 एक बहुध्रुवीय समाज मे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अंचलों मे व्यक्ति विरोधाभासी सहअस्तित्व में कमजोर दिखायी देता है।

2. व्यक्ति समझता है कि सामूहिक हितो में उसका भी हित सन्निहित है।

3. सामूहिक हित व्यक्ति के हितों में तब समाहित होता है, जब वह पूर्ण का अविभाज्य अंग होता है। यही कारण है कि स्क्रोमिस ने जिन दो विभिन्न समुदायों के व्यक्तियो की चर्चा की है, वह सामुदायिक कलह में बदल जाता है।

4. देश का कानून समूह या ध्रुवीकरण की आज्ञा देता है। यही कारण है कि कुछ राजनीति विज्ञानी साम्प्रदायिकता को धर्मनिरपेक्ष भारतीय प्रजातन्त्र का मानस पुत्र कहते हैं।

5. जब समाज सामन्तवादी और बहुलवादी होता है, तब यह सभी सामाजिक समूहो के हितों को समान अवसर प्रदान करते हुये सरक्षण प्रदान करता है। जिससे प्रतिस्पर्धा, परस्पर हितों के बीच तनाव एव कलह उत्पन्न होती है, जो कुण्ठा की स्थितियो का निर्माण करती है।

6. एक व्यक्ति द्वारा दूसरे समुदाय के किसी व्यक्ति के प्रति की गयी चोट या नुकसान दूसरे समुदाय का नुकसान समझा जाता है। इसीलिये दंगो के बीच निरपराध लोगो की हत्याये की जाती है।

7. वर्तमान घृणा, ऐतिहासिक अनुभवो और पूर्वानुमानित धारणायें सामाजिक समूहो के विरुद्ध व्यक्ति के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करती हैं, जिनके साथ अतीत के कडवे अनुभव जुड़े होते है। ऐसा ध्रुवीकरण जो गहरी घृणा पर आधारित है, जनता को कानून विहीन, गन्दी, सामाजिक उठापटक मे झोक देता है।

सामुदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया सहभागिता के विचारों एवं दृष्टिकोणो के आधार पर पैदा होती है, जो एक निश्चित लक्ष्य के पहचान के मुदे तक पहुँचती है। आम जनता इन मुद्दों को पहचान जाती है और एक सामूहिक चेतना विकसित करती है। सामूहिक चेतना अपने नये सवेगो का निर्माण करती है या नेताओ द्वारा निर्मित की जाती है। यदि ऐसे नेताओं का सम्बन्ध किन्हीं साम्प्रदायिक संगठनों से होता है तो यह भावनात्मक संवेग बडी तीव्र गति से किसी योजना के तहत बढाये जाते है। इन मुद्दों से सम्बन्धित जनता की कुण्ठा की जडें बहुत पुरानी और गहराई तक सामूहिक चेतना में फैली होती है और अपने मार्गो का निर्माण किया करती है। सामूहिक चेतना और जागरूकता

एक ध्रुवीकृत सामूहिक व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं और इस सामूहिक चेतना से जिन नेताओ का अभ्युदय होता है उनका प्रभाव इतना अधिक होता है कि ध्रुवीकरण की प्रक्रिया बलवती होकर साम्प्रदायिक दंगो के रूप मे प्रस्फुटित हो जाती है।

यह घटनात्मक सामूहिक व्यवहार अकारण ही नही पैदा होते, बल्कि इन्हें मूल्यों के तार्किक आधार पर संगठित किया जाता है। स्मेल्सर इसे इस प्रकार व्यक्त करते है कि प्रत्येक घटना की एक सीमा होती है, जिसके पश्चात दूसरी घटना उसे कार्यान्वित करती है।[60] अर्थात पहले वाली घटना आने वाली घटना के क्रियाकलापो का आधार प्रस्तुत करती है।

वी.वी. सिंह ने ध्रुवीकरण के कारक अवयवों को इस प्रकार विश्लेषित किया है—

	ध्रुवीकरण की प्रक्रिया	**अवयवीय क्रियात्मकता**
साम्प्रदायिक संगठन ध्रुवीकरण के विभिन्न स्तरो को निम्नलिखित आधारो पर गति प्रदान करते है — ◆ जनता को मुद्दों की पहचान करने में सहायता प्रदान करना, ◆ जनसम्पर्क से वैचारिक आदान—प्रदान का अवसर मुहैया कराना और नेतृत्व प्रदान करना।	◆ सामाजिक सरचना में समूहो पर आधारित झुण्ड, ◆ ध्रवो पर आधारित समूहो को प्रभावित करने वाले मुद्दों की पहचान, ◆ दूसरो से सम्पर्क स्थापित कर सामूहिक व्यक्तित्व और चेतना का विकास करना, ◆ नेतृत्व का विकास, सगठन और काल योजना के प्रति सगठित प्रयास।	◆ अविभाज्य अवयवीय तनाव एवं दबाव, ◆ निष्कर्षो पर आधारित विश्वास, ◆ कारक तत्वो की खोज ◆ कार्य योजना के प्रति प्रेरणा, ◆ सामाजिक नियत्रण की क्रियान्विति।

घनघोर प्रतिस्पर्धा का यह भावनात्मक प्रदर्शन बहुत से अन्य कारक तत्वो द्वारा उत्पन्न होता है जिसे पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण कहते है। उदाहरणार्थ — आर्थिक हित मे टकराव के कारण लोग दो अलग ध्रुवों पर संगठित हो जाते है। इसे आगे चलकर राजनैतिक हितों मे पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण समझना चाहिये। अर्थात

1 आर्थिक आधारो पर ध्रुवीकरण 2. राजनैतिक कारको के कारण ध्रुवीकरण। इस प्रकार अलग–अलग दो ध्रुवों पर विघटित होकर सगठित होने के अवसर बढ जाते है। पुनर्स्थापित ध्रुवीकरण के अन्य अनेक कारण हो सकते है।

जैसे घृणा लोगों को संगठित करने में अहम् भूमिका निभाती है। पूर्व अतीत के अनुभवो, खुलेपन के क्रिया कलाप और रिश्तो के आधार पर इस घृणा का निर्माण होता है। इस क्षेत्र में इतिहास अहम् भूमिका निभाता है। ईर्ष्या किसी व्यक्ति में द्वेष की भावना भरकर उसे अलग कर देती है और दृष्टिकोण निर्माण को प्रभावित करती है। समुदाय द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण व्यक्तियों के संगठित होने मे सहायक होकर एक सामूहिक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता करता है। ईर्ष्या का आधार पूर्व या अतीत का इतिहास होता है। समाज को इस प्रकार शिक्षित करना चाहिये कि वह अप्रिय घटनाओं की स्थितियो को समझकर ईर्ष्या एव द्वेष पर विजय प्राप्त कर सके क्योंकि पूर्व में किया गया कोई कार्य वर्तमान के क्रियाकलाप से बदला नहीं जा सकता। दूसरे के सम्पर्क मे आने पर ही ईर्ष्या द्वेष को कम किया जा सकता है। खुले सम्पर्को का सिद्धान्त जैसे– उन्हे अपनाना, सुविधा प्रदान करना ओर खुलेपन के द्वारा कारक तात्विक प्रेरणा को कम किया जा सकता है। [61]

ध्रुवीकरण का एक पक्ष अन्तर सामुदायिक ध्रुवीकरण है। किसी भी धार्मिक एवं ध्रुवीकृत समुदाय मे चाहे कितनी भी एकजुटता हो उसमे छोटे–छोटे वर्ग समुदाय या समूहो का अस्तित्व होता है। जब तक लोग किसी ध्रुवीकरण को अगीकार नही करते तब तक समुदाय एकजुटता के साथ एक रहता है, किन्तु जैसे ही उपध्रुवीकरण का प्रारम्भ होता है, तो उपसमूह मतभेदों के साथ उभर कर पहचान मे आ जाते है। इसलिये उपध्रुवीकृत समूह को सम्पूर्ण समुदाय के समक्ष वरीयता देना एक अन्तर सामुदायिक संघर्ष का स्वरूप प्रदर्शित करता है। जब तक उपध्रुवीकृत समूहो को वरीयता नही मिलती तब तक ध्रुवीकृत आधारो की आबादी संगठित एकताबद्ध और एक जुट होती है।

इनके ध्रुवीकरण का आधार क्षेत्रीय, जातीय और भाषायी हो सकता है। मुसलमानो मे शिया, सुन्नी और अहमदिया उपध्रुवीकृत समूह है और हिन्दुओं मे शैव, वैष्णव, सनातनधर्मी और वेदान्ती आदि उपध्रुवीकृत समूह है। ईसाइयों में प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक और सिखों मे मजहबी, निरंकारी एवं जाति आधारित जाट, भापे, घूदे आदि उपध्रुवीकृत समूह है। यद्यपि कि सिख और मुसलमान एक जुट समूह है, फिर भी इनमे छोटे–छोटे समूहों का अस्तित्व है।

उपसमूह की पहचान के कारक तत्व ही इनको पहचान प्रदान करते है। जैसे ही अलगाव एव अलग अस्तित्व की प्रवृत्ति पैदा होती है तो मतभेद और अलग रास्तो के कारण बहुलवाद पैदा होता है और यह अलगाव क्षेत्रीयता, जातीयता तथा भाषायी आधार पर बॅट जाता है। ऐतिहासिक उदाहरणो द्वारा इसे समझा जा सकता है। जैसे – पाकिस्तान का निर्माण धार्मिक ध्रुवीकरण के कारण और आगे पुनः पाकिस्तान का बॅटवारा एव बॉग्लादेश का निर्माण भाषायी ध्रुवीकरण के आधार पर हुआ। इसके भी आगे पख्तून अपनी क्षेत्रीय एवं सास्कृतिक स्वायत्तता के लिये पाकिस्तान के मुसलमानों से लड़ाई कर रहे है।

जैसे ही समूह से कोई छोटा समूह अलग होता है तो यह अपनी पहचान अलग छोटे ध्रुव के रूप मे करने लगता है और व्यक्ति दूसरे समूह के व्यक्तियो से अपने को भिन्न मानता है। उदाहरणार्थ जब कोई सिख अपने को निरकारी समझने लगता है या कोई मुसलमान अपने को अहमदिया समझने लगता है तो वह समुदाय के अन्य सदस्यो से भिन्न प्रतीत होता है और जब यह प्रक्रिया चल निकलती है तो बनने वाला समूह पहले के मूल समूह से बिल्कुल भिन्न होता है। अन्तर–समुदायों के मतभेद, द्वन्द और संघर्ष व्यक्तियो के विभिन्न व्यवहारों पर आधारित होते है।

एक जुटता की प्रक्रिया मतभेदों, वचित अवरोधो और हितो मे सघर्ष से प्रारम्भ होती है। ऐसी परिस्थिति में छोटे ध्रुवो पर आधारित ध्रुवीकृत आबादी बाकी समुदाय को अपना शत्रु समझती है। एक सगठित पहचान वाले समूह का अभ्युदय होता है, जिसमे अलगाव की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है। यदि ऐसा समूह शक्ति प्राप्त कर लेता है तो किसी भी सघर्ष के दबाव का सामना कर लेता है और यदि ऐसी आबादी समुदाय की एक निश्चित पहचान वाले झुण्ड मे रहती है तो दगा उत्पन्न करने वाली परिस्थितियॉ बन जाती हैं। जैसा कि लखनऊ मे शिया और सुन्नियो के दगे मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार सिखो एव निरंकारी सिखों मे दिल्ली और पजाब में तथा उत्तर प्रदेश बिहार एवं मध्यप्रदेश में सवर्ण हिन्दुओं द्वारा दलित हिन्दुओं पर आक्रमण को अन्तर सामुदायिक उपद्रव के रूप में देखा जा सकता है।

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की व्यवहारिक परिणति साम्प्रदायिक हिसा के रूप मे होती है। इसके प्रस्फुटन में अफवाहों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। इन अफवाहो के द्वारा दगा पैदा करने वाले तत्वों पर आधारित बहुध्रुवीय इलाको मे रहने वाले लोग सम्बन्धित समूह के पीडित लोगो के प्रति सहानुभूति के कारण

आन्दोलित हो जाते है। इन अफवाहो और सूचनाओ से तनाव और शत्रुता बढती है तथा दगे का खतरा पैदा हो जाता है। इन बस्तियो के क्षेत्रीय सामुदायिक संगठन और साम्प्रदायिक आधार पर आधारित राजनीतिक दल अपनी भावनात्मक संवेदनाओ की अभिव्यक्ति के द्वारा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान कर देते है।

अफवाहे वह महत्वपूर्ण हथियार हैं जिससे समाज और लोगो में तनाव ओर उत्तेजना फैलती है। अफवाह संदेह की भावना, असुरक्षा, धमकी और भय का वातावरण बनाती है। अफवाह गरम सामाजिक माहौल मे फैलती है और इसे लगातार गरम करती रहती है। ऐसी स्थिति में अफवाहों पर विश्वास हो जाता है। लोग उन पर निर्भर करने लगते है और अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते है। यह एक बहुत ही गंभीर एवं प्रभावशाली हथियार है, जो लोगो को ऊँचे दर्जे तक अमानवीय बना देती है।

अफवाहों के निम्नलिखित अंग हैं :

1. यह अंशतः मिथ्या सन्दर्भो पर आधारित बयान है।
2. यह बढा–चढ़ाकर बनाया गया चुम्बकीय बयान है।
3. यह सोद्देश्य होती है तथा किसी व्यक्ति, सगठन या समूह को भावनात्मक, मानसिक और भौतिक रूप से चोट पहुँचाती है।
4. एक संवेगात्मक लहर पैदा करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

अफवाहे यदि एक बार फैला दी जाँय, तो इन्हें नियंत्रित करना बहुत ही कठिन है क्योकि हर नया आदमी इनमे नये सन्दर्भ जोड़कर बढाता रहता है। इन्हे अधिक चुटीला ओर धारदार बनाने के लिए तथ्यो को तोड–मरोड़कर प्रस्तुत किया जाता है। अभिव्यक्ति की ये श्रृंखलायें कई गुना बढती जाती है और इन्हे गिन पाना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार अफवाहें समाज के एक विस्तृत अंचल में फैल जाती है। आपत्ति और दर्द की घनीभूत पीडा इन फैलती हुई अफवाहों के द्वारा पैदा की जाती है।

यह अफवाह उन लोगो द्वारा फैलायी जाती है जो ध्रुवीकृत जनसंख्या के बीच रहते हैं। हिंसा के प्रति अधिक संवेदनशील लोग इन घटनाओ को संदेह की दृष्टि से देखकर असुरक्षा की अफवाह फैलाते हैं। अपने अनुभवो से इसे नये तरीके से गढ़कर उत्सुकतापूर्वक लोगो के बीच फैलाते है। वे अपने आपको ध्रुवीकृत समाज का जिम्मेदार सदस्य समझते हैं, लेकिन वास्तव में गैर

जिम्मेदार ढग से अफवाहो को फैलाते है। चूँकि अफवाहो का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक संदेहो से होता है, अतः वे इसे बेहिचक स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार विस्फोटक स्थितियो का निर्माण होने लगता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जहाँ साम्प्रदायिकता व्यक्ति या समूह की मनः स्थिति है वहीं साम्प्रदायिक हिंसा इसका वाह्य विस्फोटक स्वरूप है जो कि ध्रुवीकृत समूहों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। जिसके पीछे उनके निहित स्वार्थ काम करते हैं। ऐसी स्थिति में राजनैतिक एवं धार्मिक तत्वो द्वारा मंच, सगठन, नेतृत्व एवं कार्ययोजना प्रस्तुत की जाती है। साम्प्रदायिकता का राजनीतिकरण ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तेज कर समूहीकरण को प्रोत्साहन देता है। जजबातों को भडकाकर दगे करा दिये जाते हैं। आम आदमी की सहभागिता शुरू हो जाती है और तब तक चलती रहती है जब तक कि कठोर प्रशासनिक कार्यवाही द्वारा इसे नियन्त्रित नहीं किया जाता।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता क्या है? तथा इसकी हिंसात्मक अभिव्यक्ति कैसे होती है ? के विवेचन के पश्चात इसके उदय और विकास के कारणों पर राष्ट्रीय सन्दर्भ में दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर इसके उदय एवं विकास के लिये तमाम परिस्थितियाँ उत्तरदायी थी।

औपनिवेशिक काल में जो सामाजिक—आर्थिक पृष्ठभूमि विकसित हुई, उसे सन्दर्भित किया जा सकता है। वास्तव में साम्प्रदायिकता भारतीय अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक चरित्र के लक्षणो मे से एक और उपनिवेशवाद के फलस्वरूप अवरुद्ध विकास का परिणाम है। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, अल्पविकास और आर्थिक ठहराव ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की, जिसने समाज के भीतर अत्यधिक विभाजन एवं शत्रुता के साथ ही समाज के उग्र रूपान्तरण को विकसित किया। उपनिवेशवाद के प्रभाव के सम्बन्ध मे यह बात मध्यम वर्ग पर विशेषतः सत्य थी, जो कि ईर्ष्या निराशा तथा आशकाओ से ग्रस्त था। विशेष रूप से निम्न एव मध्यम वर्ग के शिक्षित लोगो के बीच, जिनके बीच भूमि का सहारा भी नहीं था, सरकारी नौकरियाँ पाना कठिन होता जा रहा था। सुशिक्षित युवकों के लिये आर्थिक उपलब्धियो एवं सफलता के अवसर घट रहे थे।

आर्थिक मंदी की अवधि (1921—31) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह स्थिति और उभरकर सामने आयी। इसके परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग, निम्न

वर्ग और नवशिक्षित लोगो की सामाजिक, आर्थिक स्थिति और अवसरो मे विशेषत· गिरावट आती गयी। वे निरन्तर बेरोजगारी के भय से आक्रान्त रहते थे। इतना ही नही निम्न मध्यम वर्ग का चौतरफा शोषण होता था, जिसमे देशी साहूकार, व्यापारी एवं पूॅजीपति सभी सम्मिलित थे।

आर्थिक गतिरोध के कारण अत्यल्प अवसरों एवं संसाधनों के लिये मध्यमवर्गीय भारतीयो को एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करनी पडती थी। तत्कालीन परिस्थितियो में मध्यमवर्गीय मुसलमानों का सोचना था कि सरकारी नौकरियों एवं व्यवसायों में मुसलमानो का हिस्सा बढा दिया जाय तो नौकरियों एवं व्यवसायो के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा में उनकी स्थिति मजबूत रहेगी। इसीलिये मध्यमवर्गीय हिन्दुओ का विचार था कि मुसलमानों के हिस्से में वृद्धि होने से उनका हिस्सा मारा जायेगा। इस प्रकार हिन्दुओ एव मुसलमानो को एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी बनाकर खडा किया जा सकता था, जो एक दूसरे का अवसर छीनने के लिये उद्यत थे। किसी क्षेत्र में हिन्दुओं का अधिक अनुपात मे नौकरियो में होना हिन्दुओ का आर्थिक प्रभुत्व कहा जा सकता था। वहीं उन्ही नौकरियो मे मुसलमानो का हिस्सा अधिक होने पर इसे हिन्दुओ के लिये 'मुसलमानो का खतरा' कहा जा सकता था।[62]

इसी पृष्ठभूमि मे भारत में साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश शासन और उसकी नीतियो ने महती भूमिका निभाई। यद्यपि कि इस नीति की सफलता तभी सुनिश्चित हुई जब भारतीय समाज की आतरिक सास्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियो ने इसके लिये उर्वर जमीन तैयार की। इसका सभव होना केवल इस बात पर ही निर्भर नहीं था कि इससे उपनिवेशवाद की राजनीतिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो रही थी अपितु भारतीय समाज के कुछ हिस्सों की सामाजिक आवश्यकताये भी पूरी हो रहीं थीं।

ब्रिटिश प्रशासको ने किसी सम्प्रदाय विशेष या साम्प्रदायिकता का समर्थन इसलिये नही किया कि उन्हे सम्प्रदाय विशेष या साम्प्रदायिकता से लगाव था बल्कि ब्रिटिश नीति का लक्ष्य भारतीयों को विभाजित कर उनके राजनीतिकरण एवं राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया को रोकना था। हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच पनपने वाला तनाव अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध अवरोध खडा करने वाली एकता को सतत कमजोर करता रहे। यह एक योजना थी जिसे अंग्रेजों ने अपने शासन काल के दौरान सतत बनाये रखा। डी.ई. स्मिथ के विचार से ''अग्रेजो ने हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या पैदा नहीं की उन्होने इसे समय–समय पर उद्देश्यो की प्राप्ति के निमित्त समर्थन दिया।''[63] 1857 के

विद्रोह के पहले 1843 मे लार्ड एलनबरो ने कहा था –"मैं इस तथ्य को नजरअदाज नहीं कर सकता कि मुसलमान मूलतः हमारे शत्रु हैं और हमे हिन्दुओं को मिलाकर रखने की नीति अपनानी चाहिए।"[64] विद्रोह के दमन के बाद लार्ड एलफिस्टन ने कहा –"लोगो मे फूट डालो और उन पर शासन करो' ऐसा पुराने रोमन लोगो का आदर्श (डिवीडेक्ट इम्प्रा) था और यही हमारा भी आदर्श है।"[65] बाद में हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच मतभेद पैदा करने की नीति ही साम्राज्यवादी नीति बन गयी।

जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इस पर विचार करते हुये लिखा है – "अपनी योजना के विफल होने पर दूसरों की आलोचना कर उन पर आरोप लगाना आसान है .... निःसन्देह ब्रिटिश सरकार ने अतीत और वर्तमान में हममे फूट डालकर विभिन्न वर्ग पैदा करने की अपनी नीति को आधारित रखा इसकी उपेक्षा करना और इसके विरुद्ध कोई तर्क न प्रस्तुत करना, क़िसी के भी चिन्तन में एक त्रुटि है।" इस सन्दर्भ मे 1936 के लखनऊ अधिवेशन मे दिये गये उनके वक्तव्य को उद्धृत करना समीचीन है –"साम्प्रदायिक समस्या कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न हुई है, जिन्होने तीसरे पक्ष को इस बात का मौका दिया है कि वह अन्य दो पक्षो से अनुचित लाभ उठा सके।"[67] इसी बात की पुष्टि लार्ड लोथियान को 1936 में लिखे उनके पत्र से होती है– "स्पष्ट है कि कोई यह नहीं कह सकता कि भारत के विभाजन की प्रवृत्ति अन्तर्निहित नही थी और राजनीतिक सत्ता मिलने की संभावना को देखते हुये इसके बढने की आशंका थी। इस प्रवृत्ति को दबाने वाली नीति को अपनाया जा सकता था। इसे उभारना भी संभव था। सरकार ने दूसरी नीति को अपनाया और इस प्रकार देश के भीतर प्रत्येक विभाजक प्रवृत्ति को बढावा मिला।"[68]

बिपिन चन्द्र भी इस बात का समर्थन करते हैं "भारतीय समाज मे विभाजक प्रवृत्तियाँ पहले ही विद्यमान थीं और वे उत्पन्न भी की जा रही थीं। लेकिन साथ ही, एकीकरण की शक्तियाँ भी सक्रिय थीं। शासन अपनी विशाल शक्ति द्वारा या तो राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दे सकता था अथवा विभिन्न प्रकार के विभाजनों को बनाये रखकर उन्हें प्रोत्साहन दे सकता था। औपनिवेशिक शासन होने के कारण राज्य ने दूसरा मार्ग ही चुना।"[69] इसी सन्दर्भ मे रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचारो को उद्धृत किया जा सकता है, जब उन्होने 1907 में राजनीतिक नेताओं को चेतावनी दी थी –"असल चिन्ता की बात तो यह है कि मुसलमानों को हिन्दुओ के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। महत्त्वपूर्ण यह

नहीं है कि उनका इस्तेमाल कौन करता है। शैतान भीतर तभी घुस सकता है, जब उसके आने के लिये रास्ता हो।''[70] के0बी0 कृष्ण भी ब्रिटिश नीति की चर्चा साम्प्रदायिकता को विकसित करने में करते हैं —''देश की सामाजिक अर्थव्यवस्था से उत्पन्न होने वाले ये संघर्ष (भारतीय साम्प्रदायिक वर्गो एवं समूहों के भीतर) सामन्तवादी परिस्थितियो में विकसित होते पूँजीवाद के युग में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा उसकी एक के खिलाफ दूसरे को खड़ा करने की नीति द्वारा तेज होते है।''[71] ऐसी ही धारणा का समर्थन ए. आर. देसाई भी करते हैं।[72]

सामाजिक आर्थिक प्रतिस्पर्धा के चलते मध्यवर्ग भी इसमें प्रमुख भूमिका निभा रहा था। 'यही वह भूमि भी थी, जिसके चलते सरकारी नीति प्रच्छन्न वैमनस्यपूर्ण भावनाओ के साथ आसानी से खिलवाड़ कर सकी और उसके आधार पर एक पूरी राजनीतिक व्यवस्था खड़ी कर सकी।[73] इसी सन्दर्भ मे बेनी प्रसाद ने प्रत्यक्षतः यह तो नहीं कहा कि साम्प्रदायिक विचार धारा अग्रेजो द्वारा उद्भूत की गयी, किन्तु स्पष्टतः उन्होंने ब्रिटिश नीति की अर्न्तनिहित भावना को अवश्य लक्ष्य किया —''पिछले 80 वर्षो के दौरान विभिन्न घटको एवं भारतीय परिस्थिति की गौड बातो के क्रमशः समायोजन के रूप मे ब्रिटिश सरकार ने ऐसी नीतियॉ बनायी और ऐसे कार्य किये, जिनका लक्ष्य दोनो सम्प्रदायों के मतभेदो को बनाये रखना और उन पर बल देना था।''[74]

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त और उसके बाद बढ़ते हुये राष्ट्रवाद की विफलता सुनिश्चित करने हेतु औपनिवेशिक शासन ने साम्प्रदायिको को समर्थन देने की नीति को हथियार के रूप में प्रयुक्त किया। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा को औपनिवेशिक शासकों ने प्रमुख तर्क के रूप में प्रस्तुत किया — ''उपनिवेशो का कल्याण, उन्हे सभ्य बनाने का लक्ष्य, श्वेतों का बोझ इत्यादि तर्क उत्तरोत्तर रूप से अपनी विश्वसनीयता खोते जा रहे थे। उस समय साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञो, अधिकारियों एव विचारकों का कहना था कि अल्पसख्यको को बहुसंख्यकों के प्रभुत्व दमन और शोषण से बचाने के लिये आवश्यक है कि भारत पर अंग्रेजो का राज बना रहे।[75]

भारतीय राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को बाधित करने एव भारतीयों के कुछ वर्गों के बीच से अपने लिये समर्थन जुटाने के लिये औपनिवेशिक शासको ने जो दीर्घकालिक नीति अख्तियार की, उसका लक्ष्य साम्प्रदायिक राजनीति और सगठनों को प्रमुखता देना था। यही कारण था कि मुसलमानों को मिलने वाला समर्थन उसकी हिन्दू विरोधी नीति का हिस्सा न होकर राष्ट्रीयता विरोधी नीति का अंग था, क्योकि वे साम्प्रदायिकता से उद्भूत प्रशासनिक

कठिनाइयो की तुलना मे राष्ट्रवादी आन्दोलन के माध्यम से विकसित हो रही भारतीय एकीकरण की प्रक्रिया को अधिक खतरनाक मानते थे। इसकी पुष्टि 1897 मे सेक्रेटरी आफ स्टेट हेमिल्टन द्वारा वायसराय एल्गिन को लिखे पत्र से होती है – "समझ में नहीं आता किसकी कामना करें। भारतीयो के बीच विचारो एवं कर्म की एकता राजनीतिक रूप से बहुत खतरनाक होगी। वैमनस्य और टकराव प्रशासन के लिये कठिनाइयॉ उत्पन्न करते हैं। दोनों मे दूसरा विकल्प ही कम खतरनाक है। यद्यपि इसमें टकराव वाले स्थान पर उपस्थित लोगो की चिन्ता और जिम्मेदारी बढ जाती है।"[76]

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब साम्प्रदायिक घटनायें या आन्दोलन साम्राज्यवाद विरोधी रुख अख्तियार कर लेते थे, तो उन्हे नियंत्रित किया जाता था। जैसे 1897 के कलकत्ता के दंगे, 1913 का कानपुर की मस्जिद का मामला एवं 1922 का मोपला विद्रोह। इसी प्रकार 1930 के दशक का खाकसार आन्दोलन कांग्रेस विरोधी होने के साथ–साथ जब सरकार विरोधी भी होता गया तो कठोरता के साथ इसका दमन कर दिया गया। औपनिवेशिक शासन इस बात के लिये काफी सजग था कि साम्प्रदायिकता शक्तिशाली होकर सरकार विरोधी न बन जाय। इसीलिये मुस्लिम साम्प्रदायिकता को समर्थन देने की नीति अपनायी गयी, क्योकि यदि हिन्दू साम्प्रदायिकता को समर्थन दिया जाता तो विभिन्न जातियो एवं सम्प्रदायो मे विभाजित हिन्दुओ को संगठित होने का अवसर मिल जाता जो कि औपनिवेशिक शासन के प्रतिकूल होता। इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता का समर्थन उसी स्थिति मे किया जा रहा था कि आवश्यकता पडने पर उसे नियंत्रित किया जा सके।

औपनिवेशिक शासन मुसलमानों में आधुनिक राजनीति एवं राजनीतिक आन्दोलन का प्रादुर्भाव नही चाहता था। अतः बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के उत्तरार्द्ध तक नियन्त्रित साम्प्रदायिकता की यह नीति चलती रही। स्पष्टतः इस नीति का पालन वे 1857 के विद्रोह के बाद से ही कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने हमेशा सर सैय्यद अहमद खान को समर्थन दिया। बिपनचन्द्र ने इसके पीछे के मन्तव्य को स्पष्ट किया है – "उन्होंने (सैय्यद अहमद खान) उच्चवर्गीय मुसलमानों को किसी भी प्रकार की आधुनिक राजनीति और राजनीतिक आन्दोलन से अलग रखा और सरकारी सरक्षण का सहारा लेने की नीति अपनायी।"[77]

सैयद अहमद खान ने जब 1893 मे "मोहम्मडन ऍग्लों ओरियन्टल डिफेन्स एसोसिएशन" की स्थापना की तो इसमे यह निश्चित किया गया कि

यह मुसलमानो के बीच राजनीतिक जन आन्दोलन को प्रोत्साहित नही करेगी। साथ ही काग्रेस का विरोध और मुस्लिम हितो की रक्षा करेगी। यह न तो कोई राजनीतिक सभाये करेगी और न ही अन्य मुस्लिम संगठनो से सम्बद्ध होगी। इसका एक लक्ष्य युवा मुस्लिम बुद्धिजीवियो मे राजनीतिकरण की प्रवृत्ति को नियमित भी करना था।[78] इसी सन्दर्भ मे फ्रांसिस राबिन्सन इस निष्कर्ष पर बल देते हैं– "सरकारी नीति के जरिये सैयद अहमद खान को उनके समुदाय के हिमायती के दर्जे तक उठाया गया और अलीगढ कालेज को वित्तीय एवं राजनीतिक समर्थन दिया गया, क्योंकि वह सरकार की राजनीतिक नियंत्रण की योजना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था।"[79] इसी प्रकार बंगाल मे सर सलीमुल्लाह को नवाब बहादुर का वंशानुगत खिताब दिया गया। जिससे कि वे पारम्परिक शासक के प्रभामंडल से मंडित होकर बंगाली मुसलमानों के नेता के रूप में उभर सकें।

इसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भी ब्रिटिश शासन ने मुसलमानों को अलग करने की नीति अपनायी, जब उसने सैयद अहमद द्वारा स्थापित ऍग्लो ओरियन्टल कालेज अलीगढ़ के प्रिन्सीपल के रूप में अग्रेज प्रोफेसर थियोडोर बेक की नियुक्ति की। यह सस्था आगे चलकर मुसलमानों के सबसे बडे दार्शनिक एवं राजनैतिक केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुई। प्रो. बेक को हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच गहरी खाई खोदने में सफलता मिली। सर जॉन स्ट्रेची द्वारा बेक का मूल्यांकन उन अग्रेजों में किया गया जो दूर देश में अंग्रेजी साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया मे संलग्न रहे।[80] स्ट्रेची के मूल्यांकन की पुष्टि इस बात से होती है कि कालेज से निकले बौद्धिको में ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी की भावना थी– "अलीगढ कालेज मे आधुनिक मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग तैयार हुआ। इस बुद्धिजीवी वर्ग मे पाश्चात्य संस्कृति के लिये उत्साह और ब्रिटिश सरकार के प्रति राजनीतिक भक्ति की भावना कूट–कूटकर भरी हुई थी। मुसलमानो को ब्रिटिश ताज की सुयोग्य और उपयोगी प्रजा बनाना ही कालेज का लक्ष्य था।[81]

साम्प्रदायिक मॉगो को स्वीकार करने की ब्रिटिश नीति 1906 के बाद और अधिक प्रभावकारी रूप में परिलक्षित हाती है, जब कि वायसराय मिण्टो ने आगा खान के नेतृत्व में रूढिवादी उच्चवर्गीय मुलसमानो के शिष्टमंडल का स्वागत किया। उसका माँग पत्र भारतीय समाज एवं राजनीति की साम्प्रदायिक समझ पर आधारित था। वायसराय ने वही और उसी वक्त उनमें से अधिकांश माँगो को स्वीकार करके उसके निहित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का अनुमोदन

कर दिया।[82] इस प्रकार शिष्टमडल को अपने पक्ष मे यह दावा करने में बल मिला कि वे महामहिम सम्राट की मुस्लिम प्रजा के बडे भाग का प्रतिनिधित्व करते है। वस्तुतः इसके पीछे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष छिन्न–भिन्न करने की ब्रिटिश मनोवृत्ति काम कर रही थी।

1909 के संवैधानिक कानून के निर्माण के दौरान साम्प्रदायिक मॉगो को स्वीकार की जाने की नीति अपनायी गयी। जहॉ प्रतिनिधि सरकार के लिये कांग्रेस की पचीस सालो से चली आ रही मॉग को ठुकरा दिया गया, वहीं जनसख्या के अनुपात से अधिक सीटों के आरक्षण की मुस्लिम लीग की माँग को स्वीकार कर लिया गया। बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक में खिलाफत–असहयोग आन्दोलन के कारण मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रति सरकारी नीति मे शिथिलता आयी, किन्तु हिन्दू–मुस्लिम एकता की विफलता एवं 20 के दशक मे साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के चलते अंग्रेजों को नये सिरे से इस नीति को प्रयुक्त करने का अवसर मिला। जिसे गोलमेज परिषद के लिये सदस्यो के चुनाव करने मे साम्प्रदायिक नेताओं के प्रति पक्षपात की सरकारी नीति में देखा जा सकता है।

1937 के चुनावो मे लीग के खराब प्रदर्शन के बाद, जबकि यह मुसलमानो के बहुत छोटे से भाग का प्रतिनिधित्व कर रही थी, के बावजूद ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति राजभक्त मुसलमानो को लीग में शामिल होने के लिये प्रोत्साहन देने की रही। साथ ही राष्ट्रवादी मुसलमानो को निरुत्साहित किया जाता रहा। अब अग्रेजो ने सतुलित साम्प्रदायिकता की नीति छोडकर अनियत्रित साम्प्रदायिकता की नीति अपना ली। 1937 के पश्चात साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दुओं ओर मुसलमानो के बीच विभाजन भारत मे साम्राज्यवादी सत्ता और उसकी उपस्थिति जताने का प्रमुख राजनीतिक अथवा शिष्ट साधन रह गया था, अंग्रेजो ने अपना सर्वस्व दॉव पर लगाने का फैसला कर लिया।[83] 1938 मे सेक्रेटरी आफ स्टेट जेटलैंड ने लिखा था कि "उस समय उन्हे इस बात का दृढ विश्वास होता जा रहा था कि भारत की भावी सरकार का स्वरूप निर्धारित करने में मुख्य भूमिका अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की होगी।"[84]

इस प्रकार यह नीति मुस्लिम साम्प्रदायिकता, मुस्लिम लीग और जिन्ना को सशक्त बनाने एव उन्हे काग्रेस और राष्ट्रवादी आन्दोलन के विरुद्ध प्रभावी रूप से खडी करने की थी। जिसकी अगली कडी के रूप में वायसराय लिनलिथगो के अगस्त प्रस्ताव ने लीग को निषेधाधिकार प्रदान कर दिया। वायसराय ने वादा किया कि अग्रेज भारत की शान्ति और कल्याण के लिये

अपनी वर्तमान जिम्मेदारियॉ किसी ऐसी सरकार को सौपने की बात सोच भी नही सकते जिसके सत्ताधिकार को भारत के राष्ट्रीय जीवन के बडे और सशक्त तत्व अस्वीकार करते है। न ही वे इन तत्वो को दबाने मे ऐसी सरकार के सहायक हो सकते है।[85] मार्च 1942 के क्रिप्स प्रस्ताव में प्रच्छन्न पाकिस्तान की मॉग स्वीकार करके इसी नीति की पुष्टि की गयी।

जुलाई 1946 के अत तक मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति ऐसे मुकाम पर पहुंच गयी जहॉ से वापस लौटना संभव नही था। 1945–46 के चुनावो में लीग की सफलता ने जिन्ना के इस दावे को प्रमाणित सिद्ध कर दिया कि मुस्लिम लीग मुसलमानो का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है। राजनैतिक गतिरोध को दूर करने के लिये आये कैबिनेट प्रस्तावों को न तो काग्रेस और न ही मुस्लिम लीग ने पूरी तरह स्वीकार किया। वास्तव में लीग ने 29 जुलाई 1946 के अपने बम्बई अधिवेशन मे कैबिनेट मिशन योजना पर अपनी पूर्व स्वीकृति को वापस ले लिया और 16 अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस मनाने का निश्चय किया। जिसके परिणामस्वरूप देश भर मे साम्प्रदायिक दंगे हुये। इससे हिन्दुओ एवं मुसलमानो के बीच वैमनस्य की जो भावना बढी, उसका उपयोग मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के अपने लक्ष्य प्राप्ति मे किया।

इस प्रकार औपनिवेशिक शासन द्वारा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को सरक्षण, लीग को मुसलमानों का एकमात्र प्रवक्ता मानना, पाकिस्तान की मॉग को सिद्धान्त रूप में स्वीकार लेना, तथा किसी भी राजनीतिक हल पर उसे निषेधाधिकार प्रदान करना एवं यह कहना कि भारत को तब तक स्वाधीनता नही दी जा सकती जब तक कि हिन्दू एवं मुसलमान एक नही हो जाते, एक सोची समझी नीति थी। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को खुला एव पूरा समर्थन देकर ऐसी एकता को असंभव बना दिया गया। वास्तव में विभाजन को प्रोत्साहन देकर उसकी सफलता के सारे उपाय किये जाते रहे।

प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास की तथ्यात्मक तोड–मरोड एवं अवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साम्प्रदायिक विचारधारा को प्रचारित एव प्रसारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा अतीत को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता था कि जो कुछ पूर्व मे था उसका फिर से घटना अवश्यभावी है। अतीत की घटनाओं से इस प्रकार के ऐतिहासिक मिथक गढे जाते थे जिससे वर्तमान साम्प्रदायिक राजनीति को उचित ठहराया जा सके। अतीत की व्याख्या किसी विशिष्ट साम्प्रदायिकता के अनुकूल की जाती थी। इतिहासकारों ने कुछ क्षेत्रों को रेखांकित किया है, जहॉ दोनों

समुदायो ने सकारात्मक रूप से एक दूसरे को प्रभावित किया। जैसे—वस्त्र, भोजन, सामाजिक आचरण, भाषा और मुख्य रूप से स्थापत्य कला। लेकिन ऐसा सास्कृतिक सम्मिश्रण मुख्यतः उच्च वर्ग तथा शिक्षित वर्ग तक ही सीमिति रहा है। दूसरी ओर हिन्दू एवं मुस्लिम समुदायो में सहानुभूति पूर्ण समझदारी धर्म और संस्कृति के सन्दर्भ में नहीं दिखती है। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर और सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा हुआ मानते हैं और हिन्दू मुसलमानों को कट्टरपथी तथा गन्दा मानते हैं। स्पष्टतः हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सैद्धान्तिक और सामाजिक मतभेद बने रहे, जिसके कारण एक हजार वर्षों के सजीव सम्पर्क के बावजूद इस्लाम और हिन्दू धर्म में कोई सामाजिक मिलावट सभव नही हो सकी।[86]

ये दोनों पंथ इसी प्रायद्वीप मे उद्भूत होने के बाद भी भिन्न रहे। जहॉ इस्लाम ने एक पैगम्बर एवं कुरान की व्यवस्था दी वहीं हिन्दुत्व का कोई संस्थापक नही था, बल्कि यह विश्वास पर आधारित था। जिसकी अपनी व्यवस्था वेद और पुराण के दर्शन पर आधारित थी। इस्लाम में सृष्टिकर्ता सृष्टि से अलग होता है और अपने हुक्मो द्वारा कार्यों को दबाव डालकर कराता रहा है। हिन्दू धर्म मे सृष्टि और स्रष्टा एक ही होते हैं तथा वे अविभाज्य है। ईश्वर एक सर्वव्यापक आत्मा है, जिसकी अभिव्यक्ति के बाह्य स्वरूप अगणित और अनन्त हैं।[87]

हिन्दू उस ईश्वर को अनेक रूपों में पूजते है, चाहे वह जानवर हो, पितर हो, आत्मा हो या दैवीय अवतार हो। इसके विपरीत मुसलमानो का एक ही खुदा अल्लाह है और कुरान अपने अनुयायी को किसी अन्य रूप मे पूजने से मना करता है। मूर्तियो का स्वरूप या मूर्तियॉ, चित्र या समाधिस्थ प्रतिमाये मुसलमानो के लिये वर्जित हैं। मस्जिद एक पवित्र स्थान है जहॉ अमूर्त चित्र एव अल्लाह के निन्यानबे नाम ही लिखे जाते है। मूर्तियॉ हिन्दुओ की स्वाभाविक अभिव्यक्ति की माध्यम है और हिन्दू मंदिर इस्लाम के ठीक विपरीत हैं।[88]

सह अस्तित्व की भावना से प्रेरित मेल–मिलाप एक बहुलवादी व्यवस्था में मिले हुये समूह के अस्तित्व को विलीन कर देता है। जैसा कि ग्रीक, सीथियन, पारसी और हूण यहॉ आये और यहाँ के समाज में विलीन हो गये क्योकि उनका कोई व्यवस्थित धर्म नहीं था। लेकिन ईसाई और मुस्लिम जातियॉ यहाँ तक कि जब उन्होंने आक्रमण करना बन्द कर दिया और भारत मे बस गये तो सक्रिय रहकर भारतीयों को ईसाई धर्म एव इस्लाम में परिवर्तित करने के प्रयास में संलग्न रहे।[89]

यही वे तथ्य थे जिन्होंने साम्प्रदायिकों को इस बात का अवसर दिया कि अतीत की व्याख्या को अपने स्वार्थपूर्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त करे। दोनो ही पक्षो के ऐसे लोगो द्वारा ऐतिहासिक तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया जिससे कि विभेद की खाई और चौड़ी होती गयी। विभिन्न धार्मिक समूहो, विशेषतः हिन्दू एवं मुसलमानो के सम्बन्ध मे स्थिर धारणाये, मिथक, प्रतीक और आख्यान साम्प्रदायिक विचारधारा के प्रमुख घटक थे। विभिन्न स्तरों पर दी जाने वाली इतिहास की शिक्षा समान्तर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दी जाती थी, जिससे हिन्दू–मुसलमानों के बीच दरार पड़ जाती थी और प्रतिद्वन्दी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एक–दूसरे को पुष्ट करते रहते थे। अतीत की यह व्याख्या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की पुष्टि करती थी। जैसे विशेष रूप से हिन्दू सम्प्रदायवाद की मूल संकल्पना है, उनका एक अलग जाति (नेशन) होना, उनकी एक सामान्य संस्कृति, जो उनके द्वारा इतिहास की विशिष्ट व्याख्या पर ही निर्भर करती है।[90]

विद्यालयो एव कालेजों में इतिहास की व्याख्या साम्प्रदायिक आधार पर की जाती रही। इससे जनमानस को इतने व्यापक एवं गभीर ढग से प्रभावित किया कि गंभीर राष्ट्रवादी भी जाने–अनजाने इसे स्वीकार कर लेते थे। इस सन्दर्भ में गॉधी जी ने लिखा है– "इस देश में तब तक स्थायी साम्प्रदायिक शान्ति और सद्भाव कायम नही हो सकता, जब तक कि यहॉ के स्कूल और कालेजों मे इतिहास की पाठ्य–पुस्तकों के जरिये इतिहास को तोड–मरोड़कर सिखाया जाता रहेगा"।[91] ऐसे ही दृष्टिकोण की पुनर्व्याख्या मुहम्मद अली के 'कामरेड' में लिखे कथन से होती है – "कौमी वैमनस्य की प्रबलता के लिये मुख्य रूप से इतिहास की गलत व्याख्या ही उत्तरदायी है। अतीत ने अपना मुर्दा हाथ बढ़ाकर वर्तमान को पक्षाघात का शिकार बना दिया है, राजनीति के व्यवहारिक मुद्दो के मामले में देशभक्त हिन्दू के विचार को उसकी मूर्खतापूर्ण किन्तु बिल्कुल सही शिकायत प्रभावित कर देती है। मुसलमान भी उतने ही मूर्खतापूर्ण ढग से यह सोचकर क्षुब्ध होता है कि उसकी ताकत, आन–बान और बादशाहत छिन गयी।"[92]

इतिहास के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को विस्तृत फलक देने में पाठ्यपुस्तको के अतिरिक्त कविता, नाटक, ऐतिहासिक उपन्यासों, पत्रिकाओं एवं परचों ने कल्पनारंजित होने के बावजूद जनमानस में प्रामाणिक इतिहास की जगह बना ली। इसका अनुमान वी.डी. सावरकर, एम.एस. गोलवरकर, जेड.ए.सुलेरी, एफ. के. खान दुर्रानी एवं ऐसे ही अन्य साम्प्रदायिक विचारधारा वाले लेखक एव नेताओं के लेखन तथा भाषणो के आधार पर लगाया जा सकता है।

सम्प्रदायवादियो ने अतीत को इस प्रकार प्रस्तुत किया, जिससे कि उनके अनुयाइयो मे भय, असुरक्षा और अलगाव की भावना भडक सके। इस प्रकार साम्प्रदायिक इतिहास ने साम्प्रदायिकता के संवर्द्धन के साथ ही इतिहास लेखन और शिक्षा मे 'मिथक निर्माण' को भी प्रोत्साहन दिया। इसी 'मिथक निर्माण' ने मध्ययुगीन भारतीय इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की कहानी के रूप में प्रस्तुत किया। इस सन्दर्भ मे 1940 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में दिये गये मु. अली जिन्ना के भाषण को उद्धृत किया जाना समीचीन होगा — "पिछले बारह सौ सालों के इतिहास में एकता नहीं हो सकी है और यह तथ्य इस बात का गवाह रहा है कि इस दौरान भारत हमेशा हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत मे बँटा रहा है।"[93] दूसरी ओर वी.डी. सावरकर ने दावा किया— "जिस दिन महमूद गजनी ने सिन्धु नदी पार की, उसी दिन से जिन्दगी और मौत की लडाई शुरू हो गयी। जिसका अन्त अब्दाली के साथ हुआ।" उन्होंने पुनः कहा— "दिनों-दिन, दशको-दशक और शताब्दियो से यह जघन्य सघर्ष चला आ रहा है, और हिन्दुत्व एवं हिन्दुओं की सांस्कृतिक एकता के लिये युद्ध के सैकडो मैदानों में लडाइयॉ लडी जाती रही।"[94] यही कारण है कि आज भी इन साम्प्रदायिक लोगों के उत्तराधिकारी उस युद्ध के सातत्य को बनाये हुये है।

1939 मे गोलवरकर ने राष्ट्रवादियों की इस बात के लिए आलोचना की कि वे ऐसी धारणा फैला रहे है, "जिससे हिन्दू अपने पुराने आक्रामको एवं शत्रुओ के साथ अपने आपको एक ही वर्ग मे समझने लगे है— सब जानते है इस विष का क्या प्रभाव हुआ है। हम यह मानने लगे है कि हमारे शत्रु हमारे मित्र है और हम अपने ही हाथो से सच्ची राष्ट्रीयता को क्षति पहुँचा रहे है।"[95] वी.डी. सावरकर ने 1937 में कहा कि "ठोस तथ्य तो यह है कि तथाकथित साम्प्रदायिक समस्याये तो हमें, हिन्दू-मुसलमानों के बीच सदियो से चले आ रहे सास्कृतिक, धार्मिक और कौमी वैमनस्य के फलस्वरूप विरासत मे मिली है।"[96]

इस ऐतिहासिक वैमनस्य के सिद्धान्त को आधार बनाकर दोनों पक्षो के सम्प्रदायवादियों द्वारा जो समाधान प्रस्तुत किया जाता रहा है, उससे साम्प्रदायिकता न केवल मजबूत होती गयी, अपितु दो राष्ट्र का सिद्धान्त भी पुष्ट होता गया। जहॉ एक ओर वी.डी. सावरकर एवं एम.एस. गोलवरकर ने राष्ट्रीयता की व्याख्या इस आधार पर की कि न केवल मुसलमान अपितु ईसाई, यहूदी और पारसी भी उसकी परिधि से बाहर रहे। उन्होंने गैर हिन्दुओ को सावधान किया— "विदेशी तत्वो के लिए केवल दो ही रास्ते हैं, या तो वे राष्ट्रीय

कौम में घुल—मिल जाये और उसकी सस्कृति अपना ले या राष्ट्रीय कौम की दया पर निर्भर रहे।"[97] दूसरी ओर जिन्ना ने यह दावा किया कि "मुसलमानो को एक अलग दुनिया में, अलग समाज, अलग दर्शन और आस्था मे रहते हुये हजार साल से ज्यादा वक्त हो गया।"[98] इसी बात की पुष्टि करते हुए मोइन शाकिर ने लिखा— "भारत में लगभग बारह सदियों से पाकिस्तान रहा है।"[99]

इस प्रकार दोनों ही पक्षो द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्याओं से कटुतापूर्ण विषाक्त वातावरण की सृष्टि होती थी। जिससे जनमानस एक—दूसरे के प्रति शंकालु एवं आशंकाग्रस्त होता गया। क्योंकि इन व्याख्याओं से जो निष्कर्ष निकलते थे वे दोनों समुदायों को परस्पर शत्रु के रूप मे चित्रित करते थे। 1939 में अपनी ऐतिहासिक व्याख्या के अनुरूप निष्कर्ष निकालते हुये गोलवरकर ने लिखा था— "हिन्दुस्तान में रहने वाले गैर हिन्दुओं को चाहिये कि वे हिन्दू संस्कृति एवं भाषा को अपना ले। हिन्दू जाति और सस्कृति के गौरव के अतिरिक्त और कोई बात मन मे न लाये ....एक शब्द मे कहे तो विदेशी बनकर न रहे .... उन्हे कोई विशेषाधिकार नही मिलेगा। वरीयतापूर्ण व्यवहार की तो आशा करना ही व्यर्थ है। यहॉ तक कि आम नागरिक के अधिकार भी नहीं।"[100]

दूसरी ओर बीसवी शताब्दी के आरंभ से ही मुस्लिम सम्प्रदायवादी इस धारणा को प्रचलित करने में लगे थे कि मुसलमान भारत मे शासक या प्रभुत्वशाली समूह के सदस्य थे। 1941 के लाहौर के विद्यार्थियो को सम्बोधित करते हुये मुहम्मद अली जिन्ना ने कहा था — "हमारी मॉग हिन्दुओ से नहीं है, क्योकि सारा हिन्दुस्तान तो कभी हिन्दुओ के पास रहा ही नहीं। मुसलमानों ने ही सारे हिन्दुस्तान पर कब्जा करके सात सौ साल उस पर राज किया। अग्रेजों ने हिन्दुस्तान मुसलमानो से लिया था।"[101] जेड.ए सुलेरी ने तो इससे भी आगे बढकर कहा — "हिन्दुस्तान हिन्दुओ का नहीं हो सकता, क्योकि उन्हे तो एक हजार साल पहले ही जीत लिया गया था।"[102] जबकि हिन्दू प्रवक्ताओं ने हिन्दुओ की स्वाभाविकता के दावे विभिन्न तरह से अपने समुदाय और परम्परा के बारे में किये है। उनका मानना है कि पूरी दुनिया में इतनी स्वाभाविक सीमाये कहीं नहीं है— "दुनिया में ऐसा कोई अन्य भू—भाग नही जिसे स्वय प्रकृति भारत (वर्मा को निकाल कर) से ज्यादा एक राष्ट्र का रूप देती हो।"[103] इनके मुताबिक हिन्दू और हिन्दुस्तान नामो से ही स्पष्ट है कि इस भू—भाग के मूल और स्वाभाविक निवासी हिन्दू ही हैं और हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय पहचान मे भ्रम की गुंजाइश ही नही है— "अति प्राचीन काल से रह रहा हिन्दू समाज यहॉ

का राष्ट्रीय (और स्वाभाविक) समाज है .... उसी जनता ने इस देश के जीवन, मूल्य, आदर्श और संस्कृति का निर्माण किया है, इसलिये उनका राष्ट्रत्व स्वय सिद्ध है।''[104] आगे निःसन्देह हम हिन्दू इस धरती पर निर्विवाद और बिना किसी व्यवधान के आठ या दस हजार वर्षों तक काबिज रहे है, जब तक कि किसी विदेशी जाति ने इस पर आक्रमण नहीं कर दिया।[105]

हिन्दू आख्यान के अनुसार इतिहास के आरम्भ से ही राष्ट्रीय एकता की भावना ने हिन्दू इतिहास का पथ—प्रदर्शन किया है। गोलवरकर के अनुसार — ''इतिहास के पहले पन्ने पर ही हमें प्रगतिशील और बेहद सभ्य राष्ट्र के रूप मे दर्ज किया गया है।''[106] इसी लिए वे पूर्व स्थिति प्राप्त करने के लिये एक अन्य अवसर पर कहते है— ''हिन्दुओं की नस्ली भावना जाग रही है। शेर मरा नहीं था, बस सो रहा था। वह अपने को फिर से जगा रहा है और दुनिया पुनर्जीवित हिन्दू राष्ट्र की शक्ति देखेगी कि किस तरह वह अपनी शक्तिशाली भुजाओ से शत्रुओं के झुण्ड को धराशायी कर देता है। वह दिन ज्यादा दूर नही जब दुनिया इसे देखकर काँप उठेगी ....? उनका तर्क है कि दुनिया ताकत की भाषा के अलावा कुछ नही समझती। सच्चा धर्म क्षात्र (योद्धा का) धर्म यानी विजय का दर्शन है। कमजोर हो चुके हिन्दुओ को अगर अपनी स्त्रियो, सम्पत्ति एव अधिकारो की रक्षा करनी है, तो उन्हे पुनः शक्तिशाली होना पड़ेगा। भय बिनु होय न प्रीति।''[107] इसलिये हिन्दुओ को चाहिये कि वे अपने साथ रह रहे दूसरे सम्प्रदाय के लोगो के मन मे पहले भय पैदा करें, तभी सच्चा प्रेम पैदा होगा।

जहॉ मुस्लिम साम्प्रदायिको ने इस धारणा को प्रचलित किया कि वे शासक वर्ग के सदस्य रहे थे। वहीं कतिपय आधुनिक शोधो से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। 1936 मे सी.मैशर्ट ने लिखा— ''हिन्दू एवं मुसलमानों की यह पुरानी दुश्मनी आज भी बनी हुई है। भारत के लगभग सभी प्रान्तों में हिन्दुओ की सख्या मुसलमानों से ज्यादा है, फिर भी लगता है कि वे मुसलमानों से डरते है। मुस्लिम प्रभुत्व की याद करके वे ऐसा कोई खतरा नहीं उठाना चाहते जिससे मुसलमानों का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो। दूसरी तरफ मुसलमान अपने गौरवशाली अतीत को याद करते है और भविष्य के प्रति आशावान है।''[108] इसी तरह की अभिव्यक्ति कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट मे भी पायी जाती है — ''सम्प्रदायवादी मुसलमान शासकों को उत्साही धर्म योद्धा मानते थे। जिनका मुख्य लक्ष्य इस्लाम का प्रचार था। इसे प्राप्त करने का उनका तरीका था मदिरो का ध्वंस और बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करना।''[109]

साम्प्रदायिको द्वारा अपने समुदाय के शासकों की प्रशसा एव दूसरे समुदाय के शासको की निन्दा में सच्ची–झूठी कहानियो को गढा जाता था तथा उन्हें बार–बार दुहराया जाता था। मध्ययुग के शासको के चित्रण में 1938 मे इन्द्रप्रकाश ने लिखा, "विदेशी–शासन की इस अवधि में हिन्दुस्तान का इतिहास हिन्दुओं के कत्ल की, असहिष्णु कदमों की, मंदिरों को उखाडने एव तोडने की, धर्म परिवर्तन एवं विवाह की, निषेधों एवं स्वत्व हरण की नरसंहारों एवं निरंकुश शासकों की कामुकता एवं मद्यपता की दुखद कहानी रहा है।"[110] यह मुस्लिम निरंकुशता शासक वर्ग की प्रवृत्ति के रूप में नही बल्कि इस्लाम की मूल वृत्ति के रूप में चित्रित की जाती थी। मुस्लिम धर्म हत्यारे को गौरवान्वित करता है और उसे नायक के रूप में पूजता है। यह धर्म विधर्मियों की हत्या करने वाले को प्रोत्साहित करता है। इस्लाम के सिद्धांतो के अनुसार काफिर या अन्य धर्मावलम्बी की हत्या करने वाला अन्य मुसलमानों की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। इतना ही नहीं शहीद हो जाता है और उसका स्वर्ग जाने का मार्ग सुगम हो जाता है।[111]

इस धारणा की पुष्टि मे विश्वभर मे इस्लाम के प्रसार के ऐतिहासिक सन्दर्भों को उद्धृत किया जाता था। वस्तुतः तलवार के बल पर इस्लाम के प्रसार को मिथकीय रूप दे दिया जाता था। द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट मे कहा गया था– "आज प्रचलित अनेक गलतफहमियो में कटुता एव दुर्भावना उत्पन्न करने में सबसे अग्रणी धारणा यह है कि कट्टरता और असहिष्णुता इस्लाम में अन्तर्निहित होती है ..... तलवार के बल पर इस्लाम के प्रसार की धारणा का इतना व्यापक प्रचार हुआ है कि आम आदमी के मन मे इसने मुहावरे का रूप धारण कर लिया .... यही हिन्दू–मुस्लिम समस्या को और तीखा बनाता है।[112]

सम्प्रदायवादियो द्वारा अठारहवी शताब्दी मे विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध चले सघर्ष को 'हिन्दू पुनरुत्थान' के रूप मे देखा गया। मुस्लिम उत्थान की छःसौ सालों की अवधि मे भी हिन्दुओं ने अपने राष्ट्रीय गौरव और सम्मान की रक्षा के लिये प्राणपण से सघर्ष जारी रखा था।[113] अठारहवीं सदी के मध्य तक हिन्दुओ की श्रेष्ठता पुनः स्थापित हो चुकी थी। भूमि और राजनीतिक सत्ता के लिये जमीदारों, राजपूत राजाओं और मराठा सरदारो के संघर्ष को हिन्दू संघर्ष और उनके राज्यों को हिन्दू साम्राज्यो की संज्ञा दी। इतना ही नही यह भी कहा गया कि इन संघर्षो से सोती हुई हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना जागृत और सशक्त हुई।[114]

इसके बावजूद सम्प्रदायवादियो का कहना था कि हिन्दू पुनरुत्थान और मुक्ति के इस कार्य मे अग्रेजो की विजय से बाधा पडी।[115] लेकिन भारत मे अग्रेजों को विजय दिलाने मे मुसलमानो ने ही सहायता की थी।[116] इसीलिए 1938 में सावरकर ने यह आह्वान भी किया कि – "यह हिन्दुओं की वर्तमान पीढी का काम है कि वह अपने राष्ट्रीय जीवन का सूत्र उठाये .... जहाँ कि हमारे हिन्दुओं के मराठा और सिख साम्राज्यो के पतन के समय हमारे पूर्वजो ने उसे छोड़ा था।"[117]

इसकी प्रतिक्रिया में पहले शिक्षित मुसलमानों एवं बाद में मुस्लिम सम्प्रदायवादियो ने इस्लामी, अरबी और तुर्की उपलब्धियों को महिमामंडित किया। उन्होने अपने नायक, मिथक एवं सास्कृतिक परम्परायें मध्य एशिया के इतिहास में ढूढे। सैयद अहमद खान द्वार फैज (तुर्की) टोपी को लोकप्रिय बनाना इसी का प्रतीक था। इतिहास, परंपराओं, नायकों एवं मिथकों का प्रयोग भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे रहने वाले विभिन्न सस्कृतियों के और विभिन्न भाषायें बोलने वाले मुसलमानो को एक समुदाय का सदस्य होने की भावना उत्पन्न करने के लिये किया गया। कानपुर रॉयट्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया कि – "ऐसा प्रतीत होता था कि सर्व इस्लाम ने उनके समक्ष आशाओ ओर आकांक्षाओ का एक नया ही परिदृश्य खोल दिया था, जो भारतीय राष्ट्रीयता की तुलना मे उन्हे अधिक आकर्षक एवं अनुकूल प्रतीत होता था, क्योकि इस नये परिदृश्य मे उनकी कल्पना भयावह हिन्दू राज के विपरीत थी, पर्याप्त सुरक्षा पाती थी।"[118]

इस प्रकार दोनो ही पक्षो के साम्प्रदायिक लोगो द्वारा इतिहास की व्याख्या अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये की गयी। साथ ही इससे ब्रिटिश शासन के 'फूट डालो एव राज करो' की नीति को समर्थन एवं बल मिला तथा इस धारणा से उपनिवेशकालीन लेखन (ब्रिटिश एवं भारतीय) भी प्रभावित हुआ।

साम्प्रदायिक समस्या का एक पहलू धर्म एवं समाज सुधार के लिये चलाये गये नवजागरण आन्दोलन के विभिन्न वर्गो के सांस्कृतिक पक्ष मे था। मध्यवर्गीय हिन्दू बुद्धिजीवियो के बीच से उभरा राष्ट्रवाद एक महत्वपूर्ण धारा के रूप मे उच्च वर्गीय हिन्दू सस्कृति के साथ जुड गया। परिणामस्वरूप अनेक लोगो को राष्ट्रीय आन्दोलन के बडे भाग के उच्च वर्गीय सांस्कृतिक नियमो से सामजस्य बिठाने में कठिनाई हुई। यद्यपि कि सुधार और दृष्टिकोण नये होते थे, केवल उन्हे तर्कसंगत आवरण देने के लिए अतीत की ओर देखा जाता था, फिर भी अतीत मे स्वर्ण युग देखने की प्रवृत्ति ने आधुनिक विज्ञान को स्वीकार करने ओर वर्तमान को सुधारने के प्रयास मे बाधा उत्पन्न की।

इस प्रवृत्ति ने न केवल हिन्दुओं, मुसलमानो, सिखो और पारसियो को विभाजित किया, वरन निम्न एव उच्च जातीय हिन्दुओ को भी अलग करने की कोशिश की। इन सुधारको ने सांस्कृतिक विरासत के धार्मिक तथा दार्शनिक पक्षो पर एकांगी जोर दिया, यद्यपि कि ये सबके साझी विरासत नहीं थे। जबकि कला, वास्तुकला, साहित्य, संगीत, विज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्रो की अवहेलना की, जिसमें कि सभी श्रेणियो के लोगो की समान भागीदारी थी। सुधारको ने मध्यकालीन इतिहास को अवनति के युग के रूप में देखा, जबकि ऐसा करना न केवल गैर ऐतिहासिक था, अपितु सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से हानिप्रद भी था।

अतीत की नैतिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों से न तो सभी भारतीयो ने प्रेरणा ग्रहण की और न ही गौरवान्वित हुये। इससे अतीत की उपलब्धियॉ पक्षगत आधार पर अलग–अलग भागो में विभाजित होती गयी और दो पृथक कौमो की धारणा वाली प्रवृत्ति पुष्ट होती गयी। मुस्लिम मध्य वर्गों के अनेक व्यक्तियो ने अपनी परम्पराओ के लिये पश्चिम एशिया के इतिहास की ओर दृष्टिपात किया। दूसरी ओर उत्तरोत्तर हिन्दू, मुसलमान, सिख और पारसी तथा निम्न जातीय हिन्दू, जो सुधार आन्दोलनो से प्रभावित हुये, एक दूसरे से अलग होने लगे। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना के तीव्रतर उदय के साथ साम्प्रदायिक चेतना भी उद्भूत होने लगी, जिसका सकेत ए.आर. देसाई ने किया है– ''जब राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बहुवर्गीय, बहुसाम्प्रदायिक हो गया तब इन्ही धर्म सुधार आन्दोलनो मे अधिकाश राष्ट्रीय चेतना के विकास के रूप मे न होकर इसके विकास में अवरोधक का काम करने लगे। इनमें से कुछ राष्ट्रविरोधी विघटन और स्वतत्रता के सयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी सिद्ध हुये। उनकी भूमिका में यह परिवर्तन इसलिये आया कि वे राष्ट्रीय धर्म सुधार आन्दोलन न रहकर धार्मिक साम्प्रदायिक आन्दोलन मे परिवर्तित हो गये।''[119]

इन पुनरुत्थान आन्दोलनो ने मध्यकाल में आरभ हुई गंगा–जमुनी सस्कृति के विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध किया। प्रायः इन सुधार आन्दोलनों मे उन्ही पक्षों को उजागर करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, जहॉ उनमें अन्य धर्मों से भिन्नता होती थी। धर्म सुधारकों का यह प्रयास होता था कि लोग एक दूसरे के रीति–रिवाजों परम्पराओं, पर्वों एव उत्सवो मे भागीदारी करने से अलग रहे। 1939 में सुधार आन्दोलनो के इन विभाजक पक्षो की ओर गॉधी जी ने सकेत किया– ''यह बात कि हम (हिन्दू, मुसलमान) एक दूसरे से बिल्कुल अलग है, उस धारणा का स्वाभाविक परिणाम है, जो आजकल हो रहा है। यह

दोनो के बीच अन्तर पर ही बल देता है और इसने पूर्वाग्रहो, पारस्परिक सदेहों एव ईर्ष्या भाव को बढाया है।''[120]

बेनी प्रसाद ने भी साम्प्रदायिक समस्या पर ऐसी ही विवेचना की है– ''पुनरुत्थान ने इस्लाम में अर्द्ध दीक्षित लोगों मे बचे–खुचे हिन्दू आस्था विश्वासों एव रीति–रिवाजों को अलग कर दिया। दूसरी और हिन्दुओं की जिन उपजातियों ने मुसलमानों का रहन–सहन अपना लिया था, वे हिन्दू पुनरुत्थानवाद या आधुनिकता की ओर आकर्षित होने लगी। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उन रीति–रिवाजों को छोड़ने लगे जिन्हें उन्होंने एक दूसरे से लिया था और जिन्होंने दोनों सम्प्रदायों को जोडने का काम किया था। इस प्रकार जीवन एवं चिन्तन के अनेक साझे क्षेत्र सीमित हो गये और अनेक मिलन स्थल समाप्त हो गये।''[121]

इस प्रकार की पृष्ठभूमि में निरन्तर विकसित होती सामाजिक एव सास्कृतिक वैचारिकता ने साम्प्रदायिकता को विस्तृत फलक देने का काम किया, क्योंकि साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का विकास समान रूप से पूरे देश मे नही हो रहा था। राष्ट्रीय नेतृत्व नयी राष्ट्रीय और वर्गीय चेतना विकसित करने मे असफल रहा, यद्यपि कि जब साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष अपने चरम पर होता था तो साम्प्रदायिकता की धार कम हो जाती थी। किन्तु सघर्ष के धीमा पडने पर इसका पुनः उभार हो जाता था।

औपनिवेशिक राजनीति के ताने–बाने मे मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, आर.एस.एस. एवं अन्य छोटे संगठनों ने साम्प्रदायिकता को और अधिक विकसित एव प्रसारित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जैसा कि उन्नीसवी शताब्दी के आखिरी चतुर्थाश में ही रूढिवादी राजनीति का विकास दिखायी पडता है, जबकि अपने सामाजिक–आर्थिक हितो की रक्षा के लिये हिन्दू एव मुसलमान भूस्वामी एवं सरकारी अधिकारी संगठित प्रयास करने लगे थे। ऐसा ही एक प्रयास 1880 के दशकात मे सैयद अहमद खान द्वारा हुआ, जब उन्होने शिवप्रसाद, भीगा नरेश, बनारस नरेश और अन्य लोगो की सहायता से काग्रेस विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयास किया। ये संयुक्त प्रान्त के ऐसे लोग थे, जिन्हे उभरते मध्यवर्ग एवं जनतांत्रिक राष्ट्रीय आन्दोलन से न केवल खतरा महसूस हो रहा था बल्कि इनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति मे भी ह्रास हो रहा था। काग्रेस सरकारी नौकरियो के लिये प्रतियोगिता और विधायिकाओ के लिये चुनावो की मॉग कर रही थी, जबकि जागीरदारी तत्त्व चाहते थे कि इन दोनों क्षेत्रो मे नामाकन की प्रथा जारी रहे।[122]

भूस्वामी ऐसी विचारधारा की तलाश मे थे, जो उन्हे सामाजिक एव आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती। सैयद अहमद खान ने इसी स्थिति का फायदा उठाते हुये मुसलमानों को संगठित करना शुरू किया, ताकि धर्म एव सम्प्रदाय के नाम पर वे भूस्वामियों एव नौकरशाहो के रूप में अपने वर्गीय हितो की रक्षा कर सकें। इस विरोध को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध मुस्लिम–विरोध का नाम दिया गया। इस प्रकार जागीरदारी और नौकरशाही वर्ग की राजनीति के रूप में मुस्लिम साम्प्रदायिकता को विकसित होने का अवसर मिला।

इस विचारधारा को 1906 में मुस्लिम लीग के गठन से और बल मिला। इन साम्प्रदायिक तत्वो ने सरकारी नौकरियो में सम्प्रदाय के आधार पर आरक्षण और अलग–अलग चुनाव क्षेत्रो के लिये संघर्ष किया। सयुक्त प्रान्त के मुस्लिम भूस्वामियो ने नेशनल एग्रीकल्चरल पार्टियो को तोडते हुये मुस्लिम लीग की सदस्यता ले ली और उसे सक्रिय संगठन के रूप में स्थापित कर दिया। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि कृषि आन्दोलनों से उद्भूत खतरो से अपने स्वार्थो की रक्षा की जा सके। यही कारण था कि 1937 के बाद मुस्लिम लीग ने काग्रेस समर्थित भूमि सुधार सम्बन्धी प्रत्येक पहल का कडा विरोध किया। दूसरी ओर 1937 के पश्चात बडी सख्या में हिन्दू जमीदार और तालुक्केदार हिन्दू महासभा मे सम्मिलित हो गये। उन्हे महासभा के प्रति और भी आकर्षित करने के लिए इसके अध्यक्ष वी.डी. सावरकर ने जमींदारो एवं काश्तकारों के बीच किसी भी स्वार्थी सघर्ष की भर्त्सना की।[123]

इसी प्रकार पंजाब मे भी मुस्लिम लीग की निर्भरता बडे भू–स्वामियो पर थी। यद्यपि कि शुरुआती दौर मे भूस्वामी पश्चिमी केन्द्रीय पजाब मे मुसलमान, हिन्दू एव सिख भूस्वामियो को एक साथ सगठित करने वाली यूनियनिस्ट पार्टी को समर्थन देते थे। किन्तु 1937–43 के बीच साम्प्रदायिकता की देशव्यापी वृद्धि ने लीग और यूनियनिस्ट पार्टी के सम्बन्धों में और प्रगाढता ला दी और 1946 के चुनावों मे तो लीग ने उस पर प्रभावी विस्तार पा लिया। दूसरी ओर 1920 के दशक मे पजाब मे हिन्दू महासभा ने शोषक साहूकारों एवं व्यापारियो के हितों के विरुद्ध बनने वाले कृषि कानूनों का न केवल विरोध किया बल्कि हिन्दू हितों के खतरे में पडने की बात भी प्रसारित करने लगी।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे बगाल में, मुसलमान जमीदार, अभिजन एवं अन्य जागीरदारी तत्व मुस्लिम लीग मे सम्मिलित हो गये। 1937 के चुनावों मे लीग और कृषक प्रजा पार्टी के बीच चुनावों मे संघर्ष हुआ किन्तु फजलुल हक के प्रधानमंत्रित्व में लीग मत्रिमण्डल मे दोनों पार्टियो ने मिलकर काम

किया। फजलुल हक पर जमीदारो के प्रभाव वृद्धि के साथ—साथ उनका चरित्र भी साम्प्रदायिक होता गया। बगाल मे हिन्दू महासभा यद्यपि महत्वपूर्ण शक्ति नहीं थी तथापि जमींदारो के प्रभाव के चलते बडी संख्या में राष्ट्रवादियों की प्रवृत्ति कृषि सुधारों का विरोध करने की रही।

सम्प्रदायवादी आर्थिक सरचना में किसी भी लाभकारी परिवर्तन का विरोध करते थे, क्योकि इससे उनके स्वार्थो पर नकारात्मक प्रभाव पडता था। उदाहरणार्थ, हिन्दू महासभा उन भू सुधारों का विरोध करती थी, जिससे छोटे भूस्वामी लाभान्वित होते थे। ऐसा करने के पीछे बडे भूस्वामियों एवं साहूकारों का हिन्दू महासभा को मिलने वाला समर्थन था। इसी तरह मुस्लिम लीग भी सामान्यतः भूस्वामी विरोधी कदम उठाये जाने के विरुद्ध थी। उदाहरण के लिये 1938 मे कांग्रेस द्वारा रखे गये यू.पी. टेनेन्सी बिल का विरोध मुस्लिम लीग द्वारा किया गया। स्पष्टतः साम्प्रदायिक नेता उच्चवर्गीय रूढ़िवादी भावनाओ की तुष्टीकरण की नीति अख्तियार करते हुये सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों का विरोध करते थे। जिन्ना उच्च वर्गो को बार—बार यह कहकर डराया करते थे कि कांग्रेस की नीति वर्ग कटुता को जन्म देगी। उन्होने चेतावनी दी कि भूख और गरीबी की ये बाते लोगो को समाजवादी और साम्यवादी विचारों की ओर प्रेरित करेगी।[124] इसी प्रकार हिन्दू महासभा 'वर्ग सघर्ष' से समाज को बचाने की वकालत कर रही थी।[125]

हिन्दू और मुस्लिम दोनो ही साम्प्रदायिक नेतृत्व का दृष्टिकोण प्रायः जनतंत्र एवं सामाजिक समता के विचारो का विरोधी था। सैयद अहमद खान, मु. शफी और उन जैसे अन्य लोगो ने कांग्रेस मे सम्मिलित होने वाले मुसलमानों की आलोचना की और कहा कि ऐसे लोगों में कोई माद्दा नही है और वे निम्न या गरीब वर्गो के है। 'रईस' तो जो मुल्क के नेता माने जाते हैं, काग्रेस के खिलाफ ही है।[126] जनतत्र के विरुद्ध सम्प्रदायवादियों का मुख्य आरोप था कि इससे बहुसंख्यकों का शासन होगा। सामाजिक—आर्थिक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि इंग्लैड की सम्पूर्ण जनसंख्या एक ही समुदाय है किन्तु भारत के लिए बिल्कुल बेकार है। जहाँ जातिभेद अभी बने हुये है, जहॉ विभिन्न जातियों का अभी मेल नहीं हुआ है, जहॉ धार्मिक भेद अभी प्रखर है ....। यहॉ तो बड़ा समुदाय छोटे समुदाय के हितो को पूरी तरह कुचल डालेगा।"[127]

आगा खान के नेतृत्व में जो मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल 1906 में वायसराय मिण्टो से मिला था, उसके ज्ञापन में यह उल्लिखित किया गया था कि

'मुस्लिम हितो को एक ही द्वेषपूर्ण बहुमत की दया पर न छोडा जाय।'[128] अपितु इसके लिये जनतात्रिक संस्थाओं को भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाय। मुहम्मद अली जिन्ना ने इसी तर्क को उत्तरोत्तर आगे बढाया। फरवरी 1938 मे अलीगढ में उन्होने कहा– ''अल्पसख्यको की सुरक्षा के लिये प्रतिनिध्यात्मक जनतंत्र लाना इसका समाधान नही है क्योंकि बहुसख्यक तो साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ही काम करेगे। इसका एकमात्र समाधान यही है कि अल्पसंख्यकों को सत्ता में एक निश्चित हिस्सा मिले अर्थात् प्रतिनिध्यात्मक सरकार की प्रणाली से बाहर।''[129]

भारत में जनतंत्र के भविष्य पर बोलते हुये उन्होंने दावा किया कि जनतत्र का मतलब केवल यही हो सकता है कि सारे हिन्दुस्तान मे केवल हिन्दुओ का राज हो।[130] इसी कडी मे 1940 का अल्पसंख्यक समुदाय का तर्क दो राष्ट्रो के तर्क मे रूपान्तरित हो चुका था। जिन्ना का दावा था कि – ''पश्चिमी जनतंत्र भारत को कत्तई रास नही आयेगा और भारत पर इसे लादने का मतलब होगा राज्यरूपी शरीर को बीमार करना।'' इस तर्क के आधार पर उनकी मान्यता थी कि ''भारत में एक बडा और एक छोटा दो राष्ट्र (कौमें) है। इसीलिये जाहिर है कि बहुमत के सिद्धान्त पर आधारित संसदीय व्यवस्था का अर्थ निश्चित रूप से बडी कौम का शासन होगा।'' यही कारण है कि – ''काग्रेस जो कि मुख्यतः एक हिन्दू सगठन है, आरम्भ से ही भारत के लिये पूर्णतः जनतात्रिक सरकार की व्यवस्था प्राप्त करने के लिये प्रयास करती रही।''[131] इसी बात की बार–बार पुनरावृत्ति करते हुये जिन्ना ने अपने तर्क को विभाजनवादी रुख दे दिया।

दूसरी ओर ऐसा ही दृष्टिकोण हिन्दू महासभा और उसके नेतृत्व वर्ग ने अपनाया। 1938 मे भाई परमानन्द ने मॉग की कि सघीय विधायिका मे रजवाडों के प्रतिनिधियों का चुनाव नरेश ही करे। उन्होंने यह भी कहा कि नरेश हमारे अपने है, हमारे राष्ट्र शरीर के सबसे आवश्यक अंग है।[132] हिन्दू महासभा के 1940 के अधिवेशन मे सभापति पद से बोलते हुये वी.डी. सावरकर ने हिन्दू राजाओं का प्रबल समर्थन किया। उन्हे इस बात का एहसास हो रहा है कि उनका कर्तव्य न केवल हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति रखने तक सीमित है, अपितु उन्हे हिन्दू आन्दोलन का नेतृत्व भी करना है' और यह भी कि उनके वर्तमान और भावी हित सर्व हिन्दू आन्दोलन के साथ जुडे हुये है। यही नहीं उन्होंने हिन्दुओ को मुसलमानो (सम्प्रदायवादी) का अनुकरण करने के लिये प्रेरित किया। जो भारत मे स्थित चन्द मुस्लिम रियासतो के प्रति गौरव का अनुभव

करते थे और उन्हे मुसलमान शक्ति के सगठित केन्द्र के रूप मे देखते थे और यहाँ तक कि अपने नवाबो और निजामो की शक्ति और प्रतिष्ठा बढाने का भी प्रयास करते थे।[133]

इस प्रकार सम्प्रदायवादी प्रायः उपनिवेशवाद समर्थक राजभक्ति का दृष्टिकोण अपनाते थे। उन्होने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध या स्वाधीनता के लिये भी किसी प्रकार का संघर्ष या आन्दोलन नही किया, चाहे स्वाधीनता की उनकी अपनी जो भी धारणा रही हो। जब कोई आन्दोलन संगठित भी हुआ तो वह अंग्रेजो के विरुद्ध न होकर राष्ट्रवादियों एवं अन्य धर्मावलम्बियों के विरुद्ध ही रहा। उदाहरण के लिए 1939 मे मुक्ति दिवस के रूप में जो आन्दोलन हुआ वह कांग्रेस के विरुद्ध था।

इस सन्दर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि साम्प्रदायिक लोगों द्वारा उपनिवेश समर्थक राजनीति उनकी व्यक्तिगत भावनाओ का व्यवहारिक परिणाम नही था, बल्कि यह उनकी सार्वजनिक राजनीति का हिस्सा था। अधिकाश चैतन्य भारतीयो की तरह पराधीनता की शर्म एव पीडा उनमे से कई महसूस करते थे, जैसा कि 1938 के लीग के अध्यक्ष पद से बोलते हुये जिन्ना ने स्पष्टतः इन्कार किया कि लीग साम्राज्यवाद की मित्र है, बल्कि इसके पीछे के मन्तव्य को उन्होने स्पष्ट किया– "मैं कहता हूँ कि मुस्लिम लीग किसी भी शक्ति की सहयोगी होने वाली नहीं है, किन्तु आवश्यकता पडी तो वह मुसलमानो के हित में शैतान की मित्र भी बनेगी। इसका कारण यह नही है कि हमे साम्राज्यवाद से प्यार है, लेकिन राजनीति में तो शतरंज की तरह चाल चलनी पडती है।"[134]

ऐसी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति 1933 मे हिन्दू महासभा के सभापति के रूप मे भाई परमानन्द ने की– "ब्रिटिश सरकार और मुसलमानो के बीच स्पष्ट रूप से मित्रता है। हम ऐसी स्थिति में पहुॅच गये है, जहाॅ कांग्रेस और हिन्दू–मुस्लिम एकता तथा सविनय अवज्ञा द्वारा स्वराज्य–प्राप्ति के उसके सिद्धान्त के लिये कोई स्थान नही है। हिन्दुओं का भविष्य बहुत निराशापूर्ण और अंधकारमय है। मुझे लगता है यदि हिन्दुओ को नये भारत की राजनीतिक सस्थाओ में इस देश के प्रमुख समुदाय की हैसियत और उत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति प्रदान की जायेगी तो वे स्वेच्छापूर्वक ग्रेट ब्रिटेन का साथ देंगे। साम्प्रदायिकता के निचले स्तरो में राजभक्ति अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति होती थी। उदाहरण के लिये पजाब की हिन्दू यूथ लीग मे मई 1933 में कहा

गया था कि हम महसूस करते है कि वह समय आ गया है जब हिन्दुओ एवं मुसलमानों के बीच एकता उतनी आवश्यक नही है जितनी कि अग्रेजो एवं हिन्दुस्तानियों के बीच।[135]

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और ब्रिटिश शासन का सम्बन्ध अधिक जटिल था। मध्यमवर्गीय युवा स्वयंसेवकों के इस सगठन को उग्रवादी संगठन के रूप मे तैयार किया जा रहा था। राष्ट्रवादी नेताओं पर इसके प्रचारकों द्वारा लगातार विषवमन किया जा रहा था। जो कहते हैं हिन्दू–मुसलमान एकता बिना स्वराज नहीं, उन्होंने हमारे समाज के साथ बडा विश्वासघात किया है। उन्होंने एक प्राचीन और महान राष्ट्र की आत्मा का हनन करने का जघन्य पाप किया है।[136] इसके अलावा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थितियों में युवाओं को अपने प्रभाव में लाकर राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेने से रोका। उनसे कहा जाता था कि उनकी शक्ति भविष्य मे मुसलमानों के विरुद्ध प्रयुक्त की जायेगी। डी.आर गोयल के अनुसार–''युवाओ मे बढती हुई ब्रिटिश विरोधी भावनाओ को कुद करने तथा उसे मुस्लिम विरोधी दिशा में मोड़ने की नीति को देखते हुये उपनिवेशी सरकार आर.एस.एस. के प्रति कोई गंभीर कार्यवाही नहीं करती थी भले ही उसके नेता प्रशिक्षण शिविरो मे कभी–कभी दिखाने के लिये ब्रिटिश विरोधी भाषण भी देते थे, हालॉकि यहॉ भी भाषण की धार मुख्य रूप से मुसलमानो के विरुद्ध ही प्रयुक्त होती थी।[137] मार्च 1942 मे गोलवरकर ने कहा था कि– ''संघ की स्थापना केवल मुसलमानों के आक्रमण का सामना करने के लिये ही नही हुई है अपितु इस बीमारी का समूलोच्छेद करने के लिये हुई है। .. संघ भी स्वराज चाहता था किन्तु 'वह अपनी शक्ति व्यर्थ नहीं गवाना चाहता था अपितु उचित समय आने पर उसका प्रयोग करना चाहता था।[138]

साम्प्रदायिकता को आगे बढाने में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस भी अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, लेकिन जिम्मेदार रही है। 1888–89 में कांग्रेस के एक प्रस्ताव मे कहा गया था कि कोई भी ऐसा प्रस्ताव जिसका किसी धर्म विशेष के बहुसंख्यक प्रतिनिधियों द्वारा विरोध किया जाता है, वापस ले लिया जायेगा। इस तरह 1888–89 में ही कांग्रेस ने एक तरह से धार्मिक कट्टरपथियों के साथ समझौता कर लिया था। फिर 1916 में लखनऊ पैक्ट द्वारा 'पृथक निर्वाचक मडल के सिद्धान्त की स्वीकारोक्ति ऐसा ही कदम था। असहयोग के साथ खिलाफत के प्रश्न को जोडना भी भारतीय राजनीतिक एव सामाजिक जीवन मे अच्छा प्रभाव नही छोड़ पाया क्योकि असहयोग आन्दोलन के तुरन्त बाद 1922–27 के बीच भारत के अधिकाश क्षेत्रों मे साम्प्रदायिक दंगे हुये, जिससे संयुक्त प्रान्त और उसका पूर्वी हिस्सा भी अछूता नही रहा।

काग्रेस की यह मूलभूत कमजोरी रही कि वह खुद को मजबूती के साथ हिन्दू एवं मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति से पृथक नही रख सकी। काग्रेस हिन्दू महासभा एव मुस्लिम लीग दोनो ही के सदस्यो को स्वीकारती रही और साम्प्रदायिकता से सघर्ष करने की जगह विभिन्न साम्प्रदायिक दलों एव समूहो के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाती रही। इस सन्दर्भ मे कानपुर के साम्प्रदायिक दंगो की जॉच कमेटी की रिपोर्ट में उद्धृत है— "इन प्रयासो में कांग्रेस ने मध्यस्थ की भूमिका अपना रखी थी, जिसका यह तात्पर्य निकाला जा सकता था कि यह दोनों पक्षों के अतिवादी सम्प्रदायवादियो को अपने—अपने सम्प्रदाय के हितों का सच्चा प्रतिनिधि मानती थी। जितना ही अधिक वह फैसला करने के लिये उनके निकट जाती थी, उतना ही वह देश की ओर से साम्प्रदायिक मामले को निपटाने का अपना निःशक अधिकार खोती जाती थी। परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक मामलो में वास्तविक नेतृत्व के लिये खुला सघर्ष करके साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय जीवन से उखाड फेकने के स्थान पर खुद काग्रेस ने ही सम्प्रदायवादियो को अधिक महत्व और प्रतिष्ठा प्रदान कर दी।[139]

इस प्रकार साम्प्रदायिकता को विकसित करने मे अतीत के इतिहास से न केवल उद्धरण जुटाये गये बल्कि उनके लिये विद्वेषपूर्ण भाषा का उपयोग भी किया गया, जिससे जन—सामान्य में ऐसे विचारो को आसानी से लोकप्रिय बनाया जा सके। यह प्रयोग दोनो सम्प्रदायो द्वारा किया गया। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ऐसी स्थिति से औपनिवेशिक शासन का हित साधन होता था। अत· वह अपनी सुविधा एव लाभ की दृष्टि से समय—समय पर दोनो पक्षो का समर्थन भी करता था। भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करने वाली काग्रेस पार्टी इन स्थितियों पर न केवल कोई नियत्रण कर सकी बल्कि प्राय· ऐसे तत्वो के साथ उसका रुख समझौता पूर्ण हो जाता था। ऐसी स्थिति मे साम्प्रदायिकता को विकसित होने का अवसर मिलता गया।

<u>सन्दर्भ</u>

1. पाण्डेय ज्ञान, 'द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया' आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1955, पृ. 241.
2. शाकिर मोइन, 'इस्लाम इन इडियन पालिटिक्स' अजन्ता पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1983, पृ. 30.
3. पनिक्कर के.एन., कम्यूनलिज्म इन इंडिया, ए पर्सपेक्टिव फार इन्टरेक्शन, फोर्थ वी.पी. चिन्थन, मेमोरियल लेक्चर, पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, 1991.
4. ब्रास पाल आर., 'लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1974,पृ. 120.
5 ब्रास पाल आर , वही, पृ. 120.
6. ब्रास पाल आर., वही, पृ. 121.
7. स्मिथ डब्ल्यू.सी., 'माडर्न इस्लाम इन इंडिया : सोशल एनालिसिस, नई दिल्ली, 1979, पृ. 187.
8 चन्द्र बिपन, 'आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृ 1.
9. फ्रितॉग एस., रिलीजियस राइट्स एण्ड रायट्स फ्राम कम्यूनिटी आइडेन्टिटी टू कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया (1870—1940) कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी, ब्रेकले, शोध प्रबन्ध, पृ 2) ज्ञान पाण्डेय की वही पुस्तक, पृ. 2.
10 शशि जोशी भगवान जोश, 'स्ट्रगल फार हेजिमनी इन इण्डिया, कल्चर कम्युनिटी एण्ड पावर, खण्ड 3 (1841—47), नई दिल्ली, 1994 पृ. 15—20, 349.
11. नेहरू, जवाहर लाल, 'सेलेक्टेड वर्क्स' खण्ड 8, पृ. 119.
12. नेहरू, जवाहर लाल, डिस्कवरी आफ इण्डिया, लन्दन, 1951 (तृतीय संस्करण) पृ. 333.
13. नेहरू, जवाहर लाल, 'सेलेक्टेड वर्क्स' खण्ड 3 पृ. 37.
14. मॉरिसन थियोडोर, मोहम्मडन मूवमेण्ट्स (जे.कमिग द्वारा सम्पादित पोलिटिकल इडिया) लदन, 1932, ज्ञान पाण्डेय द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ. 2.
15 पाण्डेय ज्ञान, वही पुस्तक, पृ. 6.
16 पाण्डेय ज्ञान, वही पुस्तक, पृ. 2—3.

17 हार्डग्रेव राबर्ट जूनियर, इण्डिया : गवर्नमेंट एण्ड पालिटिक्स इन डेवलपिग नेशन्स, 1977.

18 चन्द्र बिपिन, वही पुस्तक, पृ. 1–2.

19. लैम्बर्ट रिचर्ड डी, 'हिन्दू कम्युनल ग्रुप्स', पार्क एवं टिकेर द्वारा सम्पादित 'लीडरशिप एण्ड पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन इन इडिया मे उद्धृत, पृ. 211.

20 मिचेल जी.डी., 'ए न्यू डिक्शनरी आफ सोशियोलाजी (सम्पा.) 1981, पृ. 31.

21. शाकिर मोइन, वही पुस्तक, पृ. 29.

22. क्रूज हेन्स, सम प्राब्लम आफ इण्डिपेन्डेन्ट इण्डिया' साउथ एशियन स्टडीज, भाग 4, नई दिल्ली, पृ. 51.

23. डुमॉण्ट लुइस, 'नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म इन रेलिजन पालिटिक्स एण्ड हिस्ट्री इन इण्डिया, पेरिस, 1970, पृ 90.

24 स्मिथ डब्ल्यू.सी., 'माडर्न मुस्लिम राइटिग इन इंगलिश' फिलिप सी.एच. के हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सीलोन मे उद्धृत, पृ. 322.

25 शाकिर मोइन, वही पुस्तक, पृ. 30.

26 स्मिथ डब्ल्यू. सी., वही पुस्तक, पृ. 46.

27. बनर्जी आशीष, कम्प्रेटिव कर्फ्यू–चेन्जिंग डाइमेन्सन्स आफ कम्युनल पालिटिक्स इन इंडिया मे, उद्धृत, दास वीना की पुस्तक (सपा) 'कम्यूनिटीज रायट्स एण्ड सर्वाइवर्स इन साउथ एशिया मे, आक्सफोर्ड पब्लिकेशन 1992, पृ. 65.

28 सिंह वी.वी., कम्युनल वायलेन्स, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1993, पृ. 76.

29. स्मेल्सर एन.जे., थियरी आफ कलेक्टिव विहेवियर, फ्री प्रेस, न्यूयार्क 1962.

30. मुखर्जी आदित्य, कलोनलिज्म एण्ड कम्यूनलिज्म, एस. गोपाल द्वारा सम्पादित द एनॉटमी आफ कन्फ्रन्टेशन द बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि इश्यू, पेंगुइन बुक्स इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 1991 मे उद्धृत

31. स्मिथ, डब्ल्यू. सी., वही पुस्तक

32 चन्द्र बिपन, वही पुस्तक, साम्प्रदायिकता क्या है अध्याय मे विस्तृत रूप से पृ 1–23.

33 मोहन्ती एम., ए डेमोक्रेटिक राइट्स पर्सपेक्टिव, लोकायन बुलेटिन, 1987, पृ 58.

34 इजीनियर, ए.ए., 'कम्यूनलिज्म इट्स फैक्ट्स एण्ड रायट्स' मेनस्ट्रीम (XXIV) जून 1986, पृ. 17.

35. वही. पृ. 17.

36. इंजीनियर ए.ए., व्हाई एण्ड हाउ आफ कम्युनल रायट्स, मेनस्ट्रीम (XIX) अक्टूबर 1980.

37. शाकिर मोइन, नोट्स आन नेशनल इण्टीग्रेशन, शाकिर मोइन एव इंजीनियर असगर अली द्वारा सम्पादित 'कम्यूनलिज्म इन इण्डिया' में, दिल्ली, 1985, पृ 54.

38. रब्बानी तबन गुलाम, न्यू डाइमेन्सन्स आफ कम्यूनलिज्म' मेनस्ट्रीम अगस्त 1981, पृ. 48.

39. शाहीन हुसैन, 'साफ्टवेयर एण्ड हार्डवेयर आफ कम्यूनलिज्म' इजीनियर एव मोइन शाकिर द्वारा सम्पादित 'कम्यूनलिज्म इन इंडिया मे, पृ 82.

40. अहमद अब्दुल, 'कम्यूनलिज्म इन कश्मीर' इजीनियर एव शाकिर की वही पुस्तक, पृ. 147.

41. दीक्षित प्रभा, 'कम्यूनलिज्म : ए स्ट्रगल फार पावर' ओरियन्ट लांगमैन, दिल्ली, 1974, पृ 1—10.

42 वही

43 बानू जैनाब, 'ए पोलिटिकल साइटिस्ट व्यू आफ कम्यूनलिज्म' इजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक पृ 80.

44. दस्तूर एलू, 'कम्यूनलिज्म ए व्यूड बाई पोलिटिकल साइटिस्ट' इंजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक, पृ. 73.

45. नायक पांडव, रिलेशनशिप बिटवीन द पोलिटिकल एण्ड कम्यूनल मेटेरियलिस्ट क्रिटीक, इंजीनियर एव शाकिर की वही पुस्तक पृ. 28.

46. कबीर हुमायूँ, माइनारिटीज इन ए डेमोक्रेसी, कलकत्ता, 1985, पृ. 6.

47. वही, पृ. 6.

48. वही, पृ. 20.

49 लोखंडवाला एस.टी., इस्लाम एण्ड कम्यूनलिज्म, इजीनियर एवं शाकिर की वही पुस्तक, पृ 106–07.

50 चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत मे विचारधारा और राजनीति, नई दिल्ली, 1997, पृ. 169.

51. चॉद, एस.एम., नेशनल लीडर्स आन कम्यूनलिज्म, जयपुर 1985, पृ. 63

52. दास सुरंजन, कम्यूनल रायट्स इन बंगाल (1905–47), आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1993, पृ. 213.

53. मार्क्स कार्ल एण्ड एजेंल्स फ्रेडरिक, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 3, फारेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, 1955, पृ. 165.

54. पाण्डेय राजेन्द्र, सोशियोलाजी आफ अण्डर डेवलपमेंट : थीसिस एण्ड क्रिटीक, मित्तल पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 1–4.

55 लॉडग्रीन हेनरी क्ले, एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलाजी, विली डस्टर्न लि., नई दिल्ली, पृ. 230.

56. धुर्ये, जी.एस., सोशल टेन्शन इन इण्डिया, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1968, पृ. 14.

57 वही, पृ. 8.

58 लांडग्रीन हेनरी क्ले, वही पुस्तक, पृ. 231.

59 कुप्पूस्वामी बी., एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलाजी, एशिया पब्लिशिग हाउस 1980, पृ. 441.

60. गार्डनर एल एण्ड इलियट ए., द हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलाजी, खण्ड IV, एमेरिन्ड पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, 1969 पृ. 556.

61. सिंह वी.वी., वही पुस्तक, पृ. 48–49.

62. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 28.

63. स्मिथ, डी.ई., इण्डिया एज सेकुलर स्टेट, 1967.

64. देसाई, ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन 1976, पृ. 317 पर उद्धृत

65. वही

66. नेहरू जवाहर लाल, एन आटोबायग्राफी, 1989, पृ. 136.

67. नेहरू जवाहर लाल, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 7 पृ. 190.

68 वही, खण्ड 6, पृ. 69–70.

69 चन्द्र विपिन, आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता, पृ. 181.

70 सरकार सुमित, द वे टू कम्यूनल हॉरमनी, यह कथन पृ. 6—7 पर उद्धृत है।

71 कृष्णा के बी., द प्राब्लम आफ माइनारिटीज, लंदन, 1939, पृ. 296.

72. देसाई ए.आर., सोशल बैकग्राउण्ड आफ इंडियन नेशनलिज्म, मैकमिलन, 1939, पृ. 362—63.

73. दत्त आर.पी., इण्डिया टुडे, बम्बई, 1949, पृ. 425.

74. प्रसाद बेनी, द हिन्दू मुस्लिम क्वेश्चन, इलाहाबाद, 1941,पृ. 163.

75. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 179.

76. गोपाल एस., ब्रिटिश पालिसी इन इण्डिया (1858—1905) नई दिल्ली, 1975 (पुनर्मुद्रित) पृ. 201.

77. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 188.

78. राबिन्सन फ्रांसिस, सेप्रेटिज्म एमंग इण्डियन मुस्लिम : द पालिटिक्स आफ द यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम 1860—1923, दिल्ली, 1975, पृ. 86.

79 वही, पृ. 349.

80 बाधवा, के.के , माइनारिटी सेफगार्ड इन इंडिया, 1975, पृ. 23—24.

81. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 318.

82. गोपाल आर., इंडियन मुस्लिम ए पोलिटिकल हिस्ट्री, (1858—1947) बम्बई, 1959 परिशिष्ट बी.

83. चन्द्र बिपिन, आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता, पृ. 131.

84. वही

85. वही, पृ. 102.

86. घोष एस.के., कम्यूनल रायट्स इन इंडिया, अनीस पब्लिशिंग हाउस, 1987, पृ. 4.

87. लैरी कालिन एण्ड लेपियर डॉमनीक, फ्रीडम एट मिडनाइट, तरग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 23.

88. वही

89. घोष एस.के., वही पुस्तक, पृ. 4.

90. सावरकर बी.डी., हिन्दुत्व, पुणे, 1949 पुनर्मुद्रित पृ. 75—77.

91 विद्यालकार एस.एन., नेशनल इण्टीग्रेशन एण्ड टीचिंग आफ हिस्ट्री, नई दिल्ली, पृ. 3.

92 अली मुहम्मद, सेलेक्टेड राइटिग्स, खण्ड 1, पृ 77.

93 जिन्ना एम.ए., स्पीचेज एण्ड राइटिग्स, खण्ड 1, पृ 161.

94 सावरकर, वी.डी , वही पुस्तक, पृ. 34—37.

95. गोलवरकर, एम.एस., वी आर आवर नेशनहुड डिफाइड, नागपुर 1947, पृ. 19.

96. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन—ए कलेक्शन आफ प्रेसीडेन्सियल स्पीचेज, बम्बई, 1949, पृ. 26.

97. गोलवरकर एम.एस., वही पुस्तक, पृ. 55—56.

98. जिन्ना एम.ए., वही पुस्तक, खण्ड 1, पृ. 230.

99. शाकिर मोइन, खिलाफत टू पाकिस्तान, नई दिल्ली, 1970, पृ. 200.

100. गोलवरकर एम.एस., वही पुस्तक, पृ 55—56.

101 जिन्ना एम.ए., वही, खण्ड 1, पृ 230.

102 सुलेरी-जेड.ए., माई लीडर, तृतीय सस्करण 1946, पृ. 229.

103. मुकर्जी आर.के., फडामेटल यूनिटी आफ इंडिया, लदन, 1914, पृ. 6.

104 गोयल डी.आर., राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, दिल्ली, 1979, पृ 40.

105. गोलवरकर एम.एस., वही पुस्तक, पृ. 49.

106. वही, पृ. 74.

107. वही, पृ. 17.

108. मैन्शडर्ट सी., हिन्दू—मुस्लिम प्राब्लम इन इण्डिया, लदन, 1936, पृ. 33.

109. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ. 68—69.

110. इन्द्र प्रकाश ए रिव्यू पृ—4, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता मे उद्धृत, पृ. 165.

111. वही

112. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ. 68—69.

113. इन्द्रप्रकाश, ए रिव्यू, पृ 6, बिपिन चन्द्र की वही पुस्तक, पृ. 169.

114. सावरकर वी.डी., हिन्दुत्व, पृ. 36—56.

115. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ. 30.

116. गोलवरकर एम.एस , वही पुस्तक, पृ. 15.

117. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ 63.

118. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी,पृ. 207—08.

119. देसाई ए.आर., वही पुस्तक, पृ. 243—44.

120. गांधी एम.के., कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 69, पृ. 280.

121. प्रसाद बेनी, वही पुस्तक,पृ. 25—26.

122. खान सैयद अहमद, राइटिंग एण्ड स्पीचेज, पृ. 209—10.

123. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ. 141—42.

124. जिन्ना एम.ए., वही पुस्तक, खण्ड 1, पृ. 28.

125. इन्द्र प्रकाश, ए रिव्यू में भाई परमानन्द का कथन, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता में उद्धृत, पृ. 68.

126. खान एस.ए., वही पुस्तक, पृ. 181, अनीता इन्दर सिंह के नेहरू एण्ड द कम्यूनल प्राब्लम (1936—39) में पृ. 19—20 पर उद्धृत।

127. वही, पृ. 156—57.

128. गोपाल आर., वही पुस्तक, पृ. 20.

129. जिन्ना एम.ए., वही खण्ड 1, पृ. 42.

130. वही, पृ. 89.

131. वही, पृ. 117—18.

132 इन्द्रप्रकाश, ए रिव्यू में भाई परमानन्द का कथन, बिपिन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता में उद्धृत, पृ. 73.

133. सावरकर वी.डी., हिन्दू राष्ट्रदर्शन, पृ. 171—72.

134. जिन्ना एम.ए., वही पुस्तक, पृ. 78.

135. नेहरू के सेलेक्टेड वर्क्स खण्ड 6 में उद्धृत, पृ. 168.

136 गोलवरकर एम.एस., बंच आफ थाट्स, पृ. 150.

137 गोयल डी.आर., वही पुस्तक, पृ. 87.

138 होम डिपार्टमेंट के सी.आईडी. की रिपोर्ट, बिपन चन्द्र के आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता मे उद्धृत, पृ. 90.

139. रिपोर्ट आफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, पृ. 227.

अध्याय 2

साम्प्रदायिक राजनीति का प्रारम्भिक स्वरूप

मोटे तौर पर इतिहासकारों ने भारत में साम्प्रदायिकता के विकास को चार चरणों में विभाजित किया है। प्रथम चरण (1880—1905) में भारत में साम्प्रदायिकता गोरक्षा आन्दोलन एवं हिन्दी—उर्दू विवाद के इर्द—गिर्द घूमती है। गोहत्या के प्रश्न पर ही 1893 में आजमगढ़ जिले में साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, जो कि हिन्दू एवं मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य को बढ़ाते हैं। इसी अवधि में सर सैयद अहमद खाँ मुसलमानों के शैक्षणिक एवं सामाजिक स्तर सुधारने के लिए अलीगढ़ अन्दोलन का सूत्रपात करते हैं, जिसने आगे चलकर साम्प्रदायिक रुख अख्तियार कर लिया ।

दूसरे चरण (1906—1918) में भारत में साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की भूमिका स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इसी के चलते एक साम्प्रदायिक संगठन अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना 1906 में होती है। इसी दौरान औपनिवेशिक शासन द्वारा भारत में मुसलमानों को राष्ट्रवाद से अलग करने के उद्देश्य से बंगाल प्रान्त का विभाजन किया जाता है और मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था 1909 के अधिनियम द्वारा होती है। 1911 में बंग—भंग को रद्द कर दिया जाता है, किन्तु पृथक निर्वाचक मंडल पर कांग्रेस अपनी स्वीकृति की मुहर लखनऊ पैक्ट (1916) के माध्यम से लगाती है। जो कि कांग्रेस के मुस्लिम तुष्टीकरण नीति का परिचायक है।

तीसरे चरण (1919—29) में खिलाफत आदोलन में कांग्रेस की सक्रिय भूमिका होती है, किन्तु असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद देश में कई स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे होते हैं। शुद्धि—संगठन एवं तबलीग —तंजीम आन्दोलन सक्रिय हो जाते हैं। इस दौरान साम्प्रदायिकता में एक नया मोड़ आता है — मो0 अली जिन्ना के चौदह सूत्री कार्यक्रम के रूप में।

साम्प्रदायिकता के विकास के अंतिम चरण में (1930—47) में मुस्लिम लीग को न केवल पुनर्जीवित किया जाता है। बल्कि इसे मुसलमानों के हितों की रक्षा करने वाले दल के रूप में कांग्रेस के समक्ष एक गंभीर चुनौती के रूप में स्थापित कर दिया जाता है। 1940 में लाहौर अधिवेशन में 'द्वि—राष्ट्र' सिद्धान्त प्रतिपादित होता है और पाकिस्तान की माँग की

जाती है। जिसकी विकृत परिणति 1946 के 16 अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस के रूप मे होती है। इस घोषणा के कारण बगाल, बिहार, सयुक्त प्रान्त दिल्ली आदि जगहो पर दगे होते है। जो कि अन्ततः पाकिस्तान निर्माण की मॉग को अंतिम रूप से पुष्ट करते है।

भारत में साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता की भावना का विकास करीब–करीब साथ–साथ होता रहा। राष्ट्रीयता की भावना ने जहॉ स्वतंत्रता संघर्ष को आगे बढाने में अपना योगदान किया, वही दूसरी ओर साम्प्रदायिकता ने देश में विघटनकारी शक्तियो को बल दिया, जिससे अन्ततः पाकिस्तान एक अलग सम्प्रभु के रूप में स्थापित हुआ। वास्तव में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत देश को राजनीतिक एकता तो दी थी लेकिन उसका आधार धार्मिक था। उन लोगों (शासको) ने अपनी ओर से यह सावधानी बरती थी कि भारत को हिन्दू, मुसलमान एवं सिख जैसे धार्मिक सम्प्रदायो मे विभक्त कर समुदाय के अभिजात वर्ग को प्रभाव में रखा जाय। ऐसे वर्गो ने न केवल अपने लाभ के लिये ब्रिटिश शासन का उपयोग किया, बल्कि समय–समय पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को मजबूती प्रदान करने मे सहायता भी की। इस वर्ग के लोगो ने ऐसे इतिहास को प्रोत्साहन दिया जिसका आधार अलगाववादी था। इन लोगों ने भारत देश की मौलिक एकता पर अपने साम्प्रदायिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के चलते कुठाराघात भी किया। ज्ञानेन्द्र पाण्डेय का यह मानना है कि इस तरह की ऐतिहासिक समझ को भारत देश की उपाश्रयी[1] जनता ने अपना समर्थन नही दिया। गहराई में जाने पर ऐसा लगता है कि मुस्लिम अलगाववाद भारत मे औपनिवेशिक नीति का दुष्परिणाम था।

साम्प्रदायिक धारणा ने इस तरह के वातावरण का निर्माण किया जिससे यह लगने लगा कि हिन्दू एव मुसलमान परस्पर विरोधी इकाइयॉ थी, जिनका विकास मध्यकाल से ही 'दो राष्ट्रों' के रूप में हो रहा था। इसके ठीक विपरीत राष्ट्रवादी धारणा थी, जिसके अनुसार भारत में हिन्दू–मुसलमान कभी पूरे सौहार्द के वातावरण में रहते थे, लेकिन यह सौहार्द अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के कारण समाप्त हो गया था। इन दोनों ही धारणाओं में देशव्यापी एकता एवं एकरूपता की मान्यता निहित है जो कि सदी के उत्तरार्द्ध में दूर संचार एवं आर्थिक सम्बन्धों के विकास के पूर्व निश्चित रूप से असभव थी।[2] यह सच है कि भारत में राष्ट्रवाद एवं हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायवाद अनिवार्यतः आधुनिक

सवृत्तियॉ है। हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच सघर्ष के उदाहरण गत शताब्दियो मे देखे जा सकते है। साथ ही शिया सुन्नी के बीच सघर्ष या जातिगत संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु 1880 के दशक के पूर्व साम्प्रदायिक दंगे नहीं के बराबर हुये थे। कूपलैण्ड जो कि साम्राज्यवादी खेमे के इतिहासकार हैं, ने 1809 मे बनारस मे हुये एक साम्प्रदायिक दगे का वर्णन किया है। जिसमे ऐसा कहा जाता है कि हिन्दुओं ने पचास मस्जिदों को नष्ट किया। इसके बाद 1871–72 में फिर साम्प्रदायिक दंगों की बात कूपलैण्ड करते है। उनका यह भी कहना है कि हिन्दू–मुस्लिम समस्या ही ब्रिटिश शासन के चलते रहने का एक महत्वपूर्ण कारण थी।[3]

सामान्यतः यह समझा जाता है कि साम्प्रदायिकता बहुत हद तक सरकारी नौकरियों एव राजनीतिक लाभ को लेकर अभिजात वर्ग के संघर्ष का परिणाम थी। लेकिन हकीकत यह है कि सम्प्रदायवाद ने बहुत पहले ही सामूहिक आयाम धारण कर लिया था, यद्यपि कि यह भी मानना पड़ेगा कि सामूहिक साम्प्रदायिकता अभिजन समूहो की गतिविधियों से पूरी तरहं अछूती नही थी। उदाहरण के तौर पर मोपला या पावना के आन्दोलनों मे सम्प्रदायवाद के संभावित पहलू विकसित नहीं हुये थे। शायद ऐसा इसलिये था कि मालाबार या बंगाल मे 1870 के दशक में विभाजनवादी बुद्धिपरक नेतृत्व का अभाव था। दूसरी ओर संयुक्त प्रान्त एवं पंजाब में जहॉ हिन्दू और मुसलमानो के अभिजन समूहो का संतुलन समान था, 1880 के दशक के बाद साम्प्रदायिक दंगे आम हो गये। संभवतः ऐसा सामाजिक आर्थिक सम्बन्धो मे समाज के दो बडे समुदायों के बीच अन्तर के कारण था। जैसे कि संयुक्त प्रान्त के अवध अलीगढ और बुलन्दशहर शहरों में हिन्दू काश्तकारो का सामना मुसलमान ताल्लुकेदारो एवं भूस्वामियों से होता था। इस प्रान्त के शहरी क्षेत्रो में मुसलमान प्रायः कारीगर, दुकानदार या छोटे व्यापारी होते थे। पंजाब मे हिन्दू व्यापारी और साहूकार मुसलमान काश्तकारों के बीच अलोकप्रिय हो गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में आर्थिक तनाव साम्प्रदायिकता की वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण था। इसी समय गोरक्षा आन्दोलन भी शुरू हुआ, जिसने साम्प्रदायिक सम्बन्धो को और कटु बनाया तथा बाद मे इसके चलते 1880 एव 1890 के दशक में साम्प्रदायिक दंगे हुये। गाय के प्रश्न को लेकर साम्प्रदायिक दंगों का यह सिलसिला 1916–17 तक चलता रहा। इस प्रश्न ने उत्तर भारत में ज्यादा साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया। 1883 से 1891 के बीच गेराल्ड बेरियर[4] ने पंजाब मे ऐसे

पन्द्रह दंगों का उल्लेख किया है। पूर्वी सयुक्त प्रान्त एव बिहार मे 1888 एव 1893 के बीच इन दंगो ने चरम रूप धारण कर लिया था। बलिया, बनारस, आजमगढ, आरा, सारन, गया और पटना जिले इनसे बुरी तरह प्रभावित हुये।

पश्चिम भारत मे भी गोरक्षा आन्दोलन का प्रसार हुआ, जब 1893 मे बम्बई के गुजराती मिल मालिक ने गोरक्षा समाज का गठन किया। पश्चिम भारत में साम्प्रदायिकता को और अधिक विकसित करने में बाल गंगाधर तिलक द्वारा सामुदायिक स्तर पर आयोजित होने वाले गणपति उत्सव महत्वपूर्ण कारण थे। गणपति उत्सवों के लिये लिखे जाने वाले गीतों में खुले आम हिन्दुओं से कहा जाता था कि वे मुहर्रम मे भाग न लें। इन गीतों में कुछ तो भडकाने वाले होते थे। जैसे– 'अल्लाह ने तुम्हे क्या वरदान दिया है कि तुम आज मुसलमान हो गये ? विदेशी धर्म से मैत्री न करो ...... गाय हमारी माता है। उसे मत भूलो।[5]

कलकत्ता के औद्योगिक उपनगरो मे भी साम्प्रदायिक दगो की पहली रिपोर्ट 1891 मे मिलती है। इसके बाद टीटागढ और गार्डन रीच मे 1896 मे बकरीद पर साम्प्रदायिक तनाव हुआ और 1897 मे उत्तर कलकत्ता मे बडे पैमाने पर दंगे हुये।

भारत मे साम्प्रदायिकता के उद्‌भव और क्रमिक विकास के अध्ययन में सर सैयद अहमद खॉ और उनकी गतिविधियो का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना साम्प्रदायिकता के उद्‌भव को ठीक से नही समझा जा सकता है। सर सैयद अहमद की पारिवारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि पर नजर डालें तो यह लगेगा कि सर्वप्रथम वे मुसलमान थे। 1857 के विद्रोह के पहले जैसा कि उनके जीवनीकार हाली ने लिखा है कि उनकी धार्मिक प्रवृत्ति बहुत महत्वपूर्ण थी।[6] अन्य मुसलमानों की तरह उन्होने भी धार्मिक विषयो पर लिखा, पैगम्बर मुहम्मद की जीवनी लिखी, सुन्नियो के पक्ष में शियाओ के विरुद्ध अपनी दलीले दीं और बहावीवाद पर अपने विचार रखे। ये सभी कृत्य उनके कट्‌टर मुसलमान होने के परिचायक थे और किसी भी तीसरे दर्जे के मौलवी द्वारा लिखे जा सकते थे।[7]

1857 के विद्रोह के बाद सैयद अहमद के धार्मिक लेखन में बदलाव आया क्योंकि वे चाहते थे कि उनके धर्मावलम्बियों और ईसाई शासको के बीच सम्बन्ध सुधरे। इसीलिये उन्होंने बाइबिल पर टिप्पणी लिखी जो कि उनके पहले के लेखन से कम कट्‌टर थी। इस टिप्पणी का

उद्देश्य मुस्लिम समाज को ईसाइयो के धार्मिक कार्यकलापो से परिचित कराना था। दूसरी ओर उन्होने मुसलमानो के पुनर्वास की भी प्रक्रिया शुरु करने का प्रयास किया। ऐसा इसलिये जरूरी था कि 1857 के विद्रोह मे मुस्लिम भागीदारी ने मुस्लिम समाज को औपनिवेशिक शासन की नजर से गिरा दिया। 1860 मे सैयद अहमद ने अपने कई इश्तहारो मे इस बात का खुलासा किया कि भारत मे जेहाद लाजिमी नही है। ब्रिटिश शासन के प्रति मुसलमानो की भक्ति दिखाने के लिये उन्होंने कई ऐसी सूचनायें इन इश्तहारो के माध्यम से दीं जो कि इस बात को सिद्ध करती थीं कि 1857 के विद्रोह के समय मुसलमान ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार थे। ऐसे इश्तहारो की संख्या तीन थी जिनका संकलन 'एन एकाउन्ट आफ द लायल मोहम्मडन्स आफ इंडिया' में मिलता है।[8]

यह सत्य है कि विद्रोह के बाद सैयद अहमद का मुख्य उद्देश्य मुसलमानों एवं सरकार के वैमनस्यपूर्ण सम्बन्धों को समाप्त करना था। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी चिन्ता उर्दू बोलने वाले अभिजात वर्ग की स्थिति से थी, जो कि औपनिवेशिक शासन की नीतियों के कारण खतरे मे थी। यहाँ यह ध्यान देना भी महत्वपूर्ण है कि उर्दू बोलने वाले मुसलमान केवल एक भाग थे, अन्य गैर मुस्लिम भी उर्दू की पढाई किया करते थे। उर्दू भाषा मुसलमानों की भाषा नहीं थी।

भारतीय समाज के सन्दर्भ मे व्याप्त भ्रान्तियों को दूर करने के लिये उन्होंने ब्रिटिश सरकार से यह आग्रह किया कि भारतीयों को विधायिका मे प्रतिनिधित्व दिया जाय, क्योंकि इसके बिना सरकार यह नही जान सकती है कि किस तरह के कानून एवं विनियम पास नहीं किये जाने चाहिये। इसके बिना वह कभी इस तथ्य से वाकिफ नही हो सकती है कि उसे भी जनता की आवाज को सुनना चाहिए।[9] दूसरी ओर आम जनता में ब्रिटिश सरकार के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति थी, उसको दूर करने के लिये उन्होने शिक्षा के ऊपर जोर दिया। उनका उद्देश्य ग्राहम के शब्दों में था– ''शिक्षा, शिक्षा, शिक्षा', 'भारत के सभी सामाजिक राजनीतिक रोग इस उपचार से दूर किये जा सकते हैं।[10]

सैयद अहमद को पूर्ण विश्वास था कि भारतीय मुसलमानो की समस्याओं का निदान शिक्षा मे ही निहित है, लेकिन वे यह निश्चित नही कर सके कि शिक्षा का स्वरूप क्या हो। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की शिक्षा

नीति का पूरी तरह विरोध किया क्योकि उनके विचार से मैकाले की शिक्षा पद्धति यहॉ के रहने वाले लोगो की धार्मिक चिन्ताओं से परे थी। मैकाले ने ब्रिटिश सरकार की शिक्षा व्यवस्था में उसकी भाषा की शिक्षा पर ध्यान नही दिया था। इसके साथ ही फिका और हदीस को भी शिक्षा व्यवस्था से निकाल दिया गया था तथा फारसी के अध्ययन की भी अवहेलना की गयी थी। सैयद अहमद के अनुसार सरकार की यह मंशा थी कि हिन्दुस्तान में जो भी धर्मावलम्बी उनके आने के समय थे, उनको नष्ट किया जाय।[11] उन्होने स्थानीय सरकार की उस नीति जिसमे देशी भाषाओं को प्रोत्साहित करना था, विरोध किया। 1859 में एक वक्तव्य[12] में उन्होने यह तर्क दिया कि ऐसी भाषाये विशेषकर उर्दू उच्च शिक्षा के लिये उपयुक्त माध्यम नही है। उन्होंने अग्रेजी भाषा को अपनाये जाने का समर्थन किया। उसी वर्ष मुरादाबाद मे उन्होने एक फारसी स्कूल की स्थापना की जो कि पारम्परिक शैली का स्कूल था। लेकिन उसमें नयी शिक्षा पद्धति के कुछ तत्वो का समावेश किया गया था। जैसे उपस्थिति पजिका, निश्चित पाठ्यक्रम एव परीक्षायें, किन्तु इसका महत्वपूर्ण पहलू आधुनिक इतिहास के अध्ययन पर जोर देना था। सैयद अहमद का यह मानना था कि यदि भारतीयो को अपने समसामयिक इतिहास के बारे में ज्ञान होता तो 1857 का विद्रोह टाला जा सकता था।[13] इस स्कूल की स्थापना मे मुरादाबाद के स्थानीय हिन्दू एव मुसलमानो ने सहयोग किया था।[14]

बाद मे सैयद अहमद द्वारा स्थापित साइन्टिफिक सोसाइटी (1864), आधुनिकतावादी उर्दू पत्रिका 'तहजीब उल अखलाक' (1870) और अलीगढ एग्लो ओरियन्टल कालेज (1875) ने पश्चिमी सयुक्त प्रान्त के उच्च वर्गीय मुसलमानो को अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित किया। सैयद अहमद ने इस्लाम को अपने ही ढंग से परिभाषित किया और स्वतंत्र खोज (इश्तिहार) तथा कुरान के दिव्य ज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान द्वारा खोजे गये प्राकृतिक नियमो के बीच तथाकथित समानताओं पर बल दिया। फिर भी अलीगढ़ मे धर्मशास्त्र की कक्षाओ का सचालन रूढिवादी मुल्ला ही करते थे और समय बीतने के साथ विशेषत. मोहसिन उल मुल्क के समय मे अलीगढ़ के आधुनिकतावादी तत्व शिथिल पडते गये। इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात यह थी कि सर सैयद अहमद ने हमेशा इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि पाश्चात्य शिक्षा उच्चवर्गीय मुसलमानों को मुसलमानो के रूप मे मिले जो मुसलमानो में सामूहिक एकता की भावना पैदा करे। उनके कार्यक्रम बडे

सुचारु रूप से उस नई ब्रिटिश नीति का अनुसरण करते थे जिसका निर्माण हण्टर के 'इडियन मुसलमान्स' द्वारा हुआ था। जिसे 1871 में मेयो ने नियुक्त किया था। इस नीति के तहत हण्टर का कहना था कि अग्रेजो को मुसलमानो की एक ऐसी नई पीढी के विकास में सहायक होना चाहिये, जिसमें पश्चिम के ज्ञान का खुशनुमा रंग हो। साथ ही उसे अपनी धार्मिक संहिता का भी पर्याप्त ज्ञान हो, ताकि वह अपने समुदाय के लोगों का पर्याप्त आदर प्राप्त कर सके।[15]

इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अलीगढ को ब्रिटिश सरकार का असाधारण संरक्षण मिला। जिसमें वायसराय लार्ड नार्थब्रुक द्वारा दिया गया दस हजार रूपये का निजी दान भी सम्मिलित था। सबसे बढ़कर यह ब्रिटिश समर्थन ही था जिसके कारण एक व्यक्ति जिसके धार्मिक विचार इतने अरूढिवादी थे कि उसके अपने सहधर्मियो ने काफिर घोषित कर दिया था, अपने सम्प्रदाय का हिमायती माना गया।[16] सयुक्त प्रान्त के मुंसलमान जमीदारों एवं पारम्परिक नौकरी पेशा परिवारो ने सैयद अहमद को सामाजिक आधार प्रदान किया, जो विशेषाधिकार प्राप्त किन्तु धीरे–धीरे क्षीण पडते समूह थे। इस प्रकार हण्टर ने बंगाल की विशिष्ट स्थिति के आधार पर जहॉ कि शहरी उच्चवर्ग के मुसलमानो की सख्या अपेक्षाकृत कम थी, का जो सामान्यीकरण किया था और जिसे अनेक अग्रेज अधिकारियो एवं मुसलमान नेताओं ने स्वीकार कर लिया था, के विपरीत अलगाववाद का कारण मुसलमानो का पिछड़ापन नहीं था, अपितु यह पारम्परिक मुसलमान अभिजात वर्ग को हिन्दू व्यापारी साहूकार और व्यवसायिक समूहो से खतरा उत्पन्न होना था। जो जमीनें खरीद रहे थे, नगर पालिकाओ पर कब्जा जमा रहे थे और उनकी कीमत पर नौकरियॉ प्राप्त कर रहे थे। ऐसी ही स्थिति किन्तु उल्टे रूप में पंजाब में भी देखी जा सकती थी, जहॉ केनेथ जोन्स आर्य समाज के पुनरुत्थानवाद के प्रति बढते आकर्षण का कारण अंशतः उस मुस्लिम चुनौती को मानते है, जो खत्री अरोडा और वाडिया समुदायो के व्यापारिक एवं व्यावसायिक प्रभुत्व को मिल रही थी।

आरम्भ में अंग्रेजों द्वारा अलीगढ आन्दोलन को समर्थन देने का कारण यह नही था कि उन्हें काग्रेस छाप राष्ट्रवाद को संतुलित करने के लिये एक जवाबी आन्दोलन की आवश्यकता थी, बल्कि सरकार को भारतीय इस्लाम की कुछ एक अन्य प्रवृत्तियों से भय था। यहॉ पर ध्यान देने

रोचक बात यह है कि काग्रेस इस समय तक ब्रिटिश सरकार के लिये कोई खतरा नहीं थी। ब्रिटिश सरकार को ज्यादा भय उस कट्टरवाद और विदेश विरोधी मानसिकता से था जिसे कुछ धार्मिक नेता जनसामान्य में प्रचारित कर रहे थे। जिसे पीटर हार्डी ने छोटी जोत वाले किसानो, मुल्लों, अध्यापकों, पुस्तक विक्रेताओं, छोटे कर्मचारियों एवं कुशल कारीगरों का औद्योगिक पूर्व निम्न मध्यवर्ग कहा है। जो लोग अपनी भाषा में पढ़ना लिखना जानते थे और जिनका धार्मिक जोश बड़े जल्दी ही उबाल में आ जाता था।[17] मोटे तौर पर हिन्दुओं के भी ऐसे समूह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पुनरुत्थानवादी एवं अतिवादी राष्ट्रवाद की ओर आकर्षित हो रहे थे।

मुसलमानों के बीच एक और भी शान्त प्रकृति की अंग्रेज विरोधी प्रवृत्ति देवबन्द के धार्मिक मठ में जीवित रही, जिसकी स्थापना 1867 में हुई थी। बहावियों के विपरीत यह कट्टर रूप से रूढिवादी थे और इसी कारण सैयद अहमद के प्रति वैमनस्य रखते थे कि उन्होंने धर्मशास्त्र मे नयी परिभाषायें दी थी साथ ही वे राजभक्त थे। देवबन्द ने अपेक्षाकृत गरीब विद्यार्थियों को आकर्षित किया जो पश्चिमी शिक्षा का व्यय नहीं उठा सकते थे। देवबन्द ने अपने यहाँ से निकलने वाले मदरसो के अध्यापको के माध्यम से अपना प्रभाव बनाये रखा और बीसवीं सदी मे कांग्रेसी राष्ट्रवाद को पर्याप्त समर्थन प्रदान किया।

ब्रिटिश सरकार को सबसे अधिक भय अखिल इस्लामी भावनाओं के प्रसार से था। इन भावनाओं को उत्तेजित करने वाला स्रोत था– उस्मानिया सुल्तान तथा खलीफा का दूरस्थ व्यक्तित्व। विशेष रूप से 1876–78 के बाल्कन युद्ध एवं 1896–97 के यूनानी–तुर्की युद्ध के समय आधुनिक अखिल इस्लामवाद के संस्थापक जमालुद्दीन अलफगानी 1879–82 के बीच भारत मे स्वयं उपस्थित थे तथा हैदराबाद एवं कलकत्ता में लिखते एव व्याख्यान देते थे। यद्यपि जमालुद्दीन ने सर सैयद अहमद पर तीव्र प्रहार किये।[18] किन्तु स्वयं उनके धर्मशास्त्र सम्बन्धी विचार सैयद अहमद से कम अपारम्परिक नहीं थे और उन्होंने कलकत्ता में विद्यार्थियों को दिये व्याख्यानो मे हिन्दू–मुस्लिम एकता की मार्मिक हिमायत की थी। वास्तव में उन्हें सैयद अहमद के पिट्ठू होने पर आपत्ति थी। इस बात के प्रमाण है कि 1890 के दशक तक कलकत्ता के मुसलमान पटसन मजदूरों तक को यह सिखाया जाने लगा था कि सुल्तान दूरस्थ ही सही एक शक्तिशाली सरक्षक है।

1897 के कलकत्ता दंगो मे अखिल इस्लामवाद का योगदान रहा। 20 वर्ष बाद यही खिलाफत आन्दोलन के माध्यम से एक सशक्त साम्राज्यवाद विरोधी शक्ति बना। साथ ही राष्ट्रवाद के बढते कदम पर भी अकुश रखने का प्रयास किया।

इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज में हिन्दू और मुसलमान समुदायों के बीच संघर्ष उतना उग्र नहीं था जितना कि इन दोनों समुदायों के भीतर होने वाला संघर्ष। किन्तु 1880 एवं 1890 के दशकों में सम्प्रदायवाद भी पहली बार एक अखिल भारतीय आयाम ग्रहण कर रहा था। उर्दू एवं देवनागरी विवाद तथा गोरक्षा इसके दो महत्वपूर्ण मुद्दे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में गोरक्षा एक महत्वपूर्ण मुद्दा था जिसने हिन्दू एव मुसलमान के बीच बढती खाई को और बढाया। यह एक ऐसा मुद्दा था जिसने अभिजात वर्ग और लोकव्यापी साम्राज्यवाद को एक धरातल पर ला खडा किया। गोरक्षा के हिमायती हिन्दुओ को आशा थी कि इस सम्बन्ध मे कोई कानून बनेगा जिसके लिये वे आन्दोलनरत थे। संयुक्त प्रान्त की कई म्यूनिस्पल कौसिलों ने उपनियम पारित किये थे, जो बूचड़खानो एव कबाब की दुकानों पर स्वच्छता के तथाकथित आधार पर पाबन्दी लगाते थे। मुसलमान राजनीतिज्ञो को भय था कि चुनावो के फलस्वरूप जो हिन्दू बहुमत आयेगा वह उस बात पर और अधिक पाबन्दी लगायेगा, जिसे अनेक लोग अपने धर्म का अनिवार्य अंग समझते थे।

दयानन्द सरस्वती ने ''गऊ करुनानिधि'' शीर्षक से एक किताबुचा प्रकाशित किया था और 1880 के दशक के बाद उत्तर भारत के अनेक भागों में गोरक्षिणी सभायें बनने लगी थीं। जिनको कुछ वकीलों एव जमीदारों के सरक्षण के साथ ही कतिपय घुमक्कड साधुओ की गतिविधियो से प्रोत्साहन मिलता था। गाय न केवल पुरातन काल से धार्मिक प्रतीक रही थी, बल्कि किसान के लिये भूमि के बाद सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक पूँजी थी। दूसरी ओर पढे लिखे हिन्दू इस तर्क को मानते थे कि गोरक्षा से समस्त भारतीयों के स्वास्थ्य एवं समृद्धि में वृद्धि होगी। 1892–93 मे गोरक्षिणी सभायें अधिक जुझारू बनने लगी थीं। जो शायद वर्ष भर पूर्व 'एज आफ कन्सेन्ट बिल' के पारित किये जाने के प्रति रूढ़िवादी हिन्दुओं के रोष को दर्शाता है। गायों की बिक्री या वध पर बलपूर्वक हस्तक्षेप तथा सभारूपी न्यायालयो की स्थापना की जो रिपोर्ट मिलती है, जिसमे कसाइयों को गाय बेंचने पर जुर्माना या सामाजिक बहिष्कार का दण्ड दिया जाता था ने मुस्लिम तथा हिन्दू साम्प्रदायिकता को आगे बढाने का कार्य किया।

यह वही समय था जब इस्लामी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियॉ बकरीद पर गोकुशी की अनिवार्यता पर बल दे रही थी। यही जून–जुलाई 1893 मे बडे स्तर पर हुये साम्प्रदायिक दगो का आधार बना। ये दगे आजमगढ के मऊ कस्बे से आरम्भ हुये जहॉ बडी सख्या मे मुसलमानों पर गाजीपुर एव बलिया से आयी भीड़ ने आक्रमण किया। बलिया मे दंगे सबसे अधिक संगठित थे, जहॉ एक राजपूत जमींदार अधिक सक्रिय था। गोहत्या के मुद्दे पर सर्वाधिक खून खराबा सारन, गया और पटना में हुआ जहाँ बड़े–बड़े पशु मेले लगते थे। सबसे हिसक साम्प्रदायिक दंगा बम्बई शहर मे हुआ। यद्यपि कि यहाँ मुद्दा गोहत्या का न होकर हिन्दुओं द्वारा मस्जिदो के आगे से जुलूस निकालना था। इन दंगों में करीब अस्सी लोग मारे गये थे। दंगों के दो अन्य स्थान जूनागढ एवं दूरस्थ रंगून थे। ऐसे देशव्यापी दंगे पहले कभी नही हुये थे। निश्चय ही आधुनिक राष्ट्रवादी आन्दोलन के लिये यह बुरा लक्षण था, जो जोर पकड रहा था।

एक और महत्वपूर्ण विवादित मुद्दा भाषा की समस्या थी, जिसने हिन्दी–उर्दू विवाद को जन्म दिया। हिन्दी आन्दोलन की शुरुआत सन् 1860 के दशक मे बनारस के कुछ शिक्षित हिन्दुओं ने की, जब बाबू शिवप्रसाद ने 1868 मे लिपि से सम्बन्धित एक ज्ञापन दिया जिसमे यह तर्क दिया गया था कि उत्तर पश्चिम प्रान्त एवं अवध मे उर्दू एव फारसी के अध्ययन को जो सरकारी मदद दी जा रही है, उसके कारण हिन्दी का अध्ययन एव उसका विकास प्राथमिक स्तर पर भी अवरुद्ध हो रहा था। इस ज्ञापन में हिन्दी और देवनागरी लिपि को एक साथ जोड दिया गया था। बाबू शिवप्रसाद ने इस ज्ञापन के माध्यम से यह मॉग की कि फारसी शब्दावली को सरकारी कामकाज की भाषा से हटा दिया जाय और उसके स्थान पर हिन्दी को लाया जाय। 1873 मे इसी तरह का एक स्मारक पत्र उस समय के उपराज्यपाल सर विलियम म्योर को दिया गया था। 1881 मे हिन्दी आन्दोलन को एक महत्वपूर्ण सफलता हाथ लगी जब बिहार मे हिन्दी और देवनागरी लिपि को उर्दू एव फारसी लिपि के स्थान पर सरकारी कामकाज की भाषा के रूप मे मान्यता दी गयी।[19] बाद मे सन् 1900 मे मैकडॉनेल (सयुक्त प्रान्त का तत्कालीन गर्वनर) ने इस बात की इजाजत दे दी कि सरकारी पत्राचार देवनागरी लिपि में किया जा सकता है। इसके साथ ही सभी नवनियुक्त मुलाजिमो को देवनागरी एवं फारसी लिपि दोनो की जानकारी होना अनिवार्य कर दिया गया। इस आदेश ने उन मुस्लिम

परिवारो के समक्ष समस्या खडी कर दी जो सरकारी ओहदो पर थे। यद्यपि उनके लिये यह सौभाग्य था कि मैकडॉनेल की इस नीति का उतनी कडाई से पालन नही किया गया जितना कि मैकडॉनेल चाहता था। फिर भी इतना निश्चित था कि सरकारी सेवारत मुसलमान ब्रिटिश नीति में मौलिक परिवर्तन का एहसास कर रहा था। फारसी को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से हटा दिया गया था। तहसीलदार और उपजिलाधिकारियों की उस सूची को केवल इस आधार पर निरस्त कर दिया गया, जिसमें मुसलमानों की संख्या अधिक थी।[20]

इस तरह के आदेश जारी किये गये थे कि किसी भी सरकारी कार्यालय मे पॉच हिन्दुओं पर तीन मुसलमान कर्मचारी/अधिकारी से ज्यादा न हों। जैसे ही देवनागरी लिपि को सरकारी मान्यता दी गयी, मुसलमानो ने एक 'मुस्लिम रक्षक संघ' का गठन किया, जिसकी अध्यक्षता छत्तारी के नवाब ने की। यह निर्णय किया गया कि उत्तर भारत के मुसलमानो के प्रतिनिधियों की एक बैठक की जाय और देवनागरी लिपि सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव पर चर्चा कर एक ज्ञापन उपराज्यपाल को दिया जाय। इलाहाबाद मे भी एक उर्दू रक्षक संघ की स्थापना 1898 में की गयी थी। करामत हुसेन के निर्देशन मे यह सक्रिय हो गया।[21] लखनऊ की एक बैठक मे अग्रणी मुस्लिम नेताओ ने हामिद अली खॉ की अध्यक्षता में एक बैठक की, जिसमे उर्दू की रक्षा के लिये एक समिति का गठन किया गया।

देवनागरी लिपि को सरकारी मान्यता देने सम्बन्धी प्रस्ताव ने मुस्लिम राजनीति को अलीगढ और उसके आस–पास के सीमित क्षेत्र से निकालकर एक विस्तृत आधार दिया। आगरा के जमीदार अवध के ताल्लुकेदार, उलेमा, वकील और उस समय के तमाम मुस्लिम कांग्रेसी नेताओ जैसे अलीगढ के हफीज अब्दुल रहीम, अवध पंच के सम्पादक सज्जाद हुसेन तथा लखनऊ के हमीद अलीखॉ ने अपने आपको इस आन्दोलन से पूरी तरह से जोड लिया। सरकार ने लखनऊ की बैठक का अपने अनुसार विश्लेषण किया और आन्दोलनरत मुसलमानों को दो श्रेणियों मे रखा। पहली श्रेणी में वे लोग थे जो धनी एव प्रभावकारी थे और दूसरी श्रेणी मे ऐसे सम्भ्रान्त युवा थे जिनका प्रगतिशील चरित्र था।[22]

ब्रिटिश सरकार ने यह विभाजन इस आधार पर किया था कि इन दो श्रेणियो के लोग सरकार के प्रति क्या दृष्टिकोण रखते हैं। उदाहरण के लिये पहसू के नवाब, जमीदार और विधायिका मे मुस्लिम प्रतिनिधि शान्त

रहे। मैकडॉनेल द्वारा एक झिडकी ही अधिकांश जमींदारों को सही रास्ते पर लाने के लिये काफी होती थी। लेकिन मोहसिन उल मुल्क दूसरे दृष्टिकोण का था। मई महीने मे उपराज्यपाल की एक सख्त चेतावनी की अवहेलना करते हुये सरकारी दृष्टिकोण के प्रति अपना विरोध आन्दोलन जारी रखा और अगस्त में लखनऊ में बैठक की अध्यक्षता की। क्रोधित होकर मैकडॉनेल ने अलीगढ़ को मिलने वाली सभी सहायता बन्द कर दी, किन्तु विरोध आन्दोलन में सम्भ्रान्त युवा लगे रहे। इन लोगों ने अब यह महसूस किया कि सर सैयद अहमद की सरकार पर निर्भर रहने की नीति खोखली थी। ये लोग अपने हित की रक्षा के लिये और अधिक उग्र कार्यवाही की माँग करने लगे। इनमे अलीगढ का स्नातक गुलाम उस सकलेन एक प्रमुख व्यक्तित्व था। अब इन लोगों के बीच यह भावना भी पनपने लगी कि मुसलमानो का भी एक राजनीतिक संघ होना चाहिये। गुलाम उस सकलेन ने अपनी पत्रिका 'अस्र ए जदीद' (स्थापना 1903) में मुसलमानो के राजनीतिक सगठन की आवश्यकता के कारण दिये। उनके अनुसार मुस्लिम राजनीतिक सघ नहीं होने के कारण मुसलमानो को कई तरह की हानि हुई है और उनके हित अब भी दबाये जा रहे है। जैसे कि हिन्दी–उर्दू विवाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से फारसी का हटाया जाना और म्यूनिस्पल एव स्थानीय निकायों में मुसलमान सदस्यों की कमी।[23]

इसके साथ ही इस बात को स्पष्ट किया कि मुसलमान कांग्रेस में शामिल नही हो सकते है क्योकि काग्रेस निर्वाचन के सिद्धान्त एवं प्रतियोगी परीक्षा की हिमायती है। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि वे अन्य मुद्दों पर कांग्रेस के साथ सहयोग कर सकते है। जैसे कि नमक कर में कमी, यहाँ के लोगो को रोजगार दिलवाने का कांग्रेस का कार्यक्रम इत्यादि। इन सम्भ्रान्त युवाओ ने राजनीतिक संघ की बात कर और इस दिशा मे कार्य कर सरकार की नजर से मुसलमानों को एक बार फिर दूर कर दिया और सैयद अहमद खॉ ने ब्रिटिश सरकार के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध बनाया था, उसे नष्ट करने का काम किया। यदि कांग्रेस के साथ हाथ मिलाते तो सभावना यह थी कि मुसलमानों को भविष्य में जो विशेष सुविधायें मिलने वाली थी उसकी सभावनायें भी खत्म हो जाती। यह एक खतरनाक नीति होती। यही कारण है कि धनी एव प्रभावकारी मुसलमानो ने इसे रोकने की चेष्टा की। मॉरिसन ने यह सुझाव दिया कि अग्रणी मुसलमानों की एक परिषद बना दी जाय।[24]

मोहसिन उल मुल्क अब भी अनिश्चय की स्थिति मे थे। उन्होने बाद मे इस बात पर जोर दिया कि मुसलमानों का राजनीतिक प्रतिनिधि ऐसे लोगो को होना चाहिए जो कि सरकार के समक्ष अपनी मॉग को आदरपूर्वक और सही रूप में रख सके, जिससे कि ब्रिटिश सरकार उनको सुने और अपनी कार्यवाही करे। लेकिन इस तरह के तर्क एवं कदम उग्र मुस्लिम नौजवानों को सतुष्ट नही कर सकते थे। बाद में सैयद अहमद के विश्वासपात्र विकार उल मुल्क ने इस सम्बन्ध में निश्चित कदम उठाये तथा मुसलमानों के लिये राजनीतिक सगठनों को मूर्त रूप देने का प्रयास किया। जिसमें उग्र नौजवान भी अपनी बात रख सकते थे। विकार उल मुल्क उस समय तक अमरोहा म्यूनिस्पल बोर्ड में थे। इन्होंने भी इस बात को स्वीकार किया कि भारत के मुसलमानो का भाग्य भारत मे ब्रिटिश राज की उपस्थिति एवं उसके स्थायित्व मे ही निहित है। ब्रिटिश शासन के रुप में एक अच्छा और भरोसेमद मित्र मिला है।[25] जन आन्दोलन पर जोर न देने का निश्चय किया, क्योकि इस समय शासक वर्ग की मदद की आवश्यकता थी क्योकि वे लोग अल्पसख्यक थे, इसलिये उनकी आवश्यकताये भी विशेष थी।[26] इस तरह के प्रयास ही अन्त में 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना में सहायक हुये जिसमे ब्रिटिश सरकार ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

एक अति महत्वपूर्ण घटना जिसने भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में अपना प्रभाव छोडा, वह थी दिसम्बर 1985 में कांग्रेस की स्थापना। उस समय के उत्तर भारतीय मुस्लिम अभिजात वर्ग ने इस संगठन की स्थापना का विरोध किया। इसमे सर सैयद अहमद खान अग्रणी थे। सैयद अहमद खान की यह प्रवृत्ति आश्चर्य में डालने वाली थी क्योकि इससे पहले उन्होंने भी इस बात की वकालत की थी कि भारतीयो को विधायिका मे शामिल किया जाय और उनको इग्लैड जाने का अवसर प्रदान किया जाय जिससे कि वे सिविल सर्विस परीक्षा मे सम्मिलित हो सकें। उन्होंने 1884 मे अपने पंजाब दौरे के समय हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात की थी। लेकिन जैसे ही सयुक्त प्रान्त मे काग्रेस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की कोशिश की सैयद अहमद के रुख में व्यापक परिवर्तन आ गया। कुछ लोगों का मानना है कि वे अलीगढ के प्रिन्सीपल थियोडोर बेक के प्रभाव में थे। दूसरी ओर कतिपय लोगों का मानना है कि वे सरकारी सुविधाओं के कारण ब्रिटिश सरकार के अनुगृहीत थे। लेकिन फ्रांसिस राबिन्सन का यह कहना है कि कांग्रेस की

मॉग एव सैयद अहमद की मॉग मे जमीन आसमान का अन्तर था। उनके अनुसार उन्होने 1858 में भारतीयो के विधायिका मे प्रवेश सम्बन्धी मॉग उठायी थी, जिसमे उन्होने निर्वाचन की बात नहीं की थी। 1870 के मध्य मे उन्होने चुनाव और प्रतिनिधि सरकार को भारत के लिये पूरी तरह से खारिज कर दिया था।[27]

सैयद अहमद ने 1883 में स्थानीय स्वशासन अधिनियम पर चर्चा के दौरान अपने विचार को पूरी तरह से व्यक्त किया। उन्होंने कहा था कि यदि चुनाव के माध्यम से प्रतिनिधियों की नियुक्ति की जाती है तो वह मात्र बहुसंख्यक लोगों का प्रतिनिधित्व करेगा, जबकि भारत जैसे देश में जहॉ कि जाति विभिन्नतायें हैं, जहॉ विभिन्न नस्लो में सम्बन्ध नहीं है, जहाँ धार्मिक अन्तर हिसक है और जहाँ आधुनिक शिक्षा ने समाज के सभी स्तरों पर बराबर प्रगति नहीं की है। वहॉ पर निर्वाचन का सिद्धान्त लाभकारी नहीं होगा। बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यक समुदाय की भावनाओ और हितो को अनदेखा करेगा और अशिक्षित जनता सरकार को किसी भी उपाय के लिये उत्तरदायी ठहरायेगी।[28] इसी प्रकार राबिन्सन के अनुसार उन्होंने प्रतियोगिता परीक्षा का भी समर्थन नहीं किया। वास्तव में वे इसके विरोधी थे, क्योकि इससे उर्दू बोलने वाले अभिजातवर्ग को नुकसान उठाना पडता था। दिसम्बर 1886 मे थियोडोर बेक ने लोकसेवा आयोग को यह कहा था कि प्रतियोगिता परीक्षा मुसलमानों और सामान्य तौर पर उच्चवर्गीय लोगो राजपूत कुलीन वर्ग को सरकारी सेवा से वंचित कर देगी। अतः इसके राजनीतिक प्रभाव बुरे होंगे। इसलिए राबिन्सन के अनुसार सैयद अहमद का विरोध स्वाभाविक ही था।[29]

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

भारत में साम्प्रदायिकता के दूसरे चरण की शुरुआत मुस्लिम लीग की स्थापना (1906) से की जा सकती है और इसका अन्त खिलाफत आन्दोलन के शुरू होने के पूर्व तक रखा जा सकता है। इस अवधि में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुस्लिम साम्प्रदायिकता के साथ गठजोड़ खुलकर सामने आता है। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को लखनऊ पैक्ट के द्वारा 1909 के भारतीय विधान परिषद अधिनियम के अन्तर्गत पृथक निर्वाचक पद्धति को स्वीकृति देनी पड़ी।

मुस्लिम लीग के उदय की पृष्ठभूमि 1900 से ही देखी जा सकती है। जब सम्भ्रान्त युवाओ के द्वारा मुस्लिम राजनीतिक सगठन के गठन का प्रयास होता है। लेकिन वह फलीभूत नही हो पाता है। दिसम्बर 1901 मे इस तरह के सगठन की आवश्यकता मुस्लिम समुदाय के बीच कम होने लगती है क्योकि इसी समय संयुक्त प्रान्त के ले. गर्वनर मैकडॉनेल को हटा दिया जाता है और उसके स्थान पर ला तोशे को नियुक्त किया जाता है, जिसकी रुझान मुसलमानों के पक्ष में थी। इसी के तुरन्त बाद नदवात उल उलेमा का महासचिव अतहर अली, जो मैकडॉनेल के उत्पीडन के भय से हैदराबाद भाग गया था, वापस संयुक्त प्रान्त लौट आया। उर्दू के पक्ष में भी नये ले. गवर्नर का दृष्टिकोण मुसलमानों के पक्ष मे था। 1903 के मध्य तक द्विभाषी प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन नही किया गया था और न ही दोनों भाषाओ हिन्दी एव उर्दू मे सरकारी आदेश जारी किये गये थे। मुसलमान अब भी सरकारी नौकरियों मे आसानी से शामिल हो रहे थे।[30] इस तरह धनी एव प्रभावी मुस्लिम व्यक्तियों का समूह सरकार के इस नये दृष्टिकोण के कारण सम्भ्रान्त युवकों के राजनीतिक संगठन की चाह को नजर अन्दाज करने मे कामयाब हो रहा था।

यद्यपि 1903—06 के बीच मुसलमानो को सरकारी समर्थन प्राप्त था, फिर भी सयुक्त प्रान्त के मुसलमान इस बात को भलीभॉति जानते थे कि उनकी स्थिति अब भी कमजोर है क्योकि उर्दू पर फिर प्रहार शुरू हो गया था। हिन्दुओ की यह कोशिश थी कि शिक्षा पद्धति से मुस्लिम सास्कृतिक प्रभाव को बिल्कुल हटा दिया जाय।[31] इसके अतिरिक्त चुनाव के सिद्धान्त का विस्तार किया जा रहा था और मुसलमान इस बात को देख रहे थे कि वे लोग जिस तरह विश्वविद्यालय के सीनेट के चुनाव में पराजित हो रहे थे उसी तरह प्रान्तीय विधायिकाओं के चुनाव मे भी उन्हे हार का मुँह देखना पड़ रहा था। वास्तव में राजनीतिक प्रजातांत्रिक स्वरूप मुस्लिम नौजवानों को विचलित कर रहा था। इसके बाद मुस्लिमों के प्रति शुभेच्छा रखने वाले पूर्वी बंगाल एवं असम के ले. गवर्नर सर वैम्फील्ड को 1906 में एक हिन्दू आन्दोलन के कारण हटा दिया गया, जिसने मुसलमानो को और चिन्तित किया।

ऐसे ही समय में भारत सचिव ने अपने बजट भाषण मे यह घोषणा की कि सरकार की यह मंशा है कि भारत मे विधायिकाओ के आकार एवं शक्तियो में पर्याप्त वृद्धि हो। इसने मुस्लिम युवाओ को अधिक विचलित

किया। सरकार की इन घोषणाओ के कारण बहुत से मुस्लिम नवयुवक काग्रेस मे शामिल होने की धमकी देने लगे। इस तरह की सभावनाओ को बहुत पहले से कुछ अखबार जैसे सज्जाद हुसेन का 'आजाद' जमालुद्दीन अहमद का 'हमदर्द' और हसरत मोहानी का 'उर्दू ए मुल्ला' एक विकल्प के रूप मे व्यक्त कर रहे थे क्योकि इसके द्वारा ही ब्रिटिश सत्ता को मुस्लिम हितो की रक्षा हेतु कदम उठाने को विवश किया जा सकता था।[32] 1905 मे अलीगढ़ के दो मुस्लिम नवयुवक तुफेल अहमद और हसरत मोहानी कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में उपस्थित थे और मई 1906 में अलीगढ में अलीगढ कालेज छात्रसंघ ने ध्वनिमत से यह प्रस्ताव पास किया कि हिन्दू और मुसलमानो को राजनीति मे मिलकर काम करना चाहिए।[33]

4 अगस्त 1906 को अलीगढ कालेज के प्रिन्सीपल आर्चबोल्ड ने मोहसिन उल मुल्क को इस बात की सलाह दी कि वे लोग वायसराय को एक ज्ञापन दें। मोहसिन उल मुल्क एवं आर्चबोल्ड के बीच पत्राचार से यह बात साफ हो जाती है कि सरकार कितनी दूर तक मुसलमानो के पक्ष मे थी। मोहसिन उल मुल्क ने यह दावा किया कि उन्हें पूरे भारत से मुसलमानो के पत्र आ रहे है। जिसमे प्रायः यह कहा जा रहा है कि सर सैयद अहमद और उनकी स्वयं की नीति ने मुसलमानों के लिये कोई अच्छा परिणाम नही दिया है और सरकार बिना आन्दोलन के किसी भी समुदाय की इच्छा को पूरा नही कर रही है। इसलिये मुसलमानो को अलीगढ कालेज के लिये किसी तरह की सरकारी मदद की आशा नहीं करनी चाहिए।[34] स्पष्ट है कि इस तरह की बात करके मोहसिन उल मुल्क सरकार को एक अवसर देना चाहते थे कि वह अलीगढ मुस्लिम नेताओ की राजनीति का खुलकर समर्थन करे, जिससे कि असंतुष्ट मुस्लिम युवाओ को फिर से वापस लाया जा सके।

यह स्मरण पत्र मोहसिन उल मुल्क ने इमाद उल मुल्क सैयद हुसेन बिलग्रामी की सहायता से तैयार किया था। अन्य मुस्लिम नेताओ विशेषकर विकार उल मुल्क ने भी अपने सुझाव दिये थे। इसे 15/16 सितम्बर को लखनऊ में आहूत अखिल भारतीय मुस्लिम प्रतिनिधि सम्मेलन मे विचार के लिये रखा गया था। कुछ संशोधनो के बाद इस स्मरण पत्र को एक अक्टूबर 1906 को वायसराय को ज्ञापित किया गया। यद्यपि ज्ञापन में इस बात का दावा किया गया था कि इसमे कही गयी बाते भारत के सम्पूर्ण

है। उनका कहना है कि ढाका के नवाब सलीमुल्लाह और नवाब अली चौधरी ने इस बात पर जोर दिया था कि ब्रिटिश सरकार से बगाल विभाजन को रद्द न करने का दृढ आश्वासन मॉगा जाय लेकिन उत्तर भारत के मुसलमानों ने इस पर कोई विशेष ध्यान नही दिया। स्मरण पत्र न केवल अलीगढ मुस्लिम नेताओं द्वारा लिखा गया था बल्कि उनके हितो की रक्षा करता था।[35]

स्मरण पत्र मे इस बात का उल्लेख किया गया था कि मुसलमानो में पारम्परिक सत्ता और सरकारी सेवा की एक परम्परा रही है। इसमे मुसलमानों के राजनीतिक महत्व को भी दिखलाने की चेष्टा की गयी। लेकिन स्मरण–पत्र के एक बहुत बडे हिस्से मे इस बात पर जोर दिया गया था कि नये शक्ति संतुलन के ढॉचे में मुसलमानों की स्थिति को किस प्रकार मजबूत किया जाय। संयुक्त प्रान्त के मुसलमानो ने म्यूनिस्पिल एवं जिला बोर्डो मे अपने अनुभव के आधार पर इस बात की शिकायत की कि मुस्लिम करदाताओं का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो रहा है और मनोनयन भी अप्रभावकारी ही सिद्ध हो रहा है। इसका हल सुझाते हुये यह मॉग की गयी कि पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाय। जिसमे संख्या, सामाजिक स्तर, स्थानीय प्रभाव और समुदाय की विशेष जरूरतों को ध्यान मे रखा जाय। अन्त में एक और महत्वपूर्ण बात जो ज्ञापन में उठायी गयी थी वह थी एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना, जिसमे सरकार से सहायता एवं समर्थन की अपेक्षा की गयी थी।

मिण्टो ने एक को छोडकर ज्ञापन के करीब सभी बिन्दुओ को नजरअन्दाज कर दिया। उसने निर्वाचित सरकार की समस्या के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस बात की जानकारी दी कि एक समिति इस मुद्दे पर गौर कर रही है। ज्ञापनकर्ता इसके बाद भी मिण्टो के जवाब से संतुष्ट थे। जैसा कि मोहसिन उल मुल्क एवं वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ के बीच हुये पत्राचार से स्पष्ट होता है। जिसमे उन्होंने वायसराय के प्रति आभार व्यक्त करते हुये कहा था कि वायसराय मुसलमानों के अधिकारो के प्रति सहानुभूति रखते हैं और इसका आधार मुसलमानों का राजनीतिक महत्व है। लेकिन मुस्लिम युवाओ मे असन्तोष था। वे लोग निराश थे कि वायसराय ने मुस्लिम विश्वविद्यालय, सिविल सेवा और उच्च न्यायालयों में नियुक्ति के सम्बन्ध में किसी भी तरह का कोई आश्वासन

नही दिया। इस तरह शिमला प्रतिनिधिमडल का एक मुख्य उद्देश्य असफल हो गया और वह था मुस्लिम उदारवादी नेताओ द्वारा मुस्लिम नवयुवको को नियत्रित करना।

नवाब सलीमुल्लाह लखनऊ की बैठक में अपनी पराजय और बंगाल की समस्याओ को स्मरण पत्र (Memorial) मे शामिल नहीं किये जाने से निराश थे। लेकिन अब उन्होंने स्वतंत्र रुप से कदम उठाने का निश्चय किया और शिमला प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों के बीच इस आशय का एक पत्र वितरित किया कि अखिल भारतीय स्तर पर मुसलमानो का एक संगठन बनाया जाय। ऐसे विचार का आगा खॉ एवं मोहसिन उल मुल्क ने विरोध किया क्योकि इससे अलीगढ के मुसलमानों के नेतृत्व पर बगाली मुस्लिमों से खतरा हो सकता था। लेकिन सलीमुल्लाह अपने विचार पर अडिग रहे और उन्होंने घोषणा की कि नवम्बर 1906 मे वे ढाका मे मुसलमानो के अखिल भारतीय महासघ की एक बैठक करेगे। मुस्लिम नवयुवको से मदद मिलने की पूरी संभावना थी और इससे अलीगढ़ मुस्लिम नेताओं के इस दावे पर कि वे पूरे भारत मे मुसलमानो का प्रतिनिधित्व करते है पर बुरा प्रभाव पडता। फिर अब भी मुस्लिम युवाओ के बीच यह बात होती रहती थी कि मुसलमानों को काग्रेस मे शामिल होना चाहिए। इसलिये नवाब सलीमुल्लाह का अखिल भारतीय मुस्लिम संगठन सम्बन्धी अपील करना लाजिमी था। वास्तव मे अलीगढ के बहुत से नवयुवक ढाका की प्रस्तावित बैठक में भाग लेने के लिये गये जिसकी अध्यक्षता विकार उल मुल्क ने की। इसी बैठक में 30 दिसम्बर 1906 को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का विधिवत गठन किया गया। गठन सम्बन्धी प्रस्ताव नवाब सलीमुल्लाह ने प्रस्तुत किया। इसका अनुमोदन एवं समर्थन तीन प्रभावी मुस्लिम युवाओ हकीम अजमल खॉ, जफर अली खॉ एव महमूद अली द्वारा किया गया।

अंग्रेजो का साम्प्रदायिक अलगाववाद को प्रोत्साहित करना एक निर्विवाद तथ्य है और मुस्लिम लीग के उदय मे भी उसकी भूमिका संदेह से परे नहीं है। यद्यपि कि मुस्लिम लीग के समर्थक तिरस्कारपूर्वक राष्ट्रवादियों के इस आरोप का खण्डन करते है कि पूरा आन्दोलन ही अग्रेजों का नाटक मात्र था और राजाज्ञा से किये जाने वाले खेल से अधिक कुछ नहीं था। फिर भी ब्रिटिश शासकों की मिलीभगत से इन्कार नही किया जा सकता। 15 अगस्त 1906 को मिण्टो ने मार्ले के समक्ष स्वीकार किया था कि पूर्वी बंगाल एव असम मे फुलर हिन्दू एवं मुसलमानो

को लडा रहे है और उनके उत्तराधिकारी ने नयी नियुक्तियों मे मुसलमानों का पक्ष लेना जारी रखा है। उन्होंने ढाका के नवाब सलीमुल्लाह को चौदह लाख रूपये का कर्ज दिलवाने के लिये मिण्टो पर जोर डाला और कहा कि यह 'बहुत बडा राजनीतिक मामला' है। इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि प्रधानाचार्य आर्चबोल्ड के माध्यम से मोहसिन उल मुल्क या अन्य मुसलमान नेता, वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ और लखनऊ के कमिश्नर हरकोर्ट बटलर जैसे अधिकारियों के सीधे सम्पर्क में रहते थे। मुस्लिम लीग का गठन करते समय 29 अक्टूबर 1906 को आगाखॉ ने डनलप स्मिथ को आश्वासन दिया था कि उन्होंने मोहसिन उल मुल्क को हिदायत दी है कि वे निजी तौर पर सरकार की पूरी सहमति लिये बिना कोई कदम न उठाये। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था हितो की वस्तुगत समानता, जो आने वाले दशकों में सरकारी तंत्र एवं हिन्दू एव मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायो के उच्च वर्गीय सम्प्रदायवादियों के बीच बार–बार दिखायी पडती है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि दिसम्बर 1906 में भारत धर्ममहामंडल की बैठक में दरभंगा के महाराजा ने घोषणा की थी कि हिन्दुओं के लिये निष्ठा या राजभक्ति धर्म का तत्व है।[36]

मुस्लिम लीग को पहली राजनीतिक सफलता अपने तीन वर्ष की अवस्था मे ही मिल गयी जब ब्रिटिश सरकार ने 1909 के भारतीय विधान परिषद अधिनियम के द्वारा पृथक निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। इससे पहले 1909 के आरम्भ में ही अमीर अली के नेतृत्व में जाने वाले एक प्रतिनिधिमण्डल ने अलग–अलग निर्वाचक मंडलों की जगह एक सामान्य निर्वाचक मण्डल बनाने की मार्ले की योजना को निरस्त करवाने में शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर ली। ऐसा टोरियों के साथ उनके नजदीकी सम्बन्धों के कारण हो पाया था। इसने लिबरल प्रशासन को चौका दिया। 1 नवम्बर 1909 को निजी रूप से मिण्टो ने मार्ले के समक्ष स्वीकार किया था कि मै नही समझता कि मुसलमानों को जितनी सीटें दी जा रही है उन पर उनका जरा भी हक है।

मुसलमान राजनीतिक अभिजन को उस समय बडा सदमा पहुँचा जब दिसम्बर 1911 मे जार्ज पंचम ने दिल्ली दरबार में बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया। सम्राट ने 1905–06 में स्वयं इस समुचित 'वरदान' का सुझाव दिया था, जब वे प्रिन्स आफ वेल्स के रूप में भारत आये थे। आरम्भ मे तनिक हिचक के बाद वायसराय हार्डिंग तथा भारत सचिव कुक को यह

विचार पर्याप्त आकर्षक लगा कि इसमे अन्य संभावित 'वरदानो' की भॉति कोई अतिरिक्त व्यय नही करना पडता।

मुसलमानों एव ब्रिटिश शासन के बीच सम्बन्धो मे दूरी बढने लगी थी। इसका कारण था 1911–12 मे इटली और बाल्कन के युद्धो में इग्लैंड द्वारा तुर्की को सहायता न देना। अलीगढ में मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाने के प्रस्ताव को हार्डिग द्वारा अस्वीकार किया जाना और 1913 में कानपुर मे एक मस्जिद के साथ लगे चबूतरे को तोड़ने के परिणामस्वरूप होने वाला दंगा। इस तरह 1914 तक ऐसा लग रहा था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के बीच दूरी बढ रही है। लेकिन वास्तव में भारत मे ब्रिटिश शासन किसी का भी पक्ष न लेकर अपने हितों को ही सर्वोपरि रखता था।

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग को 1916 में एक महत्वपूर्ण सफलता हाथ लगी, जब कांग्रेस ने 'लखनऊ पैक्ट' के तहत मुस्लिमों के लिये पृथक निर्वाचक मडल की व्यवस्था स्वीकार कर ली। लखनऊ समझौते के समय मुसलमानों का सांविधानिक आकर्षण स्पष्ट था कि मुसलमान हमेशा विशेष निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधित्व करेगे।[37] उत्तर प्रदेश मे लेजिस्लेटिव कौसिल की 30 प्रतिशत सीटों का निर्वाचित होना निश्चित हुआ था।[38] मुसलमानो के बहुल मताधिकार को समाप्त कर दिया गया था। सामान्य निर्वाचन मे भाग लेने से उन्हे रोक दिया गया था, क्योकि वे विशेष निर्वाचन मे भाग लेते थे।[39]

लखनऊ पैक्ट जो 'काग्रेस लीग साविधानिक सुधार योजना के नाम से प्रसिद्ध हुआ[40] दो दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि इससे काग्रेस राजनीति में उत्तर प्रदेश की शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व की शुरुआत हुई। सम्पूर्ण भारतीय राजनीति का केन्द्र समुद्री किनारों से हटकर हमेशा के लिये देश के केन्द्र (उत्तर प्रदेश) मे आ गया।"[41] लेकिन यह एक ऐसा समझौता था, जिसने कांग्रेस के चरित्र पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। लीग की साम्प्रदायिक मॉगों को स्वीकार कर लेने से उसने सम्पूर्ण भारतीयों की ओर से बोलने का अधिकार खो दिया। यद्यपि कि इस समझौते से आगामी चार वर्षो के लिए साम्प्रदायिक सद्भाव की मिसालें कायम हुई, किन्तु सम्मेलन के दौरान दोनों पक्षों द्वारा जो मन्तव्य प्रस्तुत किये गये, प्रच्छन्न रूप से वे साम्प्रदायिक मनःस्थिति का भी द्योतन करते हैं।

यहाँ समझौते के बाद भी साम्प्रदायिक स्थिति का आकलन किया जा सकता है। 1916 के लखनऊ मुस्लिम लीग अधिवेशन के स्वागत

समिति के अध्यक्ष सैयद नबी उल्ला ने कहा था कि यदि मुस्लिम नेता साम्प्रदायिक होकर विरोधी आन्दोलन चलाने की भूल करते हैं, तो हिन्दू-मुस्लिम सहयोग के नवजात आन्दोलन के प्रारम्भ मे ही समाप्त हो जाने की आशंका है।[42] ऐसा इसलिये था कि उत्तर प्रदेश मे स्थिति वास्तव मे गम्भीर थी। मदन मोहन मालवीय, चिन्तामणि, तेजबहादुर सप्रू जैसे महत्वपूर्ण नेताओं ने मुसलमानों को दी गयी छूट के विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। नौकरशाही का खेल सफलता के नजदीक तक पहुँच गया था। कुछ मुसलमान भी विरोधी आन्दोलन करने एवं कांग्रेस से बहिष्कार की बात सोचने लगे थे।[43]

वास्तव मे कांग्रेस और लीग के संयुक्त अधिवेशन में रजा अली और काग्रेस के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गये थे। इलाहाबाद के सैयद रजा अली मुस्लिम समुदाय के लिये 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व उत्तर प्रदेश मे चाहते थे। चिन्तामणि और गोकर्णनाथ मिश्र ने रजा अली की मॉग को तर्कहीन बताया। अन्त मे सैयद वजीर हसन, जो लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, के प्रयास से मामला सुलझा। उन्होंने मुस्लिम लीग सुधार समिति के सदस्यो को व्यक्तिगत स्तर पर कहा कि उन्हे 30 प्रतिशत स्थानो के लिए सहमत हो जाना चाहिए।[44] इस प्रकार स्पष्ट है कि लखनऊ समझौते मे उत्तर प्रदेश के मुस्लिम नेताओ का साविधानिक सन्दर्भो में दृष्टिकोण स्वार्थी था और इसे साम्प्रदायिक सौहार्द की दृष्टि से सकारात्मक कदम नही कहा जा सकता है।

यद्यपि कि इस दौरान हिन्दू-मुस्लिम सहयोग मे साम्प्रदायिक भ्रातृत्व की भावना विभिन्न धार्मिक उत्सवों, पर्वो के अवसर पर देखने को मिली। इलाहाबाद में हिन्दू और मुसलमान दशहरा एवं मोहर्रम के अवसरो पर एक-दूसरे से गले मिले तथा पान एव सिगरेट से एक दूसरे का स्वागत किया।[45] नगर मे किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक घटना नहीं घटी। आजमगढ एवं आगरा जैसे शहरों मे जहॉ धार्मिक अवसरों पर साम्प्रदायिक दंगे प्रायः हो जाया करते थे, 1917 मे वहॉ भी पूर्ण शान्ति रही।[46] आगरा मे होमरूल लीग एवं जिला कांग्रेस समिति ने संयुक्त रूप से मोहर्रम के जुलूसो में भाग लिया।[47] इस प्रकार जनवरी 1917 से अप्रैल 1919 के बीच का समय उत्तर प्रदेश में न केवल आश्चर्यजनक हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण था, वरन स्थानीय स्तर पर साम्प्रदायिक सद्भावना का आधार भी पोषित हुआ।

लखनऊ पैक्ट के होने तक हिन्दुओ एव मुसलमानो की राजनीतिक गतिविधियॉ व्यवस्थापिका मे आसन्न सुधारो के द्वारा निर्धारित हो रही थी। अगस्त 1917 मे भारत सचिव मॉण्टेग्यू ने इस बात की घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार भारत में धीरे–धीरे एक ऐसी उत्तरदायी सरकार स्थापित करना चाहता है, जो कि ब्रिटिश सरकार की अभिन्न अंग बनी रहे। 10 नवम्बर 1917 को मॉण्टेग्यू भारत आया। अपने प्रवास के दौरान अनेक छोटे–बडे संगठनो के साथ बृहत स्तर पर विचार–विमर्श किया। इस दौरान मुस्लिम सम्प्रदाय के 44 प्रतिनिधि मडलो ने उससे मिलकर अधिकाधिक अधिकारो की मॉग की। इन प्रतिनिधि मडलों मे उत्तर प्रदेश के मुस्लिम नेताओ का बाहुल्य था। 1918 के अन्त तक मॉण्टेग्यू के ऊपर बृहत स्तर पर साम्प्रदायिक एवं धार्मिक मॉगो की बौछार कर दी गयी। इन मॉगो मे उत्तर प्रदेश के मॉगपत्रो की सूची बृहत् थी। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का मॉण्टेग्यू व्यक्तिगत विरोधी था। 1909 में मार्ले–मिण्टो सुधार योजना मे इसका समावेश वह भारतीय इतिहास की बड़ी भूल मानता था। उसके मतानुसार उक्त घटना (1909 का मार्ले मिण्टो सुधार) का परिणाम बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त या बंगाल विभाजन की अपेक्षा अधिक विनाशकारी हुआ।[48]

मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड योजना मे कांग्रेस–लीग योजना की कुछ धाराओ मे परिवर्तन कर दिया गया। इसमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व सम्बन्धी धारा मे भी परिवर्तन कर दिया गया। उत्तर प्रदेश के अधिकाश मुस्लिम राजनीतिज्ञो ने सुधार योजना का विरोध किया क्योकि इससे वे लखनऊ समझौते के अनुकूल प्रदान किये गये मुस्लिम प्रतिनिधित्व से वचित हो गये थे।[49] सरकार द्वारा इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की भर्त्सना करने से भी मुसलमानो मे सरकारी नीति के प्रति क्षोभ था। कुछ मुस्लिम राजनीतिज्ञो ने विरोध को इस रूप मे भी प्रस्तुत किया, जैसे वे मुस्लिम हितो के प्रतीक हो। 1918 के दिल्ली के मुस्लिम लीग अधिवेशन में डा. मुख्तार अहमद अंसारी ने सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुये कहा था कि "पृथक निर्वाचन तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न हमारे वर्तमान राजनीतिक क्रियाकलापों की जीवन एव आत्मा है।"[50] उत्तर प्रदेश मे 105 सदस्यो वाली लेजिस्लेटिव एसेम्बली मे तीस स्थान मुसलमानों के लिए आरक्षित किये गये। इनमें से 11 विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित होने थे। 1918 के अन्त तक इन धाराओं के प्रभाव से मुस्लिम राजनीतिज्ञ अवगत हो

चुके थे। प्रारम्भ मे उनमे कुछ मतभेद रहा, परन्तु बाद मे वे मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार योजना के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने लगे। इतना अवश्य था कि मॉण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारो के प्रति मुसलमान प्रायः सशकित थे। खिलाफत तथा धार्मिक स्थान के प्रश्न पर सरकार के दृष्टिकोण से उनमें शकाये बढ गयी।[51]

इस बीच मुस्लिम लीग में मौजूद अतिवादी तत्वों पर धार्मिक, मुल्लाओ का प्रभाव बढने लगा था। इसे 1916 के लखनऊ पैक्ट एव 1918 के मुस्लिम लीग अधिवेशन में उलेमा की उपस्थिति[52] के रूप में देखा जा सकता है। मुस्लिम लीग जो अब तक मुस्लिम राजनीति के केन्द्र में थी, राजनीतिक परिदृश्य से ओझल होती सी लगी, जब मुसलमानों का एक नया सगठन 'अखिल भारतीय खिलाफत संगठन' अस्तित्व में आया, जिसमे हिन्दुओ ने भी सक्रिय भूमिका अदा की। यहॉ तक कि आर्य समाज से सम्बन्ध रखने वाले स्वामी श्रद्धानन्द एवं प नेकीराम ने भी मुस्लिम लीग की बैठको मे भाषण दिया।[53] इस सहयोग के फलस्वरुप 'एक समय ऐसा भी आया कि मुस्लिम राजनीति से सम्बन्धित सम्पूर्ण दिशा निर्देशन सैयद अहमद, मोहसिन उल मुल्क तथा विकार उल मुल्क के हाथों से निकलकर हिन्दू बनिया (महात्मा गांधी) के हाथो में आ गया।'[54] दूसरी तरफ मुसलमान भी काग्रेस सगठन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रो के द्वारा तुर्की सुल्तान के साथ किया गये व्यवहार के विरोधस्वरूप प्रादुर्भूत खिलाफत आन्दोलन से साम्प्रदायिकता के तीसरे चरण की शुरुआत मानी जा सकती है। भारतीय मुसलमान यह चाहते थे कि तुर्की सुल्तान का नियत्रण मुसलमानो के पवित्र स्थानो के ऊपर बना रहे। वास्तव में इनकी तीन मुख्य मॉगे थी, जिन्हे मुहम्मद अली ने पेरिस मे राजनयिकों के समक्ष रखा – 1. मुसलमानों के पवित्र स्थानो पर तुर्की के सुल्तान खलीफा का नियंत्रण रहे। 2. खलीफा के अधीन इतना भू–भाग रहे कि वह इस्लाम की रक्षा कर सके और 3. जजीर तुल अरब अर्थात अरब, सीरिया ईराक और फिलीस्तीन के ऊपर मुसलमानों की सम्प्रभुता बनी रहे। इस आन्दोलन मे नरमदलीय और जुझारू दो धाराये देखने को मिलती है। महात्मा गॉधी का इन दोनों प्रवृत्ति के लोगों से

सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। नरम वर्ग के लोग जिसमे बम्बई के चोटानी जैसे समृद्ध व्यापारी थे, ने सवैधानिक मार्ग अपनाने की वकालत की। दूसरी ओर जुझारू वर्ग के लोग जिसमे निम्न मध्यमवर्गीय पत्रकार उलेमा सम्मिलित थे देशव्यापी हडताल करने पर बल दिया।

इस आन्दोलन के अतिशय धार्मिक दृष्टिकोण के बावजूद कांग्रेस द्वारा दिये गये समर्थन के परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम नेताओं के दृष्टिकोण मे अन्तर्निहित साम्प्रदायिक दृष्टि का विवेचन किया जा सकता है क्योंकि आन्दोलन की असफलता के बाद उत्पन्न साम्प्रदायिक तनाव इसकी पुष्टि करते है। अक्टूबर (1919 ई) का आरम्भ होते ही खिलाफती नेता खिलाफत दिवस के प्रति जनमत तैयार करने में संलग्न हुये। खिलाफत दिवस पर सभी मुसलमानों के व्रत रहने एव प्रार्थना करने, अपने व्यवसायो को स्थगित करने, दुकाने बन्द करने, बडी सभाये बुलाने तथा तुर्की को धोखा दिये जाने के विरोध मे प्रस्ताव पारित करने की योजना थी।[55] इस सम्बन्ध मे खिलाफती नेताओ ने प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। उत्तर प्रदेश मे उग्रवादी खिलाफती नेताओ ने अक्टूबर के दूसरे सप्ताह मे समस्त भारतीयो से 17 अक्टूबर को दुकानें बन्द रखने का आग्रह किया।[56] उनके आग्रह मे यह आकर्षण भी था कि यदि समस्त भारतीय तुर्की के प्रश्न पर मुसलमानो का साथ देते हैं, तो मुसलमान गोहत्या का निषेध करेगे।[57] मौलाना अब्दुल बारी और महात्मा गांधी के बीच इस विषय पर कोई पूर्व समझौता होने का आभास मिलता है।[58] अधिकांश हिन्दुओ एवं हिन्दू नेताओ ने मुसलमानो के उपरोक्त दृष्टिकोण को एक चाल समझा। परन्तु 'आगरा और अवध के सयुक्त प्रान्तो के उपरोक्त नेताओं की इस चाल को अवश्य सफलता मिली।[59]

1920 के मध्य तक आते–आते उत्तर प्रदेश में खिलाफत आन्दोलन को सभी वर्गो का समर्थन मिलने लगा था। सहयोग का स्वरूप उस समय अधिक स्पष्ट हुआ जब, इलाहाबाद के कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेताओं ने खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों का साथ दिया। इनमें मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, सुन्दरलाल, पुरुषोत्तम दास टण्डन एवं कृष्णकान्त मालवीय प्रमुख थे। ये भारतीय नेता लखनऊ समझौते के प्रति प्रायः ईमानदार बने रहे। लेकिन दूसरी ओर खिलाफत आन्दोलन मे धार्मिक कट्टरता का समावेश होता गया। राष्ट्रीय नेताओं के कई बार ध्यान दिलाने के बावजूद उग्र धार्मिक खिलाफती नेताओ ने कोई ध्यान नहीं दिया।

परिणामस्वरूप मार्च 1920 के अन्त तक प्रान्त में राष्ट्रीय नेताओ को पुन: अपनी नीति पर विचार करने के लिये बाध्य होना पडा। इन नेताओं के असन्तोष का स्पष्टीकरण मई के प्रारम्भ मे बरेली के 'राजनीतिक डिवीजनल सम्मेलन' मे हुआ। इस सम्मेलन मे शौकत अली ने खिलाफत के प्रश्न पर प्रभावशाली भाषण दिया था। सम्मेलन की समाप्ति के बाद अनेक भारतीय नेताओं ने जिलाधीश के पास जाकर यह स्वीकार किया कि खिलाफत की शिक्षा एक क्रान्ति की शिक्षा थी, अत: उन्होने इससे अपने को पूर्णतया अलग कर लिया था।''[60] उपरोक्त भारतीय नेताओ का पृथकत्व मुस्लिम धार्मिक कट्टरता का परिणाम था, जिसने बाद की साम्प्रदायिक स्थितियों को और अधिक जटिल बनाया।

मई 1920 तक गॉधी जी नरम दल वालों के दृष्टिकोण के पक्षधर थे। लेकिन जब 14 मई 1920 को तुर्की के साथ सेव्र की संधि की कडी शर्ते प्रकाशित की गयीं और इसके बाद 28 मई 1920 को पजाब के उपद्रवों से सम्बन्धित हण्टर आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो गॉधी ने देशव्यापी हडताल की नीति का न केवल समर्थन किया बल्कि उसे कार्यान्वित करने मे अपनी सक्रिय भूमिका अदा की। 30 और 31 मई 1920 को बनारस मे अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलाई गयी। इसमे तुर्की के भविष्य के साथ–साथ हण्टर समिति की रिपोर्ट पर विचार किया गया। लम्बे विचार–विमर्श के बाद भी असहयोग पर सहमति नही हो सकी। खिलाफत समस्या पर व्यापक विचार–विमर्श और राष्ट्रीय नीति तैयार करने के उद्देश्य से अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इस प्रकार एक से तीन जून 1920 को इलाहाबाद मे सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन को प्रभावशाली बनाने के लिए सभी भारतीयो से उपस्थित होने का आग्रह किया गया था।[61] सम्मेलन मे कुल 6 महत्वपूर्ण सभायें हुई, जिनमे केन्द्रीय खिलाफत समिति की दो सभा, हिन्दू एवं मुस्लिम नेताओ की सयुक्त दो सभायें और दो सभा उलेमा की हुई।[62] यहॉ भी धार्मिक दृष्टिकोण की सक्रियता खटकने वाली बात थी क्योकि इलाहाबाद स्टेशन पर कुछ स्थानीय मुसलमानो एवं स्वयं सेवको ने 'शौकत अली का स्वागत तलवारे खीचकर किया एवं उन्हे अल्लाहो अकबर के नारो के बीच शहर मे घुमाया गया।[63]

केन्द्रीय खिलाफत समिति की बैठक मे भी धार्मिक दृष्टिकोण का ही प्रभुत्व था। समिति की बैठक मे असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव के समय

शाब्दिक झडपें भी हुईं जिसमें शौकत अली के अन्धानुभक्तों का बोलबाला रहा।[64] विवाद उस समय उत्पन्न हुआ जब कुछ सदस्यो ने यह आशंका व्यक्त की कि काग्रेस असहयोग में उनका सीधे सहयोग नही करेगी, जिस पर अनेक सदस्यों ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। अब्दुल बारी ने हिन्दुओं पर मुसलमानों के साथ खिलवाड करने का आरोप लगाया और भावावेश में गॉधी को उत्तरदायी ठहराया।[65] इस मुस्लिम दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया हिन्दुओं पर स्वाभाविक हुई। उसी दिन रेलवे थियेटर में रात्रि में हिन्दू–मुस्लिम नेताओं की संयुक्त सभा हुई। सभा में यद्यपि 300 व्यक्ति उपस्थित थे, परन्तु हिन्दुओं की संख्या बहुत कम थी। केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के निदेशक ने स्वीकार किया था कि "गुप्तचरों तथा बाहरी लोगों को न घूमने देने के लिये सभा में सभी सावधानियॉ बरती गयी थी।"[66] गैर मुस्लिम भारतीयो में तेजबहादुर सप्रू, चिन्तामणि, एनीबेसेन्ट, मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, महात्मा गॉधी, मदनमोहन मालवीय जैसे नेता उपस्थित थे, लेकिन हिन्दुओं की कुल संख्या 25 से अधिक नहीं थी।

केन्द्रीय खिलाफत समिति की कार्यवाही में अग्रणी कांग्रेसी नेताओं ने यह मत व्यक्त किया कि 15 सितम्बर 1920 से पहले (जबकि कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन होना था) वे असहयोग में भाग नही ले सकेगे। कांग्रेस नेताओ के इस दृष्टिकोण पर शौकत अली ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने क्रोध मे बहुत कुछ कह डाला। पं. मदन मोहन मालवीय 'जो सम्मानपूर्वक भाषण सुनने के अभ्यस्त थे, निर्वाक बैठे रहे।'[67] इस सभा की महत्वहीनता इसी से स्पष्ट है कि "संयुक्त सम्मेलन के समक्ष कोई प्रस्ताव नही रखा गया, जिससे कोई प्रस्ताव पारित नहीं हो सका।"[68] मुसलमानों में भी कई प्रश्नों पर मतभेद थे, किन्तु शौकत अली तथा अब्दुल बारी के तीव्र आक्रमण से वे खुलकर विरोध नहीं कर सके।[69] अन्त मे आन्दोलन को पूरी तरह से गॉधी के नेतृत्व में छोड़ दिया गया।

दो जून की सभा मे उग्रवादी मुसलमानों का तेवर और भी आक्रामक हो गया। हसरत मोहानी ने अंग्रेजों को भारत से बाहर करने के उद्देश्य से भारत पर आक्रमण करने वाली किसी भी अफगान सेना में चले जाने की बात कही, इस पर कुछ हिन्दू नेताओं ने उनसे स्पष्टीकरण मॉगा। इस पर शौकत अली बीच में कूद पडे। उन्होंने आक्रामक स्वर मे कहा कि 'उनके धार्मिक स्थलों को पहले ही छीना जा चुका है। इस्लाम को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है और अब कुछ बचा भी नही है। यदि कोई

भी मुसलमान आक्रमणकारी खिलाफत के पक्ष में अंग्रेजो को दण्ड देने बाहर से आता है तो मुसलमान उनके साथ हाथ मिलायेंगे। अतः अग्रेज अपने अन्याय तथा इस्लाम के प्रति क्रूरता के लिये ऐसे ही दण्ड के भागी हैं।[70] सोमानी, जफर अली खॉ, आजाद आदि ने उनका समर्थन किया, परन्तु उपरोक्त भावनात्मक भाषण अनेक भारतीयों को प्रभावित नही कर सका। लाजपत राय ने तो उन्हें चेतावनी दी कि – 'शौकत अली की तरह व्यवहार करने पर हिन्दू उनका विरोध करेंगे।'[71] इस प्रकार स्पष्ट है कि मुस्लिम धार्मिक मुद्दो के आधार पर चलाये गये खिलाफत आन्दोलन में मुस्लिम नेताओं का दृष्टिकोण धार्मिक पूर्वाग्रह से युक्त था, क्योंकि आन्दोलन के समाप्त होने पर साम्प्रदायिक घटनाओं की बाढ आ गयी।

खिलाफत आन्दोलन अखिल इस्लामवाद की पराकाष्ठा थी। बहुत से मुसलमान धार्मिक भावनाओं के कारण इसे समर्थन दे रहे थे। चौरीचौरा काण्ड के बाद असहयोग आन्दोलन की समाप्ति हुई और इसके बाद के वर्षो में हिन्दू एवं मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विस्तार बडी तेजी से हुआ। यह इस काल की सबसे गंभीर, स्थायी और नकारात्मक संवृत्ति थी। सितम्बर 1924 में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे एक हिसक हिन्दू विरोधी उपद्रव हुआ, जिसमें 155 लोग मारे गये।[72] अप्रैल और जुलाई 1926 के बीच कलकत्ता में दंगों की तीन लहरें आयीं, जिनमे 138 लोग मारे गये।[73] उसी वर्ष ढाका, रावलपिंडी और दिल्ली में भी उपद्रव हुये। 1923–27 के बीच संयुक्त प्रान्त जो सर्वाधिक दगा प्रभावित प्रान्त था, मे 91 साम्प्रदायिक उपद्रव हुये।[74] इन सभी साम्प्रदायिक दंगो की पृष्ठभूमि मे दो मुख्य मुद्दे थे– मुसलमानो की मॉग थी कि मस्जिद के आगे बाजे न बजाये जायॅ और हिन्दुओ की मॉग थी कि गोहत्या बन्द की जाय।

तेजी से बढते साम्प्रदायिक संगठनो एवं विचारधाराओं ने अभिजन सम्प्रदायवाद और जन सम्प्रदायवाद के बीच एक कडी प्रदान की। इसमे मुस्लिम साम्प्रदायिकता को आगे बढ़ाने मे तबलीग एवं तंजीम का प्रसार, 1924 का कोहट उपद्रव, खिलाफत संगठनो के तितर–बितर हो जाने पर मुस्लिम लीग की पुनः सक्रियता और 1926 मे स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या ने अपना योगदान किया। 1924 के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये मुहम्मद अली जिन्ना ने ऐसे संघ की मॉंग की जिसमें मुस्लिम बहुल क्षेत्रो को हिन्दुओ के प्रभुत्व से बचाने के लिये पूर्ण प्रान्तीय स्वायत्तता प्राप्त हो। यह मॉग अलग निर्वाचक मडलो के अतिरिक्त थी। इस तरह यह कहा जा

सकता है कि 'दो राष्ट्र के सिद्धान्त' की पृष्ठभूमि धीरे-धीरे तैयार हो रही थी। दूसरी ओर हिन्दुओं में भी साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ रही थी। वास्तव मे तजीम और तबलीग बहुत सीमा तक आर्य समाजियो के शुद्धि और संगठन के जवाब थे। यहॉ ध्यातव्य है कि आर्य समाजियों ने मोपलो द्वारा बलपूर्वक हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के बाद शुद्धि आन्दोलन चलाया था, जिसे श्रद्धानन्द द्वारा 1923 के बाद संयुक्त प्रान्त में भी आरम्भ किया गया। इसका उद्देश्य उन मलकान राजपूतों, गूजरो और बनियों को पुनः हिन्दू बनाना था, जिन्हें मुसलमान बनाया गया था।

हिन्दू साम्प्रदायिकता का एक और आयाम असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद हिन्दू महासभा का फिर से सक्रिय होना था। विदित है कि हिन्दू महासभा की स्थापना पं. मदन मोहन मालवीय और कुछ पंजाबी नेताओं ने हरिद्वार में कुंभ मेले (1915) में की थी। लेकिन असहयोग आन्दोलन के दिनों में यह निष्क्रिय हो चुकी थी। किन्तु 1922-23 मे बड़े पैमाने पर इसका पुनरुत्थान हुआ। अगस्त 1923 के बाद इसके बनारस अधिवेशन मे शुद्धि का कार्यक्रम भी सम्मिलित था और हिन्दू आत्मरक्षा जत्थो के निर्माण का आह्वान किया गया था। यह अधिवेशन आर्यसमाजी सुधारवादियों एव सनातन धर्मसभा के रूढिवादियों के गठजोड से बने एक साझे हिन्दू मोर्चे का प्रतिनिधित्व करता था, जिसके अध्यक्ष मालवीय स्वय थे। हिन्दी को हिन्दुओं से जोडने वाली बात काफी हद तक महासभा वालो की प्रचार थी। इस कारण इसका विशेष आकर्षण भी मुख्यतः उत्तर भारत तक सीमित रहा। इनसे बढकर जो सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई वह थी, 1925 में नागपुर में तिलक के पुराने सहयोगी वी.एस. मुंजे के अनुयायी के.बी. हेडगेवार द्वारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना, जिसने हिन्दुओं को उग्र बनाने एवं उनमें साम्प्रदायिक भावनाओं का विकास करने में अहम् भूमिका अदा की।

नवम्बर 1927 मे ब्रिटिश सरकार ने भारत में 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत किये गये सुधारो के कार्यान्वयन के मूल्यांकन के लिये साइमन कमीशन का गठन किया। 1919 के अधिनियम में यह प्रावधान किया गया था कि दस वर्ष के अन्तराल पर एक ऐसे आयोग का गठन किया जायेगा। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव और भारत मे तेजी से बदल रहे राजनीतिक परिदृश्य को ध्यान मे रखते हुये ब्रिटिश सरकार को इस प्रकार के आयोग का गठन करना पड़ा। यह पूरी तरह से यूरोपीय लोगो का

आयोग था। अतः सभी प्रतिष्ठित राजनीतिक समूहो ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया। किन्तु मुस्लिम समुदाय के लोगो द्वारा बहिष्कार का समर्थन नही किया गया। मुसलमानो के द्वारा सयुक्त प्रान्त के कुछ जिलो मे कमीशन के विरोध मे प्रस्तावित हड़ताल तथा बहिष्कार के खिलाफ सभा हुई थी। लेजिस्लेटिव कौसिल के कुल इकतीस मुस्लिम सदस्यों में से इक्कीस ने घोषणा पत्र जारी करते हुये कमीशन के खिलाफ प्रस्तावित हड़ताल तथा बहिष्कार की घोषणा का विरोध किया।[75] संयुक्त प्रान्त के शासन की दृष्टि में 3 फरवरी की जिस हडताल का अत्यधिक प्रचार किया गया था, वह मुस्लिमों के अलग रहने, हिन्दुओं के आधे मन से भाग लेने तथा वर्षा होने से सभाओं के न होने के कारण असफल रही।[76] किन्तु भारतीय समाचार पत्रों के अनुसार–"3 फरवरी की हड़ताल अभूतपूर्व सफलता के साथ हुई।"[77] स्पष्ट है कि मुस्लिम मानस राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को अलग किये हुये था, जिसका कारण उसका धार्मिक–साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी था जैसा कि नेहरू रिपोर्ट पर उनकी प्रतिक्रिया से ज्ञात होता है।

भारत सचिव लार्ड बरकेनहेड के व्यग्य कि भारतीय किसी भी व्यवहारिक राजनीतिक योजना पर एकमत होने में अक्षम है, ने भारतीयो को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि उन्हे एक ऐसे संविधान की रूपरेखा तैयार करनी चाहिये जो सभी को स्वीकार्य हो। इसके लिए एक सर्वदलीय सम्मेलन की बात होने लगी। जिन्ना ने मार्च 1927 मे ही मुस्लिम नेताओ को समझौते के लिये तैयार कर लिया था, जिसके अनुसार अगर संयुक्त निर्वाचक मंडलो के साथ–साथ मुसलमानो को आरक्षित सीटों के लिये एक तिहाई प्रतिनिधित्व तथा पंजाब, बगाल एवं तीन नये मुस्लिम बहुल प्रान्तो सिन्ध, बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे मुसलमानो को जनसख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व देने का वादा किया जाता तो मुसलमान पृथक निर्वाचक मंडलों को छोडने के लिये तैयार हो जाते। इस प्रस्ताव को दिसम्बर 1927 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन मे दोहराया गया। यद्यपि कि मुहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के एक विद्रोही गुट का अधिवेशन लाहौर मे हुआ, जिसमे इन प्रस्तावो का प्रबल विरोध किया गया।

दूसरी ओर हिन्दू महासभा ने मुसलमानों के इस रवैये पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। 24 मार्च 1928 को अयोध्या में अवध हिन्दू सम्मेलन का आयोजन किया गया था। सम्मेलन की अध्यक्षता डा. बी.एस.मुंजे ने की थी। कुल उपस्थिति 3000 थी। प्रान्त के सभी जिलों के प्रतिनिधि थे। डा.

गुओ ने जहाँ एक ओर अछूतो को ऊपर उठाने का आग्रह किया, वही दूसरी ओर स्वराज प्राप्ति का एकमात्र उपाय हिन्दू संगठन को बताया था। उन्होने मुसलमानो का आह्वान किया था कि राष्ट्रीय आन्दोलन मे मोल–तोल का भाव छोडकर हिन्दुओ का साथ दें और उनसे कन्धें से कन्धा मिलाकर आगे बढे। हिन्दू स्वराज्य चाहता है पर हिन्दुत्व को देकर नहीं।[78] इतना ही नहीं अप्रैल 1928 मे हिन्दू महासभा के नेता एन.सी. केलकर ने जबलपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकृत कराया था, जिसमें इस बात का आह्वान किया गया था कि गैर हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में दीक्षित किया जाय। ऐसी बातें हिन्दुओं में साम्प्रदायिक भावनाओं को निश्चित रूप से भड़काती थीं और जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया मुस्लिम समुदाय में भी होती थी।

मई 1927 मे ही काग्रेस ने जिन्ना के प्रस्ताव को करीब–करीब स्वीकार कर लिया था, लेकिन पजाब और महाराष्ट्र से साम्प्रदायिक दबाव पडने पर काग्रेस को अपनी बात से पीछे हटना पडा। फरवरी 1928 में दिल्ली एव मई मे बम्बई मे सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। अगस्त में लखनऊ में नेहरू रिपोर्ट अंतिम रूप से प्रस्तुत हुई। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को लेकर इस सम्मेलन मे समझौता वार्ताओं एवं झडपो का लम्बा सिलसिला चला। हिन्दू सम्प्रदायवादियो ने आमतौर पर नये मुस्लिम बहुल प्रान्तों एव पंजाब तथा बगाल मे बहुसख्यको के लिये सीटो को आरक्षित किये जाने का विरोध किया। नेहरू रिपोर्ट ने महासभा को अनेक रियायते प्रदान की। इसमे प्रत्येक स्थान पर संयुक्त निर्वाचक मंडलो का प्रस्ताव था। आरक्षित सीटे या तो केन्द्र मे होनी थी या केवल उन प्रान्तों मे जहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक थे। राजनीतिक सरचना मोटे तौर पर एकात्मक रहती, जिसमें केन्द्र के पास अवशिष्ट शक्तियाँ भी रहतीं।

नेहरू रिपोर्ट पर मुस्लिम प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से नकारात्मक रही। कानपुर में संयुक्त प्रान्त के 'आल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेस' का अधिवेशन 5 नवम्बर 1928 को शौकत अली की अध्यक्षता मे हुआ। अधिवेशन मे नेहरू रिपोर्ट की आलोचना की गयी थी। पृथक निर्वाचन क्षेत्रों, प्रान्तीय कौंसिल में मुसलमानो की वर्तमान संख्या को बरकरार रखने तथा उर्दू भाषा को संरक्षण प्रदान करने की माँग की गयी थी। संयुक्त प्रान्त के शासन की दृष्टि से अली इमाम, डा. एम.ए. अन्सारी, महाराजा महमूदाबाद और शौकत अली जैसे मुस्लिम नेता इस सभा में अल्पमत मे थे क्योंकि रिपोर्ट तैयार करने के लिये नेहरू कमेटी को धन्यवाद देने का प्रस्ताव मात्र

चार मतो से पारित हुआ था। शासन ने स्वीकार किया था कि नेहरू रिपोर्ट के विरुद्ध मुस्लिम विरोध तेजी से बढ रहा था।[79] नेहरू रिपोर्ट पर जिन्ना ने 1929 मे अपनी चौदह सूत्री योजना प्रस्तुत की जो बाद मे लीग के प्रचार आन्दोलन का आधार हुई। ये चौदह सूत्र नेहरू कमेटी की रिपोर्ट के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझावों के विरोधी थे। इस योजना की मुख्य बातें थी कुछ विषयों पर प्रान्तीय स्वायत्तता के साथ सघीय राज्य की स्थापना, केन्द्रीय विधायिका सभा में कम से कम एक तिहाई मुस्लिम प्रतिनिधित्व, पृथक निर्वाचन इकाइयॉ, किसी भी केन्द्रीय या प्रान्तीय मंत्रिमण्डल में एक तिहाई मुस्लिम मंत्रियों की व्यवस्था।'[80] महासभा के नेता एम.आर. जयकर इससे सहमत नही थे। जिन्ना ने आगे बढ़कर पृथक निर्वाचक मंडल की बात फिर उठायी और कहा कि यह व्यवस्था तब तक चलनी चाहिये, जब तक कि हिन्दू अन्य बातों को स्वीकार न कर लें।

इस समय की मुस्लिम राजनीति पर दृष्टिपात किया जाय तो नेहरू रिपोर्ट पर न केवल उनमे विभाजन था अपितु बहुसंख्यक दृष्टिकोण साम्प्रदायिक भी था। 30 और 31 मार्च 1929 को दिल्ली मे मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ।[81] इस अधिवेशन का मूल उद्देश्य मुसलमानों की राजनीतिक एकता स्थापित करना था। इस अधिवेशन के पहले तक मुसलमान साधारणत· दो दलो में विभक्त थे। एक दल मुस्लिम लीग का और दूसरा सर मु. शफी का था। यह दूसरा दल भी अपने को मुस्लिम लीग कहता था। अतएव पहला दल जिन्ना लीग और दूसरा दल शफी लीग के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यहॉ स्पष्ट करना आवश्यक है कि शफी लीग घोर साम्प्रदायिक था। जिन्ना लीग तो कुछ शर्तो पर नेहरू रिपोर्ट मानने को तैयार थी, परन्तु शफी लीग बिल्कुल तैयार नहीं थी। परिणामस्वरूप भारत के मुसलमानो की राजनीतिक विषयो पर कोई एक राय नहीं थी और दिल्ली अधिवेशन का यह उद्देश्य कि मुसलमानो मे राजनीतिक एकता कायम की जाय, भी सफल नही हुआ और परिणाम विपरीत हुआ, दोनो दलों को मिलाने के लिये लीग का जो अधिवेशन बुलाया गया था, उसके स्थान पर चार दल बन गये।[82]

इनमे पहला दल स्वराज्यवादी था, वह नेहरू रिपोर्ट का समर्थक था। यह मानता था कि मुसलमानो का हित राष्ट्रीयता मे ही है, साम्प्रदायिकता हानिकारक है। यह सयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों का पक्षपाती था और इस बात पर जोर देता था कि केन्द्रीय सरकार मजबूत होनी चाहिये, जिससे वह सब

प्रान्तों को एक साथ बनाये रख सके। मौलाना अबुल कलाम आजाद, डा. एम.ए. अन्सारी, टी.ए.के. शेरवानी राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। दूसरा दल जिन्ना का था, जो संयुक्त निर्वाचन को अच्छा तो समझता था, लेकिन मानने के लिये तैयार नही था। तीसरा शफी दल था, जो मुसलमानों के लिए अधिक से अधिक दावा करता था और समझता था कि हिन्दू स्वयं सिर झुकाने को बाध्य होंगे। जिन्ना और शफी में मौलिक मतभेद इतना ही था कि शफी साहब दिखा रहे थे कि मुसलमान किसी दशा में पृथक निर्वाचन का त्याग नहीं करेंगे और जिन्ना साहब त्याग करने को तैयार थे, यदि उसका पूरा मूल्य मिल जाय। चौथा दल दिल्ली मुस्लिम कान्फ्रेंस वालों का था, वह इस बात पर जोर देता था कि प्रान्तों को ही सारा अधिकार दिया जाय। इसका अभिप्राय था कि मुस्लिम प्रान्तों मे मुसलमान और हिन्दू प्रान्तों में हिन्दू मनमानी कर सकेगे। यदि एक प्रान्त मे हिन्दू मुसलमानों पर मनमानी करेंगे, तो दूसरे प्रान्त के हिन्दू से बदला लिया जायेगा। यह दल पूर्ण स्वतंत्रता भी चाहता था और साम्प्रदायिक अधिकार भी। इस अन्तर्विरोध को स्वीकार करते हुये नई दिल्ली मे मुस्लिम लीग की कौसिल की 31 मार्च 1929 की बैठक में जिन्ना ने कहा था – "मैं खुद राष्ट्रवादी हूँ पर मै यह कहने को राजी हूँ कि मुसलमानो मे तीन दल है, एक नेहरु योजना स्वीकार करना चाहता है, दूसरा अस्वीकार करना और तीसरा समझौता करना।"[83] स्पष्ट है कि इन मॉगों एवं मन्तव्यों पर एकमत न होना मात्र राजनीतिक ऐक्य का न होना ही नहीं था, बल्कि इसके पीछे साम्प्रदायिक दृष्टि काम कर रही थी।

ऐसे ऊहापोह के वातावरण मे मुसलमानों की ओर से एक सकारात्मक प्रयास दृष्टिगत होता है, जब जुलाई 1929 में इलाहाबाद मे राष्ट्रीय विचार के मुसलमानो ने अपनी सभा करके 'राष्ट्रीय मुस्लिम दल' का गठन किया था।[84] दल के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद और मंत्री टी.ए.के. शेरवानी थे। सयुक्त प्रान्त मे राष्ट्रीय मुस्लिम दल को संगठित करने का भार टी.ए.के. शेरवानी, मंसूर अली नदवी, चौ. खलीकुज्जमाँ तथा रफी अहमद किदवई को सौपा गया था। दल का उद्देश्य था– भारत में मुसलमानों में राष्ट्रीयता का भाव बढ़ाना, मुसलमानो को राष्ट्रीय लड़ाई में सम्मिलित करने के लिए उत्साहित करना और बहुसंख्यक सम्प्रदाय और अल्पसंख्यक सम्प्रदाय में ऐसा सम्बन्ध उत्पन्न करना, जिससे बहुसंख्यक सम्प्रदाय के लोग अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोगों के अधिकार का विचार

व्यापक देशभक्ति की दृष्टि से करें और अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोग सच्ची राष्ट्रीयता की दृष्टि से अपने अधिकारो का विचार करें।[85]

हिन्दू महासभा ने भी सूरत के अधिवेशन मे जो निर्णय लिया था उसके अनुसार दिसम्बर 1928 में नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया था, किन्तु अब उसने समर्थन वापस ले लिया। इसका कारण यह बताया गया था कि दिल्ली मे मुस्लिम कान्फ्रेन्स ने नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया था। अतः महासभा भी समर्थन नहीं करती, क्योंकि महासभा ने इसलिए समर्थन किया था कि इससे सब सम्प्रदायों में एकता हो जाय, पर मुस्लिम कान्फ्रेंस ने इस पर पानी फेर दिया।[86] लेकिन हिन्दू महासभा का यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण नही कहा जा सकता क्योंकि दिल्ली का मुस्लिम कान्फ्रेन्स सम्पूर्ण मुस्लिम समुदाय का निर्णय न होकर एक वर्ग विशेष का निर्णय था। इस प्रकार नेहरू रिपोर्ट जैसे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय सांविधानिक मसविदे पर मुस्लिम समुदाय मे तो विभाजन था ही, हिन्दू महासभा का निर्णय भी सराहनीय नही था। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार किये जाने की स्थिति मे कांग्रेस जनवरी 1930 से आन्दोलन आरम्भ करने के लिये कृत संकल्प थी। ऐसी स्थिति में मुस्लिम समुदाय के वर्ग विशेष तथा हिन्दू महासभा द्वारा नेहरू रिपोर्ट का समर्थन न किया जाना राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करना था। इस तरह 1919—29 के काल मे साम्प्रदायिकता ने अपने लिये सुदृढ़ स्थान बना लिया था। हिन्दू एवं मुसलमान एक ऐसी स्थिति मे पहुँच गये थे, जहाँ से राजनीतिक दृष्टि से एक होना मुश्किल हो रहा था। वास्तव मे जब सर्वदलीय सम्मेलन ने जयकर के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया, तो जिन्ना ने कहा था कि — "यह रास्तों के अलग हो जाने जैसी स्थिति है", और दो वर्ष बाद जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन हुआ तो मुस्लिम नेतृत्व ने मुसलमानों को इस आन्दोलन से अपने आपको अलग रखने की अपील की।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे अपने को अलग रखने की नीति की पुष्टि संयुक्त प्रान्त से सम्बन्धित एक रिपोर्ट से भी होती है— वस्तुत. 1932 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन को अस्तित्व प्रदान करने मे सयुक्त प्रान्त का सर्वाधिक योगदान था। दूसरा तथ्य यह भी था कि सयुक्त प्रान्त में इस संघर्ष को जीवित रखने में हिन्दुओं ने ही अपना रक्त बहाया था। इसकी पुष्टि के लिये 2 दिसम्बर 1932 को संयुक्त प्रान्तीय सरकार के सचिव द्वारा भारत सरकार को भेजे गये पत्र का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। पत्र में

प्रान्त के विभिन्न जेलो में बन्द किये गये लोगो के विषय मे एक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था। जो निम्नलिखित था।[87]

1. लखनऊ कैम्प जेल में 1735 कैदियों मे 1721 (99 2 प्रतिशत) हिन्दू थे।
2. लखनऊ जिला जेल में 765 कैदियों में 735 (98.7 प्रतिशत) हिन्दू थे।
3. रायबरेली जेल में सभी कैदी हिन्दू थे।
4. फैजाबाद जेल में 140 में 135 (96.4 प्रतिशत) हिन्दू थे।

यद्यपि कि आँकड़े पूरे प्रदेश से नही है फिर भी इससे मुस्लिम अलगाव के बारे मे महत्वपूर्ण सूचना मिलती है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

साम्प्रदायिकता के चौथे चरण में मुस्लिम लीग एक राजनीतिक पार्टी के रूप में बिखरी पड़ी थी और उसका अस्तित्व ही संकट में था। इसलिये इस दौरान मुस्लिम साम्प्रदायिकता विद्यमान तो थी लेकिन उसका स्वरूप दबा हुआ था। किन्तु इस अवधि में एक महत्वपूर्ण घटना चक्र मे भारतीय समाज को और विखण्डित करने के उद्देश्य से 1932 के द्वितीय गोलमेज सम्मेलन मे ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडॉनेल द्वारा कम्यूनल अवार्ड की घोषणा की गयी, जिसमें भारत में रह रही निम्न जातियो के लिये भी पृथक निर्वाचक मंडल की बात कही गयी। इस सम्मेलन में दलित जातियों का प्रतिनिधित्व बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर कर रहे थे। सम्मेलन मे अखिल भारतीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व कर रहे गॉधी जी ने इसका विरोध किया और बाद मे भारत आकर उन्होने इस प्रावधान के विरुद्ध आमरण अनशन प्रारम्भ किया लेकिन इस समस्या का समाधान 'पूना पैक्ट' के तहत खोज लिया गया। जिसमें हरिजन या निम्न जातियों के लिये कुछ सीटे आरक्षित की गयीं।

मुस्लिम लीग 1936 में अस्तित्व के सकट के दौर से गुजर रही थी, लेकिन जब मु. अली जिन्ना लन्दन से बैरिस्टर की प्रैक्टिस छोडकर वापस भारत आये और मुस्लिम लीग की बागडोर एक बार फिर सँभाली तो उसे नया जीवन मिला। जिन्ना ने उस वक्त अपनी इच्छा जाहिर की थी कि वे कम्यूनल एवार्ड को भूलने के लिये तैयार हैं और भारत सम्बन्धी जो वृहत

प्रश्न है, उन पर ध्यान केन्द्रित करने को भी तैयार है। यद्यपि कि मुस्लिम लीग और जिन्ना की लोकप्रियता जनता के बीच नगण्य ही थी। मुस्लिम लीग इस समय सामाजिक रूढिवादियो से भरी पड़ी थी। आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्तर और शिक्षा ही लीग मे प्रवेश के लिये निर्धारक का काम करते थे।

जिन्ना के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न मुस्लिम लीग को न केवल पुनर्जीवित या संगठित करना था बल्कि उन्हें 1937 के प्रान्तीय विधान सभाओं के होने वाले चुनावों के लिये तैयारी भी करनी थी। यहाँ पर इस तथ्य को रेखांकित करना आवश्यक है कि काग्रेस और लीग दोनों ने ही 1935 के अधिनियम के प्रति अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुये कहा था कि यह एक्ट भारतीयों की राजनीतिक इच्छाओ को संतुष्ट करने मे नाकाम रहा है। नेहरू ने तो इस एक्ट को दासता का चार्टर[88] कहा था। काग्रेस ने 1936 मे एक प्रस्ताव पारित कर कहा था कि भारतीय संविधान का निर्माण एक संविधान सभा द्वारा ही किया जा सकता है, जिसका गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो।[89] लीग ने भी सघ के ढॉचे सम्बन्धी प्रावधानों की आलोचना करते हुये इसे एक अति प्रतिक्रियावादी प्रावधान कहा था। साथ ही उसने यह भी कहा कि वह प्रान्तो में दिये गये प्रावधानों को कार्यान्वित करने के लिए तैयार है।[90] काग्रेस ने भी प्रान्तीय स्वायत्तता को कार्यान्वित करने में अपना योगदान देने का निश्चय किया। इस तरह दोनो ही पार्टियों ने अपने विरोध के बावजूद प्रान्तीय विधान सभा के चुनाव मे भाग लेने का निश्चय किया, लेकिन दोनों के ही निहित उद्देश्य भिन्न थे। दोनो चुनाव के माध्यम से अपनी पार्टी के सदेशों को जनता तक पहुँचाना चाहती थीं।[91]

जिन्ना ने मुस्लिम लीग को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से ढाका के नवाब द्वारा शुरू की गयी यूनाइटेड मुस्लिम पार्टी और फजलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी को मुस्लिम लीग में सम्मिलित कर पार्टी के क्षेत्रीय आधार को विस्तृत करने का प्रयास किया, हालाँकि पंजाब मे फजली हुसेन की यूनियनिस्ट पार्टी और बिहार में यूनाइटेड मुस्लिम और अहरार पार्टियो ने मुस्लिम लीग में अपना विलय करने से इन्कार कर दिया। इसी तरह मध्य प्रान्त एवं सिन्ध में भी मुस्लिम नेताओं को लीग में लाने का जिन्ना का प्रयास असफल रहा।[92] इस तरह व्यक्तिगत और प्रान्तीय प्रतिद्वन्दिता एक ही मुस्लिम पार्टी के निर्माण में अवरोधक बनी।[93]

संयुक्त प्रान्त मे जिन्ना को मुस्लिम युनिटी बोर्ड के साथ गठबन्धन करने मे सफलता मिली। मुस्लिम युनिटी बोर्ड का गठन 1933 मे युनिटी कान्फ्रेन्स (एकता सम्मेलन) मे किया गया था। जिसमें मुस्लिम कान्फ्रेन्स और राष्ट्रीय मुसलमान नामक सगठन, जिसका नेतृत्व खली–कुज्जमॉ कर रहे थे, एक संयुक्त मोर्चा बनाकर मुसलमानों के राजनीतिक हित को संरक्षित और विकसित करना चाहते थे। संयुक्त प्रान्त के राज्यपाल सर हेरी हेज ने लिखा है कि इन लोगों ने जिन्ना से इसलिये हाथ मिलाया, क्योंकि मुस्लिम लीग का प्रभाव संयुक्त प्रान्त में अधिक था।[94]

1936 में मुस्लिम लीग का बम्बई में चौबीसवाँ अधिवेशन हुआ। इसकी अध्यक्षता करते हुये सैयद वजीर हसन ने कहा कि मुस्लिम लीग का अन्तिम ध्येय मुसलमानों का सांविधानिक विकास करना है और स्वशासन, पूर्ण स्वतंत्रता, उत्तरदायी सरकार इत्यादि जो भी होना हो वह ब्रिटिश क्राउन की छत्रछाया मे ही हो।[95] इसी सत्र में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें पूर्ण स्वतत्रता की बात नहीं की गयी बल्कि पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की बात कही गयी।[96]

काग्रेस और लीग के चुनाव घोषणा–पत्र दोनो के उद्देश्यों एवं आदर्शो को स्पष्ट करते थे। लीग का घोषणा–पत्र अस्पष्ट था। जिसमें किसी भी मुद्दे पर अपनी प्रतिबद्धता नहीं व्यक्त की गयी थी। इसमे केवल मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों के प्रति ही चिन्ता व्यक्त की गयी थी। साथ ही अस्पष्ट रूप से ग्रामीण जनसंख्या के सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक उत्थान पर भी ध्यान देने की चेष्टा की गयी थी।[97] नेहरू द्वारा तैयार काग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र मे 1935 के अधिनियम को नकार दिया गया और इस बात को केन्द्रीय रूप से स्पष्ट किया कि भारत के स्वतत्रता संघर्ष मे जनता को अहम् भूमिका निभानी है।[98]

जैसे–जैसे चुनाव नजदीक आता गया काग्रेस (विशेषत. नेहरू) और लीग के बीच दूरी बढती गयी। उदाहरण के लिये 1936 के फैजपुर कांग्रेस में नेहरू ने इस बात पर जोर दिया कि भारत में स्वतत्रता सघर्ष की लडाई दो शक्तियों के बीच है। पहली शक्ति कांग्रेस है जो कि भारत की स्वतत्रता का प्रतिनिधित्व करती है और दूसरी भारत में ब्रिटिश सरकार और इसके समर्थक हैं जो इसका विरोध करते है और इसे दबाने का प्रयास करते है।[99] जिन्ना ने इस पर कडी आपत्ति की और नेहरू को आगाह किया

कि भारत मे एक तीसरा पक्ष भी है और यह पक्ष मुस्लिम का है।[100] नेहरू का यह विचार था कि जो स्वतत्रता के लिये संघर्ष कर रहा है, वह काग्रेस के साथ है और जो सम्प्रदायवाद को इसमे शामिल कर रहा है, वह स्वतत्रता के लिये बहुत ज्यादा उत्सुक नही है।[101] यहाँ पर यह बात याद रखनी चाहिये कि जिन्ना का एकमात्र उद्देश्य मुस्लिम लीग को मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित करना था और इसे भारतीय राजनीति में अग्रिम पंक्ति में खड़ा करना था, जिसमें कि वह बाद में कामयाब भी होते हैं।

1937 के चुनावों में कांग्रेस का प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा। उसे कुल 1585 असेम्बली सीटों मे से 711 पर विजय प्राप्त हुई और 11 मे से पांच प्रान्तों—मद्रास, बिहार, उडीसा, मध्यप्रान्त एवं संयुक्त प्रान्त में पूर्ण बहुमत मिला और बम्बई में लगभग पूर्ण बहुमत। सरकारी समर्थन के बावजूद संयुक्त प्रान्त में छत्तारी के नवाब की नेशनल एग्रीकल्चरिस्ट पार्टी और मद्रास मे जस्टिस पार्टी को मुँह की खानी पड़ी। मुस्लिम चुनाव क्षेत्रो मे कांग्रेस 58 सीटों पर लडी और 26 पर विजयी रही। इसके बावजूद उसे आत्मसन्तोष इस बात से था कि मुस्लिम लीग मुसलमानो का एक मात्र प्रतिनिधि होने का अपना दावा सिद्ध करने में असफल रही थी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे लीग एक भी सीट नही पा सकी थी और पंजाब के 84 चुनाव क्षेत्रों मे से केवल दो और सिन्ध के 33 में से केवल तीन स्थानों पर जीत सकी थी। अनुसूचित जातियों की अधिकांश सीटों पर कांग्रेस ने विजय प्राप्त की थी, लेकिन बम्बई इसका अपवाद था, जहाँ अम्बेडकर की इण्डिपेन्डेट लेबर पार्टी ने 15 में 13 सीटें जीती थीं।[102]

चुनाव मे विजय हासिल करने के बाद भी कांग्रेस में इस बात पर मतैक्य नही था कि प्रान्तों मे कांग्रेस सरकार का गठन करे या नही। मार्च 1937 मे अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के अधिवेशन मे राजेन्द्र प्रसाद और पटेल ने सशर्त पद ग्रहण करने के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव रखा। शर्त यह थी कि प्रान्त में कांग्रेस एसेम्बली पार्टी का नेता संतुष्ट हो और सार्वजनिक रूप से वक्तव्य दे सके कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का उपयोग नहीं करेगा। जयप्रकाश के नेतृत्व में वामपंथ का विरोध 78 के मुकाबले 135 मतों से पराजित हो गया। इस प्रकार दक्षिणपंथ के विचार को स्वीकृत मिल गयी। जी.डी.बिडला ने एक पत्र में इसे कांग्रेस के दक्षिणपंथ की महान विजय कहकर इसका स्वागत किया। यद्यपि लिनलिथगो ने सार्वजनिक

रूप से यह आश्वासन देना स्वीकार नहीं किया था कि गर्वनर अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग नहीं करेगे, लेकिन जुलाई 1937 तक कांग्रेस ने प्रान्तों में सरकार बनाने का निर्णय कर लिया था। इस आधार पर कि बदली हुई परिस्थितियों में गर्वनर द्वारा अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग सरल नही होगा। संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, बम्बई एवं मद्रास में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पद भार संभाला और कुछ महीनो बाद पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त एवं सितम्बर 1938 में असम में कांग्रेस मंत्रिमण्डल बना जिसमें दल–बदल का सहारा लिया गया। इस तरह के राजनीतिक कुकृत्यों में आश्चर्यजनक रूप से कांग्रेस के वामपंथी अध्यक्ष सुभाष चन्द्र बोस की भूमिका महत्वपूर्ण रही थी।

चुनाव के बाद मुस्लिम लीग को अपनी कमजोर राजनीतिक स्थिति का अहसास हुआ। जिन्ना ने इसी कारण किसी भी दल या समूह से सहयोग करने की इच्छा व्यक्त की जिसके आधारभूत सिद्धान्तो का निर्धारण आम सहमति से हो।[103] साथ ही जिन्ना ने यह साफ कर दिया था कि मुस्लिम लीग का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहेगा और मुसलमानों से मुस्लिम लीग के साथ लामबन्द होने की अपील की। नेहरू जिन्ना की शर्तो पर मुस्लिम लीग के साथ सहयोग करने को तैयार नहीं थे क्योकि उन्हे विश्वास था कि कांग्रेस अपने बल पर आर्थिक मुद्दों के आधार पर मुसलमानो को अपने पक्ष मे कर लेगी। कांग्रेस ने इसी के बाद मुसलमानों के बीच जन अभियान शुरू किया। जिन्ना को यह अपमानजनक लगा। इसके अतिरिक्त कांग्रेस के ऐसे किसी भी जन अभियान की सफलता मुस्लिम लीग को खतरे मे डाल देती, इसलिये भी जिन्ना का विरोध लाजिमी था। इसने दोनो के बीच कटुता को बढ़ाया। जिन्ना के अनुसार काग्रेस का यह प्रयास मुसलमानो को खण्डित/विभाजित या कमजोर करने की एक चाल है और मुसलमानो को उनके नेताओ से अलग–थलग करने का प्रयास है।[104]

इस बीच संयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम लीग और कांगेस के बीच सरकार बनाने हेतु बातचीत चल रही थी। ऐसा कहा जाता है कि गोविन्द बल्लभ पन्त ने लीग को किसी भी कांग्रेस मंत्रिमण्डल में दो सीटें देने का वायदा किया, लेकिन इससे नेहरू नाराज हो गये।[105] नेहरू किसी भी ऐसे विचार को अपनी सहमति नहीं दे सकते थे, जिसमे साम्प्रदायिक संगठनों के साथ सहयोग बिना किसी आम राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों के माध्यम से होता। नेहरू के अनुसार ऐसे संगठन प्रतिक्रियावादी तत्वों के हाथ मे थे,

जो ब्रिटिश शासन से सुविधायें पाने के इच्छुक थे। इस तरह संयुक्त प्रान्त में कांग्रेस–लीग मंत्रिमंडल बनने की आशा क्षीण हो गयी। दूसरी ओर जिन्ना ने भी खलीकुज्जमाँ के कांग्रेस के साथ मिलकर काम करने की इच्छा का खुला विरोध किया, क्योंकि ऐसे कार्य मुसलमानों के बीच केवल मतभेद पैदा करते थे।[106] इसके तुरन्त बाद मई 1937 में संयुक्त प्रान्त मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पारित कर कहा कि कांग्रेस और लीग के बीच उद्देश्यों में पर्याप्त अन्तर है, इसलिये मुस्लिम लीग को कांग्रेस की किसी ऐसी नीति में शामिल नहीं होना चाहिये जो कि संविधान को तोड़ने का काम करती हो।[107] मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच शत्रुवत व्यवहार जून 1937 में अपने चरम पर पहुँचा, जब झांसी हमीरपुर, उरई क्षेत्र में उपचुनाव होने वाला था। जिन्ना ने इस चुनाव में इस्लाम धर्म का राजनीतिक दुरुपयोग किया।

1937 के अपने अध्यक्षीय भाषण में जिन्ना ने कांग्रेस के विरुद्ध एक तरह से युद्ध की घोषणा कर दी। उनके भाषण में कांग्रेस को हिन्दुओं का संगठन एवं प्रान्तीय कांग्रेस सरकारों को हिन्दू राज की संज्ञा दी गयी। जिन्ना ने यह आरोप लगाया कि कांग्रेस पूरी तरह से हिन्दूवादी नीति का अनुसरण कर रही है। अपने आरोप को पुष्ट करते हुये उन्होंने हिन्दी, वन्देमातरम् और राष्ट्रीय झण्डा जैसे मुद्दों को उठाया। उन्होंने कहा कि थोड़ी सी शक्ति और उत्तरदायित्व मिलने पर बहुसंख्यक समुदाय ने यह दिखा दिया है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिये है।[108] बाद में यही मुस्लिम लीग के पीरपुर रिपोर्ट का आधार बना, जिसमें कांग्रेस सरकार के कार्यकलापों पर मुसलमानों की सामूहिक नाराजगी को व्यक्त किया गया। यह रिपोर्ट बहुत हद तक बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत की गयी थी, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि मुसलमानों को मुस्लिम लीग के पक्ष में लामबन्द करने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने से मना कर दिया क्योंकि भारत को कांग्रेस की सहमति के बिना ही युद्ध में झोंक दिया गया था। अपना विरोध दिखाने के लिये कांग्रेस ने अपनी प्रान्तीय सरकारों को अक्टूबर 1939 में त्यागपत्र देने का निर्देश दिया। इसे मुस्लिम लीग ने मुक्ति दिवस (22 दिसम्बर 1939) के रूप में मनाया। इसमें बाबा साहब अम्बेडकर भी सम्मिलित हुये। यह भी मुस्लिम लीग की मुसलमानों के बीच पैठ बनाने की एक चाल थी जिसमें वह

कामयाब रही। इतना ही नही दिसम्बर 1940 के अपने लाहौर अधिवेशन मे लीग ने स्पष्टत पाकिस्तान की मॉग की। लीग ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध मे सहयोग देने का प्रस्ताव किया यदि ब्रिटिश सरकार मुसलमानों के हितो के प्रति सजग रहे। इस तरह मुस्लिम लीग का कांग्रेस विरोध ब्रिटिश सरकार के लिये किसी भी प्रस्ताव मे वीटो का काम करने लगा। 29 जुलाई 1942 के अपने बम्बई अधिवेशन मे लीग ने प्रस्ताव पारित कर मुसलमानों से भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रबल विरोध करने की अपील की। यद्यपि कि बहुत से मुसलमानों ने व्यक्तिगत रूप से आन्दोलन में हिस्सेदारी की। फिर भी यह मानना पडेगा कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच दूरी घटने के बजाय, लगातार बढती जा रही थी, जिसको पाटने की संभावना उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी। इसके बाद 1944 में सी. राजगोपालाचारी द्वारा प्रतिपादित फार्मूला सामने आया जिसमे सिद्धान्त रूप में पाकिस्तान को स्वीकार कर लिया गया था किन्तु इस आधार पर गॉधी एव जिन्ना के बीच हुई वार्ता असफल हुई।

राजगोपालाचारी ने यह तर्क दिया था कि पाकिस्तान की मॉग भयावह नही है। इन प्रस्तावों के आधार पर यदि बातचीत सफल हो जाती तो बगाल एव पजाब में जो हिन्दू बहुल क्षेत्र थे वे अलग हो जाते और मुसलमानो को उन्ही क्षेत्रों मे आत्मनिर्णय का सिद्धान्त दिया जाता, जहॉ वे बहुसख्यक थे। सिखो को भी भारत में ही रहने दिया जाता। इस फार्मूले के तहत सुझाये गये प्रावधान विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ही लागू होते। इसके द्वारा यह कहा जा सकता है कि जिन्ना को पाकिस्तान के सम्बन्ध मे अपने विचार को और स्पष्ट करने का मौका दिया गया। जिन्ना के लिये भारत की समस्या का एकमात्र निदान या हल भारत के विभाजन पाकिस्तान या हिन्दुस्तान मे निहित था। दूसरी ओर गॉधी का यह दृढ़ मत था कि मुसलमान एक राष्ट्र नहीं हैं। मात्र इस्लाम धर्म के आधार पर उन्होने यह तर्क दिया कि क्या दोनों राष्ट्र एक हो जायेगें, यदि भारत के सभी लोग इस्लाम धर्म को स्वीकार कर ले। भारत के बहुसंख्यक मुसलमान वास्तव मे धर्मान्तरित है। इसलिये भी उन्हें अलग राष्ट्र के रूप मे नहीं देखा जा सकता।

गॉधी–जिन्ना वार्ता की असफलता से पंजाब यूनियनिस्ट पार्टी, सिख समुदाय और हिन्दू महासभा के लोग प्रसन्न हुये। लेकिन लीग से सम्बन्ध रखने वाले भी खुश थे, क्योंकि गांधी ने पाकिस्तान की मॉग को

सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया था। गाधी–जिन्ना वार्ता ने, जिन्ना का राजनीतिक कद जो कि भारत छोडो आन्दोलन के समय से छोटा हो गया था, को एक बार फिर बढा दिया।

इसके बाद वेवल योजना के तहत भारत के सांविधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास भी असफल सिद्ध हुआ, क्योंकि मुस्लिम लीग ने यह माँग की कि मुसलमानों को वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में नामित करने का अधिकार सिर्फ लीग को है। कांग्रेस इसे कभी स्वीकार नहीं कर सकती थी। इसलिये यह योजना भी असफल हुई और जिन्ना ने एक बार फिर मुस्लिम साम्प्रदायिकता का राजनीतिक उपयोग किया। इसके बाद कैबिनेट मिशन भारत आया और उसके द्वारा भारत मे सांविधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास किया गया। कैबिनेट मिशन ने भारत के राजनीतिक नेताओं से गहन विचार–विमर्श के बाद अपनी योजना दी। जिसमें पाकिस्तान की माँग को यह कहकर ठुकरा दिया गया कि यह न केवल अव्यवहारिक है बल्कि इसे स्वीकार करने से अनेक प्रशासनिक सैनिक और आर्थिक परेशानियाँ सामने आयेंगी। इसके अतिरिक्त सिखों की स्थिति भी विचित्र हो जायेगी जो कि पाकिस्तान की मॉग का समर्थन नहीं करते थे। लेकिन दूसरी ओर ब्रिटिश प्रान्तों को इस तरह से तीन समूहों मे बाँटा गया, जिससे कि पाकिस्तान को स्वीकार करने की ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की इच्छा भी प्रकट होती थी।

कांग्रेस ने शुरू में इस योजना को अस्वीकार कर दिया और मुस्लिम लीग ने इसे स्वीकार कर लिया, लेकिन बाद मे कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया और वायसराय ने काग्रेस को अन्तरिम सरकार बनाने को कहा। इससे जिन्ना नाराज हुये और उन्होंने 29 जुलाई 1946 को मुस्लिम लीग की बैठक मे कैबिनेट मिशन योजना को अस्वीकार करने की घोषणा की। लीग ने 16 अगस्त 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस का आयोजन करने का निश्चय किया। जिन्ना ने अपने भाषण में साफ–साफ कहा कि अब तक मुस्लिम लीग संवैधानिक एवं अहिसक नीति का पालन कर रही थी, लेकिन अब वह प्रत्यक्ष कार्यवाही करेगी जो हिंसक भी हो सकती है। परिणामस्वरूप 16 अगस्त 1846 को बंगाल में नरसंहार हुआ जिसमे करीब चार हजार लोगो की जाने गयीं जिसे 'ग्रेट कलकत्ता किलिंग' के नाम से जाना गया। इसके बाद साम्प्रदायिक दगा बंगाल के अधिकाश भागों जैसे नोआखली, टिपेरा आदि में भड़क उठा। इन साम्प्रदायिक दगों

का प्रभाव पहले बिहार मे और उसके बाद संयुक्त प्रान्त, बम्बई और अन्त में पजाब मे मार्च 1947 मे पडा। इन दंगों ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत का धार्मिक विभाजन अब नही रोका जा सकता है। वास्तव में ये दंगे विभाजन के लिये ही थे। इस राजनीतिक विवशता को काग्रेस ने समझा और बाद में जब माउण्टबेटेन गवर्नर जनरल होकर भारत आया और 3 जून 1947 को भारतीय नेताओं के समक्ष विभाजन की योजना रखी तो कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग ने भी इस योजना को स्वीकार किया यद्यपि कि पंजाब एवं बंगाल का बड़ा भूभाग इस योजना मे सार्वभौम पाकिस्तान के अन्तर्गत नहीं आता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पूर्वी उत्तर प्रदेश में साम्प्रदायिकता का विकास गोरक्षा आन्दोलन से पूरी तरह से जुड़ा हुआ था। यद्यपि 1880 के दशक मे गोरक्षा आन्दोलन का मुख्य केन्द्र पंजाब एवं मध्य प्रान्त था। इस आन्दोलन का सबसे गहरा प्रभाव भोजपुरी भाषी क्षेत्रो में ज्यादा देखने को मिलता है। यह प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ, बलिया और गाजीपुर जिलो में अत्यधिक था और बिहार के सारन एवं शाहाबाद जिलो मे यह उतना ही प्रभावकारी था। पूर्वी उत्तर प्रदेश में गोरक्षा आन्दोलन अन्ततः भीषण साम्प्रदायिक दंगे के रूप में 1893 में परिणत होता है जो कि बकरीद के अवसर पर हुआ। मऊनाथ भंजन जो तत्कालीन आजमगढ जिलें मे था, इस दंगे का प्रमुख केन्द्र बना। इस क्षेत्र तथा आस–पास के हिन्दुओ ने भारी संख्या में एकत्र होकर मुसलमानो के ऊपर आक्रमण किया।

फ्रांसिस राबिन्सन ने लिखा है कि गोरक्षा आन्दोलन उत्तर प्रदेश में पजाब से 1886 में आया, जबकि उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि गाय एक वस्तु नहीं है और इसलिये मुसलमानों द्वारा गायों की हत्या कानून के दायरे मे नही आता है। उन्होंने आगे लिखा है कि बाद में इस आन्दोलन का प्रभाव शहरों में हिन्दू हितों की रक्षा के लिये हुआ और इसका गहरा प्रभाव पडा क्योकि उत्तर प्रदेश की शहरी जनसख्या में मुसलमानो की जनसंख्या का अनुपात दो–तिहाई था। इसलिये उग्र हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के उग्र समर्थक भी शहरों मे ही केन्द्रित थे।[109] जान मैकनेल गोरक्षा आन्दोलन का विश्लेषण करते हुये लिखते हैं कि गोरक्षा आन्दोलन और 1892 के विधान परिषद सुधार कानून के ऊपर कांग्रेस और मुसलमानों में असहमति के कारण साम्प्रदायिक दंगे हुये। उनका कहना है कि 1893

के बाद जन भावना बहुत विस्तृत नही थी और हिन्दू नेताओ का यह मानना था कि मुसलमानों का अलगाव किसी भी संभावित लाभ के लिये बहुत भारी कीमत थी।[110] ज्ञान पाण्डेय का तर्क है कि 1892 का अधिनियम और कुछ हिन्दू नेताओ की इच्छा इतने बडे आन्दोलन या इसके बिखराव के लिये बहुत ही सकीर्ण कारण था।[111]

इससे यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान अधिकाधिक सुविधाओं की प्राप्ति की होड में साम्प्रदायिक भावनाओं का सहारा लिया गया। इसके पीछे अभिजातवर्ग की अपनी स्थिति को बनाये रखने की कोशिश भी स्पष्टतः दिखायी देती है, जिसने ब्रिटिश शासन को यह मौका दिया कि वह अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए अपने स्वार्थो के अनुरूप ऐसे वर्गो का उपयोग करे और ब्रिटिश शासन ने अपनी नीतियों के द्वारा समय–समय पर ऐसी ही किया। लेकिन बाद में यह देखने को मिलता है कि जैसे–जैसे राजनीतिक चेतना बढती गयी जनसामान्य की भागीदारी बढती गयी और नेतृत्व वर्ग द्वारा उनकी भावनाओं को धार्मिक आधार पर और अधिक तीव्रता से उभारा जाने लगा और यह प्रचार काफी तीव्रता से किया जाने लगा कि उनके हित धार्मिक आधार पर संगठित रहने पर ही सुरक्षित रह सकेगे।

सन्दर्भ

1. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1995.
2. सरकार सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ. 81.
3. कूपलैण्ड आर., कॉस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इंडिया, लंदन, 1944, पृ. 29.
4. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 82.
5. कैशमेन आर., द मिथ आफ द लोकमान्य, पृ. 78, सुमित सरकार की आधुनिक भारत में, पृ. 83.
6. हाली, 'हयात ए जवायद', हसन के एजूकेशनल मूवमेंट में उद्धृत, पृ. 69.
7. न्यायमूर्ति शाहदीन ने 1904 मे अपना आकलन दिया, जो कि जे.एम. एस. बलजान जूनियर के द रिफार्म एण्ड द रिलीजियस आइडियाज आफ सर सैयद खान मे उद्धृत, लीडेन, 1949, पृ. 48.
8. राबिन्सन फ्रांसिस, सेप्रेटिज्म एमॅग इंडियन मुस्लिम्स : द पालिटिक्स आफ द यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम्स 1860—1923, लन्दन, 1974, पृ. 90.
9. ग्राहम, लाइफ एण्ड वर्क आफ सर सैयद अहमद खान, के.सी एस. आई, न्यू एण्ड रिवाइज एडीशन, लन्दन 1909, पृ. 48, फ्रांसिस राबिन्सन के सेप्रेटिज्म एमॅग .. में उद्धृत पृ. 91.
10. वही, पृ. 28.
11. वही, पृ. 91.
12. यह वक्तव्य हाली के 'हयात ए जवायद' में उद्धृत है। विस्तृत व्याख्या के लिये हसन का एजूकेशनल मूवमेंट, पृ. 88—89.
13. सैयद अहमद का भाषण गाजीपुर साइन्टिफिक सोसाइटी के उद्घाटन अवसर पर 9 जनवरी 1864 को दिया गया। ग्राहम के पृ. 53 पर उद्धृत है।
14. हसन की वही पुस्तक, पृ. 88—89.

15. हण्टर, डब्ल्यू, डब्ल्यू, इण्डियन मुसलमान्स, दिल्ली, 1969, पुनर्मुद्रित, सुमित सरकार के आधुनिक भारत मे उद्धृत, पृ. 100.

16. राबिन्सन फ्रासिस, वही पुस्तक, पृ. 131.

17. हार्डी पीटर, मुस्लिम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1972, पृ. 58.

18. विस्तृत के लिये जमालुद्दीन अफगानी के ए रिफ्यूटेशन आफ द मेटेरियलिस्ट्स, 1882.

19. ब्रास पाल आर., लैग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1974, पृ. 130.

20. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 134.

21. वही, पृ. 135.

22 एकराम एस.एस., माडर्न मुस्लिम इंडिया एण्ड द बर्थ आफ पाकिस्तान 1858–1951 द्वितीय संस्करण, लाहौर, 1965, पृ. 86.

23. गुलाम उस सकलेन का लार्ड कर्जन के नाम खुला पत्र, जो पजाब आब्जर्बर (लाहौर) 16 मई 1900 के अक में प्रकाशित और हमीद अली खान के द वर्नाकुलर कन्ट्रोवर्सी में उद्धृत, पृ. 45.

24 अलीगढ इन्स्टीट्यूट गजट, 19 सितम्बर 1901, एम.एस. जैन के अलीगढ मूवमेन्ट्स वर्जिन एण्ड डेवलपमेंट 1858–1906, आगरा, 1965, पृ. 149.

25 नवाब विकार उल मुल्क का पायोनियर के सम्पादक के नाम पत्र, अगस्त 1903 जो कि लखनऊ से प्रकाशित एडवोकेट मे 22 अगस्त 1903 को उद्धृत।

26. वही

27. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ 117.

28. फिलिप सी.एच. द्वारा सम्पादित इवाल्यूशन आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान 1858–1947, सेलेक्टेड डाक्यूमेंट्स, लंदन, 1872, पृ. 185.

29. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ 141.

30. सेन्ट्रल इन्टेलीजेन्स के निदेशक की साप्ताहिक रिपोर्ट 24 अगस्त 1907, राबिन्सन एफ., के सेप्रेटिज्म एमॅग .... में उद्धृत, पृ 142.

31. इंडियन पीपुल, इलाहाबाद, 24 अगस्त 1906.

32 मोहसिन उल मुल्क द्वारा आर्चबोल्ड को लिखा पत्र 4 अगस्त 1906, राबिन्सन एफ के सेप्रेटिज्म एमॅग ...... मे, पृ. 143.

33 राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 144.

34 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 170.

35. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 144.

36. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 170.

37. होम डिपार्टमेंट, पब्लिक डिपाजिट, मई 1918, फाइल संख्या 285.

38. वही

39. वही

40. उ.प्र. राज्य अभिलेखागार जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेट, फाइल संख्या 140/1916.

41. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 350.

42. उ.प्र. राज्य अभिलेखागार, जी.ए.डी. फाइल संख्या 140/1917.

43 यूनाइटेड प्राविन्सेज, नेटिव न्यूज पेपर्स रिपोर्ट, इण्डियन डेली टेलीग्राफ, 5 अक्टूबर 1916.

44 उ प्र राज्य अभिलेखागार, जी.ए.डी. फाइल संख्या 140/1917.

45 लीडर, इलाहाबाद, 18 सितम्बर 1917.

46 लीडर, इलाहाबाद, 15 नवम्बर 1917.

47. लीडर, इलाहाबाद, 4 नवम्बर 1917.

48. एन इण्डियन डायरी, खण्ड 2 पृ. 72 माण्टेग्यू पेपर्स, 39.

49. ट्रिब्यून, 10 अगस्त 1918, सर्चलाइट 15 अगस्त 1918.

50 अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष डा. मुख्तार अहमद अंसारी का भाषण, दिसम्बर 1918, होम पोलिटिकल, ए, मार्च 1919, फाइल संख्या 251–9.

51 राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ. 290.

52 वही, पृ. 289.

53 वही

54 वही

55 इण्डिपेण्डेन्ट, 12 अक्टूबर 1919.

56 होम पोलिटिकल, बी, अक्टूबर 1919, फाइल सख्या 360–63.

57 वही

58. वही

59. फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, यू.पी., अक्टूबर 1919, द्वितीय पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, नवम्बर 1919, फाइल संख्या 16.

60. फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यू.पी., मई 1920, प्रथम पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल संख्या 94.

61. फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यू.पी. मई 1920, द्वितीय पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल संख्या 95.

62. होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल संख्या 109.

63. होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल संख्या 109.

64. वही

65 वही

66 वही

67 फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, यू.पी. जून 1920, प्रथम पक्ष, होम पोलिटिकल डिपाजिट, जुलाई 1920, फाइल संख्या 96.

68. वही

69. वही

70. होम पोलिटिकल, बी, जुलाई 1920, फाइल सख्या 109.

71. वही

72 सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 270.

73. वही, पृ 271.

74. वही

75 होम पोलिटिकल, फाइल सख्या 1/1928, फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, द्वितीय पक्ष, जनवरी 1928.

76. वही

77 नेटिव न्यूजपेपर्स रिपोर्ट 11 फरवरी, 1828 को समाप्त होने वाले सप्ताह के लिये आज तथा लीडर पत्रों की राय।

78. आज, बनारस, 30 मार्च
79. होम पोलिटिकल, फाइल संख्या 1/1928, फोर्ट नाइटली रिपोर्ट, प्रथम पक्ष, नवम्बर 1928.
80. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन, 1976, पृ. 330.
81. लीडर, इलाहाबाद, 2 अप्रैल 1929.
82. आज, बनारस, 3 अप्रैल 1929.
83. आज, बनारस, 3 अप्रैल 1929.
84. लीडर, इलाहाबाद, 30 जुलाई 1929.
85. लीडर, इलाहाबाद, 30 जुलाई 1929.
86. लीडर, इलाहाबाद, 3 अप्रैल 1929.
87. होम पोलिटिकल, फाइल संख्या 23/66/1932.
88. ग्वेयर एम. एण्ड अप्पादुरई ए. (सपा.), स्पीचेज एण्ड, डाक्यूमेंट्स आन द इंडियन कॉंस्टीट्यूशन (1921–27) भाग 1, आक्सफोर्ड, पृ. 386.
89. वही, पृ. 385.
90. वही, पृ. 384–85.
91. सिह अनीता इन्दर, द वर्जिन्स आफ द पार्टीशन आफ इण्डिया (1936–47) आक्सफोर्ड, 1995, पृ. 2.
92. वही, पृ. 1–2.
93. जैदी जेड.एच., मुस्लिम पालिटिक्स, पृ. 248–49.
94. हग द्वारा लिनलिथगो को 21 मई 1836 को लिखा पत्र, हंग करेसपाडेस खण्ड 5, अनीता इन्दर सिंह की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 6.
95. पीरजादा एस.एस. (संपा), फाउण्डेशन आफ पाकिस्तान : आल इण्डिया मुस्लिम लीग डाक्यूमेंट्स, खण्ड–2, करॉची, 1970, पृ. 235.
96. वही, पृ. 248–49.
97. सिंह अनीता इन्दर, वही पुस्तक पृ. 7–8.
98. सेलेक्टेड वर्क्स आफ नेहरू खण्ड 7, पृ. 460.

99 वही, पृ 598–614, नेहरू का फैजपुर मे अध्यक्षीय भाषण

100 बाम्बे क्रानिकल, 4 जनवरी 1937, अनीता इन्दर सिंह की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 9.

101. सेलेक्टेड वर्क्स आफ नेहरू, खण्ड 7, पृ. 460.

102. सरकार सुमित, वही पुस्तक, पृ. 393.

103. लीडर, इलाहाबाद, 1 मई 1937.

104. लीडर, इलाहाबाद, 12 मई 1937.

105. नेहरू द्वारा पन्त को लिखा 30 मार्च 1937 का पत्र ए.आई.सी.सी. फाइल सं ई–1, 1936–37, पृ. 7.

106. लीडर, इलाहाबाद, 10 मई 1937.

107. वही

108. पीरजादा एस.एस, वही पुस्तक, पृ. 267–68.

109. राबिन्सन एफ., वही पुस्तक, पृ. 78–79.

110. मैकनेल जे.आर, इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड अर्ली काग्रेस, प्रिस्टन, 1977, पृ 273.

111. पाण्डेय ज्ञान, रैलिग राउण्ड द काऊ : सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन, 1888–1977, सब अल्टर्न स्टडीज, खण्ड–दो पृ. 62.

अध्याय—3

समकालीन प्रादेशिक साहित्य में साम्प्रदायिकता का निरूपण

राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा वैचारिक मंथन के लिये विशेष रूप से अनुकूल परिस्थितियॉ निर्मित की गयीं। पराधीनता के प्रति गहरे भावात्मक सरोकार की भावात्मक उत्तेजना और परिवर्तन के प्रति बलवती इच्छा ने मानसिक खुलेपन की पृष्ठभूमि तैयार की। उन्नीसवी शताब्दी के सामाजिक सुधार और पुनरुत्थान आन्दोलनों से बीसवीं शताब्दी का साहित्य भी अछूता नहीं रहा, क्योंकि यह भारतीयता के स्वाभिमान एव गौरव के उदय का समय था। स्वाभाविक था कि साहित्यकार भी अतीत की विस्मृति से उन सांस्कृतिक एवं धार्मिक तत्वों की सहज तलाश कर रहे थे, जिनसे कि इस भावना को और अधिक पुष्ट किया जा सके।

इसी क्रम में धर्म एव साम्प्रदायिकता को लेकर समाज की स्थिति के प्रति उत्तर प्रदेश के हिन्दी साहित्यकार भी सचेत थे और इससे सम्बन्धित मुद्दो से बराबर संवाद स्थापित कर रहे थे। धर्म और साम्प्रदायिकता को लेकर समाज मे विवाद के जो बिन्दु थे, या अतीत से चले आ रहे प्रतीकों, आख्यानो का जो उपयोग इस सन्दर्भ मे हो रहा था, साहित्यकारो द्वारा उन्हें अपनी रचना मे स्थान दिया जा रहा था। यह सब सहज अभिव्यक्ति के रूप मे हो रहा था, न कि साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने के लिये क्योंकि साहित्यकारों द्वारा धर्म में व्याप्त पाखण्ड, ढोंग और उसकी साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति की आलोचना भी की जा रही थी। साम्प्रदायिक फूट को समाप्त कर एकता का प्रयास भी उनके साहित्य द्वारा हो रहा था, साथ ही उसके लिए अपनी खुद की जवाबदेही और ब्रिटिश नीतियों द्वारा वैमनस्य को बढावा देने की प्रवृत्ति का भी पर्दाफाश किया जा रहा था।

इन्ही बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो से सम्बन्धित प्रमुख रचनाकारों के साहित्य मे विद्यमान सरोकारों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

आधुनिक हिन्दी के सर्जक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का रचना संसार बहुआयामी है। साहित्य की कोई विधा उनकी लेखनी से अछूती नही रही। ऐसे

युगपुरुष के कर्तृत्व का विवेचन एक दुरूह कार्य है। इसके लिये भारतेन्दु की रचनाओ के साथ ही उनकी व्यक्तिगत एव वैचारिक पृष्ठभूमि का अवलोकन भी आवश्यक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850—85) इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द की वंश परम्परा में उत्पन्न हुये थे।[1] भारतेन्दु जी के पिता गोपाल चन्द्र उपनाम गिरधरदास एक सत्कवि हो गये हैं। .... भारतेन्दु के हिन्दी, फारसी और अंग्रेजी के प्रथम शिक्षक, ईश्वरी दत्त तिवारी, मौलवी ताज अली और बापू नन्दकिशोर थे। इन्होंने कुछ दिन क्वींस कालेज बनारस में शिक्षा पायी। इन्होने मराठी, बंगला, गुजराती, मारवाडी आदि अनेक भाषायें समय—समय पर स्वयं पढ़ लीं। इनके काव्य गुरु पं. लोकनाथ जी थे .... 14 वर्ष की अवस्था में बाबू गुलाब राय की कन्या मन्नो देवी से इनका विवाह हुआ, इनमें स्वेदश प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्यों और कार्यों से स्वदेश प्रेम के सैकडों उदाहरण मिल सकते हैं।[2] भारतेन्दु के आविर्भाव के समय देश का राजनीतिक क्षितिज........... आर्थिक धुँधलका और सामाजिक रूढि अन्धता की छटपटाहट का परिणाम था। भारतेन्दु और उनका प्रभामण्डल जिसने उस व्यग्रता को वाणी दी थी, तत्कालीन राजनीतिक समझ और राजनीतिक चेतना को स्वर दिया था और जातीय स्तर पर घर कर गये पराधीनता बोध को झकझोरा था।[3]

भारतेन्दु का व्यक्तितत्व विविधताओ से भरा हुआ था। कवि होने के साथ—साथ भारतेन्दु पत्रकार भी थे। "कवि वचन सुधा" और "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" उनके सम्पादन मे प्रकाशित होने वाली प्रसिद्ध पत्रिकायें थीं।[4] उनके बारे में डॉ. नगेन्द्र लिखते है — "वे राजभक्त होते हुए भी देशभक्त थे।"[5] एक ही साथ वे राजभक्ति और देशभक्ति दोनों का निर्वाह करते दिखायी पड़ते हैं। एक ही छन्द की पहली पंक्ति में वे क्राउन के वफादार दिखायी पड़ते हैं, तो दूसरी पंक्ति में देश की आर्थिक स्थिति उन्हें सताती है — अंग्रेज राज सुख साज, सबै विधि भारी / पै धन विदेश चलि जाति इहै अति ख्वारी।[6]

भारतेन्दु का सम्बन्ध समकालीन राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों एवं समाज सुधारकों से भी रहा। 'सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जब नेशनल फण्ड खोला और काशी पधारे तब भारतेन्दु ने उनकी सहायता की और एक जलसे में उनका सत्कार भी किया।[7] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र धार्मिक प्रवृत्ति के थे — "वे परम वैष्णव थे, पर वैष्णवता की व्याख्या उन्होंने धार्मिक कूप मण्डूकता से बाहर निकल कर की थी .... वैष्णव धर्म को प्राकृत धर्म से जोडकर भारतेन्दु ने पूरी वैष्णव अवधारणा को नया आयाम दिया। उसकी अनेक बन्द खिड़कियाँ खोली। ताजी हवा में वैष्णव धर्म ने सॉस ली और एक ऐसी वैष्णवता तैयार हुई, जो गॉधी जी

को भी रास आयी।''[8] बाबू साहब का धर्म परम वैष्णव था .... उनके सिद्धान्त मे परम धर्म भगवत्प्रेम था .... सत्य, अहिसा, दया शील, नम्रता और चरित्र को भी धर्म मानते थे, वह सब जगह को ब्रह्ममय और सत्य मानते थे।[9]

भारतेन्दु के समय की परिस्थितियों मे इस पक्ष का विवेचन आवश्यक हो जाता है कि साम्राज्यिक दबावो के बावजूद रचनाकार राष्ट्रभक्ति की बात कैसे कर पाता था। भारतेन्दु के रचना कर्तृत्व से इसे समझा जा सकता है। भारतेन्दु अपने लोकप्रिय भाषण' भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, में कहते हैं – ''अंग्रेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर अवसर पाकर भी हम लोग इस समय पर उन्नति न करें तो हमारा केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है।''[10] भारतेन्दु यह भी कहते हैं – ''सन् 1857 के विद्रोह की घटना भविष्य में अंग्रेजों एवं भारतवर्ष के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये घातक हुई।''[11] लेकिन वे इस बात पर बल देते हैं कि – ''जब महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र पढा गया, लार्ड लिटन के दरबार में भारत के राजा महाराजाओं ने विक्टोरिया को साम्राज्ञी स्वीकार किया, इंडियन कौसिल एक्ट, हाईकोर्ट एक्ट, स्वायत्त शासन एक्ट आदि के साथ ही सडकों, रेलों, तार–डाक विभाग आदि की स्थापना से देश मे एक सूत्रता स्थापित हुई थी और औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति मे बहुत सहायता मिली।''[12] इस सन्दर्भ में शंभूनाथ जोशी का कथन महत्वपूर्ण है – ''अपनी ग्यारह वर्ष की उम्र मे जब उन्होंने महारानी विक्टोरिया की मृत्यु पर ''अन्तर्दीपिका'' (1861) लिखी, वे पारम्परिक राजभक्ति से आक्रान्त थे। उन्नीस वर्ष की उम्र में ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत आगमन पर ''श्री राजकुमार स्वागत पत्र'' लिखा तथा इसके एक साल बाद उनके काशी आने पर सुमनोञ्जलि अर्पित की, इनमे भी प्रचीन संस्कार हावी थे।''[13] इसी तरह की राजभक्ति का परिचय अन्यत्र भी मिलता है। 1884 में विक्टोरिया के चतुर्थ पुत्र के मरने पर बनारस में उन्होने टाउन हाल मे एक शोक सभा का आयोजन किया।[14] प्रिन्स आफ वेल्स के आगमन पर भारतेन्दु ने इस प्रकार अपना उद्गार व्यक्त किया – ''जिमि रघुवीर आये अवध।''[15]

इसके साथ ही वे साम्राज्यवादी शोषण का खुलासा कर देश के प्रति अपने साहित्यिक कर्मो का निर्वाह भी करते हैं। भारतेन्दु 'भारत दुर्दशा'' मे लिखते है – ''सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई / हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।[16] इसी तरह ''अन्धेर नगरी'' में कहते है – हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम / चूरन जब से हिन्द मे आया / इसका धन–बल सभी घटाया''[17] ''हिन्दुस्तान के दरिद्र होने का कारण'' लेख मे साम्राज्यवादी

शोषण की इसी प्रवृत्ति को व्यक्त किया है – "रेल आदि से भी द्रव्य बढने की आशा नहीं है, रेलवे कम्पनी वालों ने जो द्रव्य व्यय किया है, उसका ब्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रूपया बाहर जाता है।"[18] तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो में राज के प्रति पक्षधरता आम बात थी। प्रायः राजनीतिज्ञ भी इसी भावना को व्यक्त कर रहे थे – "रक्षा, शिक्षा एवं रेलों के लिहाज से तो अंग्रेजी राज्य अच्छा है।"[19] शिव कुमार मिश्र इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हैं – "राष्ट्रीयता की जो चिन्ता हममें आज है, उस युग में संभव नहीं थी और अपने युग के अनुरूप राष्ट्रीयता की मॉग हम भारतेन्दु बाबू से ही क्यों करें जबकि उस युग के नवजागरण के विचारको में वह उस रूप में नहीं मिल पाती।"[20]

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के इन्हीं विविध पक्षों के परिप्रेक्ष्य में, धर्म एवं साम्प्रदायिकता के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। भारतेन्दु राजभक्त एवं देशभक्त दोनो थे, अतः उस समय के परिवेश को दृष्टिगत रखते हुये उन्होने लिखा। इसके अतिरिक्त उनका एक परम्परागत धार्मिक रूप भी था, अतः उसका भी प्रभाव उनके साहित्य पर पडा। उनकी दृष्टि धर्म के विभेद कारी स्वरूप की ओर भी गयी तथा उनके साहित्य मे ऐसे मिथको एवं प्रतीकात्मक शब्दो का प्रयाग भी हुआ, जो तत्कालीन स्थितियो मे साम्प्रदायिक कहे जा सकते है। यद्यपि कि ऐसा करना किसी भी रचनाकार का उद्देश्य नही होता और न ही भारतेन्दु का था। यह इसलिये भी पुष्ट होता है कि उन्होने अपने साहित्य में सौहार्द, समन्वय एवं एकता स्थापित करने की बात भी कही।

भारतेन्दु भारत के गौरवशाली अतीत के ऊपर गर्व करते है क्योकि वर्तमान राजनीतिक दशा से वे क्षुब्ध ही नही थे, बल्कि इसके लिये उत्तरदायी कारणो को भी अच्छी तरह जान रहे थे। इसलिये जहॉ वे उस अतीत गौरव का स्मरण यह कह कर करते हैं – "कहॉ गये विक्रम, भोज, राम, बलि कर्ण, युधिष्ठिर/चन्द्रगुप्त, चाणक्य कहॉ नासे करिकै थिर/कहँ क्षत्री सब मरे जरे, सब गये कितै गिर ... रक्षहु अपनो आर्यमग"[21] वही इसके लिये उत्तरदायी कारण 'आपसी कलह" को मानते है तथा मुस्लिम शासन के विनाशकारी रूप की ओर संकेत भी करते हैं – पृथ्वीराज, जयचन्द कलह करि जवन बुलाये/तिमिर लग चगेज आदि बहु नरन कटायो/अलादीन, औरंगजेब मिलि धरम नसायो/विषय वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो" ।[22] आपसी फूट का संकेत "हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान" कविता में भी करते है – "लखहु एक कैसे सबै मुसलमान क्रिस्तान/हाय फूटि इक हमहि मे कारन परत न जान।"[23]

"भारत दुर्दशा" नाटक में भी इस फूट की ओर संकेत किया गया है – "करि कलह बुलाई जवन सैन भारी।"[24] इसी नाटक में 'सत्यानाश फौजदार" से कहलाते है – "होके जयचन्द हमने एक बार/खोल ही दिया हिन्द का द्वार/हलाकू चगेजो तैमूर/हमारे अदना–अदना सूर/दुरानी अहमद नादिर शाह/फौज के मेरे तुच्छ सिपाह।"[25] इसी नाटक मे सत्यानाश फौजदार के माध्यम से कहते हैं – "फिर अन्त में भिन्नता आयी, इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना–पीना सब एक–एक योजन पर अलग कर दिया।"[26] इसी तरह "अँधेर नगरी" नाटक में "जैसे काजी वैसे पाजी/ रैयत राजी टका सेर भाजी/ले हिन्दूस्तान का मेवा फूट और वैर"[27] कहकर न केवल समकालीन स्थितियों में साम्राज्यवादी शासन की विभेदकारी नीतियों की ओर संकेत किया है, अपितु अतीत से चली आ रही इस प्रवृत्ति को प्रमाणित भी किया है।

मध्यकाल मे मुस्लिम शासन की स्थापना एवं लम्बे शासन के बाद भी हिन्दू उन्हे अपना शासक नहीं मानते और विदेशी ही समझते हैं क्योकि उनके मन मे कही न कही उनके धर्म विरुद्ध एवं अत्याचारी कार्यों की स्मृति बनी हुई थी – 'जेहि दल मल्यो प्रबल दल लेके बहुविधि जवन नरेश/नास्यो धरम–करम सबहिन के मारि उजार्‌यो देश/पृथ्वीराज के मरे लख्यो सो सुख कबहूँ नैन .... जदपि जवन गन राज कियो इतहीं बसिकै सहसाज/पै तिनकौ निज करि नहिं जान्यो कबहूँ हिन्द समाज/अकबर करिकै बुद्धिमता कुछ सो मेट्यो सदेह ...... औरहु औरंगजेब दिहो दुख सब विधि परम नसाय।[28] मुसलमानो को परदेशी मानने की प्रवृत्ति 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान" कविता मे भी है – "मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहि काम/परदेसी जुलहान को मानहु भयो गुलाम।[29]

मध्ययुगीन संघर्ष एवं हिन्दुओं की दुरावस्था का चित्रण भारतेन्दु अपने साहित्य मे करते है – "छाई ॲधियारी सूझत नहि राह कहुँ ... हिन्दू के नैन नीर निस दिन बरसावै।"[30] 'भारत जननी' नाटक में लिखते है – "इतर पदार्थो की गणना, मेरे शरीर का अब रक्त भी शेष नही। यवन सब चूस ले गये।[31] यहाँ संकेत साम्राज्यवादी शोषण की ओर भी है। 'नीलदेवी" नाटक मे हिन्दू–मुस्लिम सघर्ष का स्पष्ट चित्रण किया गया है। इसमे पजाब प्रान्त के शासक सूर्यदेव एवं दिल्ली बादशाह के सिपहसालार अब्दुश्शरीफ के बीच संघर्ष से तत्कालीन विद्वेष पूर्ण स्थिति का पता चलता है – "अब्दुश्शरीफ – यहॉ के राजपूत बड़े काफिर हैं। इन कम्बख्तों से खुदा बचाये कभी उस बेईमान से सामने लडकर

फतह नही मिल सकती .. .... अगर खुदा को इस्लाम की रोशनी का जिल्बा हिन्दोस्तान जुल्मत निशान में दिखाना मजूर है, तो बेशक मेरी मुराद बर जायेगी।''[32] इसी नाटक मे कहते है – ''काफिर है पंजाब का सरदार खबरदार।''[33] यहाँ भी आपसी फूट का संकेत करते है – 'निज हरि सो ह्वैहै बिमुख भारत भुववासी .... तुरकन हित करि हैं हिन्दू संग लराई / यवनन के चरनन रहिहै सीस चढ़ाई।'[34] लेकिन इस नाटक मे हिन्दुओं की विजय दिखाते हैं – ''कुमार सोमदेव राजपूतों के साथ आते हैं, मुसलमानों को बॉधते और मारते हैं, क्षत्रिय लोग भारत वर्ष की जय, आर्य कुल की जय'',[35] का घोष करते हैं।

मुस्लिम शासन की स्थापना के परिणाम स्वरूप शुरू हुई धर्मान्तरण की प्रक्रिया का भी भारतेन्दु ने उल्लेख किया है – ''टके के वास्ते ब्राहमण से मुसलमान / टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान / टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनो बेचे।'[36] व्यक्तिगत रूप से भारतेन्दु ने भी यह प्रयास किया था – ''अलीजान वेश्या से भारतेन्दु का लगाव था .. .... कभी हिन्दू थी। भारतेन्दु ने उसका शुद्धीकरण कर हिन्दू बना उसका नाम माधवी रखा।''[37]

मुस्लिम शासन के दौरान धर्म के नाम पर जो तोड–फोड एव विग्रहवादी भावनाओ का प्रसार हो रहा था, उसके परिणामस्वरूप हिन्दुओ के भीतर जो पीडा उत्पन्न हो रही थी, भारतेन्दु ने उसे भी स्वर दिया – ''जहॉ बिसेसर सोमनाथ माधव के मदिर / तहॅ महजिद बन गयी होत अब अल्लह अकबर।''[38] 'सरयूपार की यात्रा' नामक यात्रावृतान्त में लिखते हैं – ''यह वही अयोध्या है, जो भारतवर्ष मे सबसे पहले राजधानी बनायी गयी थी .... सारे ससार के राज लोग इसी अयोध्या की कृपाण से किसी दिन दबते थे, वही अयोध्या अब देखी नही जाती। जहॉ देखो मुसलमानों की कब्रें दिखायी देती है।''[39] इसकी तुलना मे अग्रेजी शासन के धार्मिक दृष्टिकोण को उदार मानते है। 'श्री राजकुमार शुभागमन' कविता मे इसी भाव को व्यक्त किया है – 'जैसे आतप तपित को छाया सुखद सुहात / जवनराज के अन्त तुव आगम तिमि बरसात / मसजिद लखि बिसुनाथ ढिंग परे हियो जो घाव / तापर मरहम सरिस यह तुव दरसन नर राव।'[40]

भारतेन्दु वर्तमान समय में हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष पर भी चिन्ता व्यक्त करते है – ''अबकी बकरीद में भारतवर्ष के प्राय: अनेक नगरों में मुसलमानों ने पकाश रुप से जो गोवध किया है, इससे हिन्दुओं की सब प्रकार से जो मान

हानि हुई है, वह अकथनीय है। पालिसी परतन्त्र गवर्नमेट पर हिन्दुओ की अकिंचनकरता और मुसलमानो की उग्रता भली भाँति विदित है, यही कारण है कि जानबूझकर भी वह कुछ नही बोलती, किन्तु हम लोगों को जो भारतवर्ष में हिन्दुओ के वीर्य से ही उत्पन्न हैं, ऐसे अवसर पर गवर्नमेट के कान खोलने का उपाय अवश्य करणीय है। .... भागलपुर, मिरजापुर, काशी इत्यादि कई स्थानों में प्रकाश रूप से केवल हमारा जी दुखाने को हॉका कोठी यह अत्याचार हुआ है, जो किसी समाचार पत्र में प्रकाश भी हुआ है। हिन्दू, उर्दू, बंगाली, मराठी, अंग्रेजी सब भाषा के पत्रों में जिनके संपादक हिन्दू हों, एक बेर बड़े धूम से इसका आन्दोलन होना अवश्य है, आशा है कि अपने शंका भर आप इस विषय में कोई बात उठा न रखेगें।''[41] स्पष्ट है कि भारतेन्दु न केवल इसके प्रति चिन्तित हैं अपितु इसके विरुद्ध आन्दोलन छेडने के लिये हिन्दुओं को संगठित करने का प्रयास भी कर रहे थे।

भारतेन्दु जी अपने युग के रचनाकारो की तरह धार्मिक मुद्दों पर भी दृष्टि डालते है। इस समय के रचनाकार समस्त भारतवासियों को हिन्दू मानते है। इस प्रकार इस परिधि में अन्य धर्मावलम्बियो को लाकर उनके मन में शंका का बीज बो दिया गया, जो आगे चलकर साम्प्रदायिक त्रासदी को और अधिक घनीभूत करने मे सहायक हुआ। भारतेन्दु के अनुसार – ''सबके पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है।''[42] बलिया के अपने प्रसिद्ध भाषण में कहते है – ''भाई हिन्दुओ ! तुम भी मत मतान्तर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढाओ। इस महामंत्र का जाप करो। जो हिन्दूस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो।''[43] मुस्लिम समुदाय को इसी भाषण में सावधान करते हैं – ''मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दे। ठीक भाइयों की भाँति हिन्दुओं से बरताव करे। ऐसी बात जो हिन्दुओं का जी दुखाने वाली हो, न करें। अभी तक बहुतों को यही ज्ञान है कि दिल्ली, लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो वे दिन गये।''[44]

इसके बावजूद भारतेन्दु–साहित्य का दूसरा पक्ष भी था, जिसमें उन्होंने समन्वय सौहार्द एवं एकता की बात कही – ''यह समय इन झगड़ो का नही है। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिये।''[45] इतना ही नहीं वे हिन्दू मुसलमान का रिश्ता दयोरानी जेठानी का ही मानते थे। ''वे हिन्दू–मुसलमानों को आपस में लड़ाने की अंग्रेजो की नीति को अच्छी तरह समझते थे। अन्त तक वे जातीय एकता के लिये प्रयत्नशील रहे। इस जातीय एकता की भावना

का आधार उनकी व्यापक राष्ट्रीयता थी, जो सर्व धर्म समभाव पर आधारित थी। किसी भी धर्म की अच्छाई को वे नजर अन्दाज नहीं करते थे। उन्होंने कुरान का भी हिन्दी अनुवाद किया था।''[46] यही नही वे अग्रेज शासकों से मुस्लिम शासको की तुलना करते हुये कहते है — ''मुसलमान लोग अग्रेजो की अपेक्षा सौ गुने अपव्ययी थे, परन्तु वे लोग इस देश के निवासी थे .... उनके अभिव्यय से भी देशवासियों का उपकार ही होता था।''[47] इस तरह भारतेन्दु अपने हिन्दूवादी आग्रहों के बावजूद दूसरे समुदाय के प्रति सहिष्णु थे।

स्पष्ट है कि भारतेन्दु एक ऐसे युगद्रष्टा रचनाकार थे, जो अपने युग की परिस्थितियों में घट रही घटनाओ के प्रति न केवल सचेत थे, बल्कि अतीत के इतिहास से सन्दर्भ ग्रहण करते हुये भी पूर्वाग्रहों से मुक्त थे। यही कारण है कि उन्होंने यद्यपि कि मध्यमकालीन हिन्दू—मुस्लिम संघर्ष की स्थितियों को विवेचित किया है तथा वर्तमान की तनावग्रस्त स्थितियो पर क्षोभ भी प्रकट किया था, किन्तु इस बात का ध्यान रखा है कि इससे किसी की भावनायें आहत न हो, इसी कारण उनकी रचनाओं में इस बात पर बल दिया गया है कि पूर्वाग्रहो को छोडकर सौहार्द स्थापित किया जाय क्योंकि राजभक्त होने के बावजूद उन्हे साम्राज्यवादी खतरों का अच्छी तरह से ज्ञान था और इससे मुक्ति के लिये एकता की स्थापना उनकी दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण कदम था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध (1856 — 1947) पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जनपद के एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार मे पैदा हुये। इनके पिता भोला सिह तथा मॉ धार्मिक प्रवृत्ति की थीं, जिनका कि इनके व्यक्तित्व पर काफी प्रभाव था। प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी मे हुई और इसके बाद 1884 ई. में निजामाबाद (आजमगढ) के हिन्दी मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त होने के बाद इनकी रुचि काव्य रचना की ओर अधिक हो गयी। ''हरिऔध के व्यक्तित्व निर्माण में प्रतिष्ठित सिख कवि बाबा सुमेर सिंह का बहुत बडा हाथ था .... सुमेर सिह भारतेन्दु मंडल के सदस्य थे। यही उनका (हरिऔध) परिचय भारतेन्दु साहित्य एवं ''कवि वचन सुधा'' तथा ''हरिश्चन्द्र चन्द्रिका'' की फाइलो से हुआ और हिन्दी साहित्य की ओर उनकी अभिरुचि अत्यन्त तीव्रता से बढी।[48]

हरिऔध सवेदनशील और युगबोध से अनुप्राणित कवि थे। समाज और राष्ट्र की कामनाओ व आवश्यकताओ के स्पन्दन का अनुभव करने में भी

समर्थ थे। वे देश और जनता की अभिव्यक्ति और आकांक्षाओ के प्रति भी संवेदनशील थे और उस संवेदना को प्रेषणीय बनाकर मुखरित करने में समर्थ थे। लोक कल्याण, जनकल्याण विधान समाज सुधार आदि की जिस चेतना का दीप भारतेन्दु ने जलाया था, उसकी प्रकाशदीप्ति तथा दीप्ति परिधि को हरिऔध जी फैलाना चाहते थे। साहित्य के अध्ययन से वे जनता को देशकाल के अनुरूप ऊपर उठाना चाहते थे।"[49]

स्पष्ट है कि हरिऔध जी भारतेन्दु युगीन चेतना एवं प्रवृत्तियों से प्रभावित थे। उनके काव्य में उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मिलता है। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है कि हरिऔध के काव्य में भी अतीत एवं हिन्दू धर्म के प्रति झुकाव दृष्टिगत होता है किन्तु उनके काव्य में उन शब्दों एवं प्रतीकों का स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है, जिससे साम्प्रदायिक भावना फैलाने में सहायता मिलती है किन्तु जिस जातीयता एवं हिन्दुत्व का आग्रह उनकी रचनाओं मे आद्योपान्त मिलता है उससे ऐसा मानस अवश्य तैयार होता है। डॉ. कीर्तिलता के अनुसार – "राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम चरण में तथा उसके पूर्व ही साहित्यकारो ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत के वर्णन में विशेष रुचि ली। आन्दोलन के द्वितीय चरण मे भी भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रण साहित्यकारो का प्रिय विषय रहा। प्रथम चरण में कवियों ने प्राचीन वैदिक संस्कृति के प्रति विशेष प्रेम प्रकट किया था। इस काल मे साहित्यकारों ने वह क्षेत्र विस्तृत किया। इसमे हरिऔध का विशेष योगदान है।"[50] यहाँ शोध विषय की परिधि मे हरिऔध की उन कविताओ का विवेचन होगा जो हिन्दुत्व एवं जातीयता से सम्बन्धित है।

हरिऔध ने अपने काव्य सग्रह 'काव्योपवन' (1909) की 'आर्यपंचक" शीर्षक कविता मे भारत के अतीत गौरव का गान किया है। उन्होंने लिखा है कि एक दिन वह भी था जब हम बल बुद्धि और विद्या वाले थे, हम भी धीर, वीर और गुणशाली थे। जब कभी हम सामगान करते थे, तो पत्थर भी मोम हो जाते थे। जब हम विजय करने के लिये निकलते थे तो हमारी रण हुँकार सुनकर सभी दहल जाते थे .... हमने सभ्यता को जगत में फैलाया था। जावा मे हिन्दुत्व का रंग जमाया था। जापान, चीन, तिब्बत, तातार व मलाया सभी ने हमसे ही धर्म का मर्म पाया था।[51] इसी सग्रह में हरिऔध का स्पष्ट मत है कि हम लोग हिन्दू रहकर ही भारत के रहते है। मुसलमानो में चाहे हिन्दू रक्त भी हो, फिर भी वे विदेशी संस्कृति से प्रेम करते है। इसी प्रकार ईसाई भी यूरोप का ही चाल–ढाल पसन्द करते है। ब्रह्म समाजियों और आर्य समाजियो के

लिये भी कवि ने कहा है कि कहने को यह भारतवासी बनते हैं, परन्तु ये भी यूरोप की बातों पर जाते है और जातीयता इन्हें नहीं भाती है। ये कलह और फूट फैलाते हैं।[52]

इससे स्पष्ट है कि कवि की सहानुभूति उन्हीं लोगो के साथ है, जो प्राचीन हिन्दू संस्कृति को अपनाने वाले हैं। धर्म और जाति के अतिरिक्त जो भावना में भी विदेशी संस्कृति को अपनाते हैं, उनसे कवि का विरोध है। आर्य समाज ने यद्यपि विदेशी संस्कृति को स्वीकार नहीं किया था लेकिन हरिऔध ने संभवतः इसीलिए ऐसी टिप्पणी की – "आर्य समाज ने सनातन हिन्दू धर्म में परिवर्तन करना चाहा था। इस संग्रह की एक लावनी में श्राद्ध कर्म के बहाने उसकी महत्ता बताते हुये कौमियत को न छोडने का आग्रह किया है।[53] 'प्रियप्रवास' में भी हरिऔध ने कहा है कि अपनी जाति को संकट से उबारना मनुष्य का सर्वप्रथम कर्म है। ब्रज में दावानल लगने पर कृष्ण गोपों से कहते हैं वीरो बढ़कर स्वजाति का भला करो। हमें दोनों ओर अपार लाभ है, यदि उबार लिया तो स्व कर्तव्य पूरा होगा और यदि भस्म हो गये तो सुकीर्ति मिलेगी।[54]

हरिऔध को जातीयता से विशेष प्रेम है। 'पद्य प्रमोद'' में 'सुशिक्षा सोपान'' के अन्तर्गत 'अविनय'' शीर्षक कविता में कवि ने कामना की है कि हमारी नयी पौध की धमनियो मे 'पूत जाति हित' की धारा बहे।[55] 'हमें चाहिए' शीर्षक कविता में भी कवि ने कहा है कि हमें ऐसा सुधारक चाहिए, जिसकी रुचि जातीय रंग के बीच रंगी हो।[56] 'सुविचार संग्रह' के अन्तर्गत 'आरम्भ शूरता' कविता में कवि ने हिन्दू जाति को सम्बोधित करके कहा है कि ज्ञान गौरवमयी हिन्दू जाति आरम्भ शूरता दोष को तजे बिना तू कर्मक्षेत्र में कभी जयी नही होगी।[57]

हरिऔध हिन्दुओं की भीरु प्रवृत्ति एवं आपसी फूट की चर्चा करते हैं और इसके लिये शिक्षा व्यवस्था को भी दोषी मानते हैं। उन्होने 'पद्य प्रसून' में लिखा है कि उस विद्यालय को विद्यालय कैसे मानें जिसमें कलह और फूट अपनी तान सुनावें ?[58] हिन्दुओं के सन्दर्भ में कवि का मत है – कायरता होड़ करके इनसे नाता जोड बैठी है, फूट आज पाँव तोड करके इनके घर बैठी है।[59] लोहा छूते ही हिन्दुओं के हाथ काँपते है। मन मरा हुआ है और तन में तनिक भी ताब नहीं रही। वीरता समाप्त हो गयी है और धीरता धरा में धँस गयी है। हम बहुत सी जातियों में बँटे जा रहे हैं और एकता के रंग में नहीं रहेंगे। हमारा बुरा हाल है, फिर भी फूट अभी नहीं छूटी है।[60] हरिऔद्य लिखते हैं कि अब तो

हम कायर और कपूत कहलाते है।[61] बैर ने बहुत पॉव पसारा है और हमें फूट का ही सहारा रह गया है।[62] 'चुभते चौपदे'' मे लिखा है हममें डाह, फूट, बैर आदि सभी अवगुण है।[63] इनसे स्पष्ट होता है कि हरिऔध को अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि का पूरा ज्ञान था और इसी कारण वे तत्कालीन समय में भी हिन्दुओं मे व्याप्त ऐसी प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर सके।

'पद्यप्रसून' की अधिकांश कवितायें हिन्दू जातीयता से भरी पड़ी हैं। ''जीवन स्रोत'' के अर्न्तगत 'विद्यालय' शीर्षक कविता में कवि ने कहा है कि आदर्श विद्यालय में जाति संगठन की शुभ पूजा होगी। वहॉ सरस जातीय तान रस बरसायेगी। उस विद्यालय में महत्ता कहॉ, जहॉ रही सही जातीयता भी नष्ट हो जाय ? जातीय सभाओं के द्वारा जाति का अधः पतन हो रहा है। जाति—जाति के विद्यालय और सभायें अतिनिन्दित है, यदि वे संघ शक्ति का संचय न करें। उन विद्यालयो एवं सभाओं से क्या होगा जिनसे हिन्दू – गौरव का डोंगा डूब जाय। अंत मे कवि ने प्रार्थना की है कि देश मे जितने हिन्दू विद्यालय हो सभी एक सूत्र से बॅधे। छात्र जाति – भाव से पूरित हों।[64] इसी संग्रह की 'जीवन – मरण' कविता हिन्दुओं की दीन दशा का चित्रण है। इसमे हरिऔध लिखते है कि मंदिर टूटते है, परन्तु हमारा कलेजा नही टूटता, ललनाये छिनती हैं, परन्तु हमारा खून नहीं खौलता, लाल लुटते हैं परन्तु हमारी ऑख तक लाल नहीं होती।[65] स्पष्ट है कि हरिऔध के मत में इस्लाम के आगमन और उसके द्वारा हिन्दू धर्म और देवालयों पर किये गये आघात की पीडा थी यद्यपि कि उन्होने स्पष्ट प्रतीक शब्दो के प्रयोग से बचने का प्रयास किया है।

'परिवर्तन' कविता में हरिऔध ने लिखा है कि हममें परिवर्तन पर परिवर्तन होते हैं, परन्तु वे जातीय भाव के गौरव को खोते है।[66] ''समझ का फेर'' शीर्षक कविता मे कवि ने उस राष्ट्रीय भावना के प्रति क्षोभ प्रकट किया है जो जाति को मिटाती है। उन्होंने लिखा है कि जाति मिटी जा रही है तो उससे क्या ? हम तो युनिटी करने में मस्त है। मॉ – बहन और बेटियॉ लुट जॉय, परन्तु मेल का मुँह देखकर हम उसे भी सह लेते है। धडल्ले से मन्दिरों मे सत्याग्रह हो रहा है।[67] 'सेवा' शीर्षक कविता में लिखते हैं कि अगर जाति की कुछ भी सेवा नहीं की गयी और ऐसी बात जी में बनी जिसमें जाति हित का कुछ भी रंग न हो तो क्या बनी।[68] 'गौरवगान' शीर्षक कविता में स्वामी दयानन्द की प्रशंसा इसलिये करते है कि उन्होने हमारे हृदय में जातीय भाव सजग करके जगाया और देशप्रेम के महामंत्र से मुग्ध बनाया। इसी कविता मे

हरिऔध ने मन्दिरो के ध्वंस पर अपनी पीडा व्यक्त की है कि मन्दिर धूल में मिलते है, देवमूर्ति टूटती है और भारत जननी अपनी छाती कलप – कलपकर कूटती है, परन्तु हिन्दू जाग – जागकर आज भी नही जागे।[69] 'प्रेम' शीर्षक कविता में लिखते है कि बहुत सी जातियों की बहुत सी सभायें बलायें बन गयी हैं। अगर हमे हिन्दू नाम नहीं प्यारा है तो रसातल क्यों नहीं चले जायेंगे ? अन्त में कवि ने हिन्दुओं के जागने की कामना की है।[70] स्पष्ट है कि हरिऔध को हिन्दू धर्म के जातिगत भेद से काफी कष्ट था और इसे ही वे उनकी दुरावस्था का कारण मानते थे। इस सन्दर्भ में डॉ. कीर्तिलता को उद्धृत करना समीचीन है – ''इस पूरी पुस्तक (पद्य प्रसून) मे कवि का जाति प्रेम व्यक्त हुआ है, कहीं भी सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीय कल्पना नहीं मिलती। कवि ने सामाजिक समस्याएं आदि भी हिन्दू जाति की ही उठाई है।''[71]

हरिऔध की कल्पलता जो कि उनके जीवन के आखिरी वर्षो में प्रकाशित हुई और साम्प्रदायिक दृष्टि से यह समय अति संवेदनशील भी था, मे हिन्दू जातीयता का स्वर काफी प्रखर है। ''सिद्धि साधना'' कविता मे लिखते है कि जाति की संख्या प्रतिदिन कम होती जा रही है, देव मन्दिर ढहाये जाते है और मूर्तियॉ टूटती हैं, पर्व और उत्सवो में अधिकतर बाधा होती है।[72] 'त्यागभूमि' कविता मे लिखा है कि 'आर्य गौरव रवि गत तेज' है।[73] 'शिक्षा का उपयोग' शीर्षक कविता मे शिक्षित युवकों मे जातीय भावना के अभाव पर दुख प्रकट करते हुये लिखते है कि प्रतिदिन शिक्षित युवक वृन्द बढ़ता जाता है, पर उनमें हम जाति ममता कहॉ पाते है।[74] इसी प्रकार का क्षोभ 'मुरली की तान' शीर्षक कविता मे प्रकट किया है कि जो हिन्दू बालक कहलाते है, वे हिन्दू कुल काल हैं। वे भारत ललना से लालित है परन्तु भारत के लाल नही है। उनका रोम – रोम देश प्रेममय है परन्तु वे जाति से प्यार नहीं रखते।[75] 'जीवन रणनाद' कविता मे हिन्दुओं से आग्रह करते हैं कि उठकर आपनी धाक जमाओ।[76] ऐसा इसलिए था कि उनकी मनः स्थिति में अतीत का गौरव बसा हुआ था। जैसा कि ''राजस्थान'' शीर्षक कविता मे उन्होंने लिखा है कि वहाँ वीरता मूर्तिमन्त होकर भूतल का भार हरती थी, वहॉ धीरता धर्मधुरीण कठ का हार थी। वीर सदा जाति हित बलिबेदी पर बलिदान होते थे, वहॉ बच्चो ने भी बलवानो के कान काटे थे और वीरबालाये रणभूमि मे करवाल के समान चमकीं थीं।[77] स्पष्ट है कि अपनी समकालीन परिस्थितियों की साम्प्रदायिक स्थिति से वे रूबरू थे। यही कारण है कि उनकी कविताओं का स्वर जातीय आग्रह से युक्त है।

इस समय के साम्प्रदायिक अलगाव के लिये जिम्मेदार एक प्रमुख कारण गोरक्षा आन्दोलन भी था। हरिऔध ने इस पर भी लिखा है कि गोधन विध्वंस हो रहा है और कुल लाल दूध के लिये तरसते है।[78] इसी तरह वे उच्चस्थ हिन्दुओं की आलोचना करते है कि जो हिन्दू कुल कलश कहलाते हैं, सूझ उनकी बहुत आला है, परन्तु हिन्दू उर अन्तर की ज्वाला वे देख नहीं सकते। हिन्दुओं की नीची गरदन उनको पुलकित करती है। वे देश बन्धुता के प्रेमी और समता के दीवाने हैं, किन्तु जाति प्रेम के पैमाने वे तपाक से तोडते हैं।[79] इसीलिये वे 'विजया' शीर्षक कविता में यह कामना करते हैं कि — जाति हित में शिथिल जन की / है शिथिलता हरे विजयदशमी।[80] "होली" शीर्षक कविता में हरिऔध ने जातीयता की दीवारे ढह जाने पर क्षोभ व्यक्त करते हुए नवशिक्षितों में पुनः जातीयता को जगाने का आग्रह किया है। कवि के विचार से जाति ही अपनी जाति का भला कर सकती है। जाति अपने कीर्ति चिह्नो को मिटाकर नहीं जी सकती।[81] इसीलिये 'होलिकादहन' मे वे कामना करते है — "रंगों रंग में उमंग अबीर गुलाल लगाओ / किन्तु अधिक जातीय रंगतों की दिखलाओ।"[82] इसके अतिरिक्त इस संग्रह की अन्य कविताये 'कमनीय कामना' "होली के हथकडे", "होली के स्वॉग" आदि मे कवि का हिन्दू जाति एव धर्म के प्रति प्रेम मुखरित हुआ है।

हरिऔध साहित्य के इस सर्वेक्षण द्वारा मैने उनके साहित्य मे आये हिन्दू जातीय स्वर को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में डा0 कीर्ति लता का विचार है — "हिन्दू जातीयता का दृष्टिकोण लेकर चलने वाले कवियो मे मैथिलीशरण गुप्त एवं हरिऔध प्रधान हैं। मैथिलीशरण गुप्त के दृष्टिकोण मे कुछ कालोपरान्त परिवर्तन होता है और वे हिन्दू — मुस्लिम एकता और राष्ट्रीयता के दृढ समर्थक हो जाते हैं। हरिऔध की हिन्दू भावना में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। उन्हे उन हिन्दुओं से भी सहानुभूति नहीं जो देशबन्धुता के रंग मे रंगे हुये हैं और जिनमे जातीयता का अभाव है।"[83] यद्यपि कि हरिऔध का साहित्य जातीय अग्रह से भरा पड़ा है किन्तु उन्होंने स्पष्ट प्रतीक शब्दों एवं मिथकों के प्रयोग से बचने की कोशिश की है जैसा कि बाद में तमाम परवर्ती साहित्यकारों ने किया है, लेकिन जीवन क अन्तिम समय तक उनके विचारो में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

प्रेमचन्द के साहित्य में उनके युग के साम्प्रदायिक वातावरण का जीवन्त चित्रण मिलता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योकि प्रेमचन्द के समय मे राष्ट्रीय राजनीति मे साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष महाकार ले चुका था। उन्होने तत्कालीन समाज मे प्रखर रूप से व्याप्त हिन्दू एवं मुसलमानों के मध्य साम्प्रदायिक भावना के आधार, उसके प्रतिफल तथा उससे छुटकारा पाने के लिये अपने सांकेतिक सुझाव के साथ साम्प्रदायिकता की समस्या को स्थान—स्थान पर उठाया है। प्रेमचन्द जैसे सजग एवं संवेदनशील रचनाकार के लिये ऐसा करना स्वाभाविक ही था, क्योकि उन जैसा सजग रचनाकार अपने परिवेश के प्रति तटस्थ रह ही नहीं सकता था।

प्रेमचन्द हिन्दू—मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। उनकी रचनाओं मे हिन्दू मुसलमानो के विषय मे विस्तार के साथ लिखा गया है, इसलिये उनका साहित्य हिन्दू एव मुसलमान दोनो के बीच समान रूप से लोकप्रिय है। अपने साहित्य में उन्होने न केवल हिन्दू—मुस्लिम सम्बन्धों को बारीकी से उजागर किया है बल्कि पारस्परिक वैमनस्य और तनाव के समाधान के संकेत भी दिये है।

प्रेमचन्द को हिन्दू—मुस्लिम संस्कृति की गहरी पहचान थी, दोनों सस्कृतियो के सम्बन्धो मे निकटता को वे इस प्रकार विश्लेषित करते हैं — "हिन्दू मूर्तिपूजक है तो मुसलमान कब्रपूजक और स्थानपूजक नहीं हैं, ताजिये का शर्बत और सीरीनी कौन चढाता है, मस्जिद को खुदा का घर कौन समझता है ? अगर मुसलमानों मे एक सम्प्रदाय ऐसा है जो बड़े—बडे पैगम्बर के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है तो हिन्दुओं में भी एक सम्प्रदाय ऐसा है जो देवताओ को पत्थर के टुकडे और नदियों को पानी की धारा और धर्म ग्रथो को गपोडे समझता है। यहॉ तक तो हमे दोनो सस्कृतियों में अन्तर नही दीखता है।"[84]

हिन्दू—मुस्लिम एकता का सवाल राष्ट्रीय एकता का सवाल था। प्रेमचन्द दोनों सम्प्रदायों की मनोवृत्तियो से भलीभाँति परिचित थे। वे उदारवादी हिन्दू थे। अपनी स्वतंत्रता के साथ दूसरे को भी स्वतन्त्र देखना चाहते थे। वे हिन्दू समुदाय के अन्धविश्वासों एवं रूढि के कट्टर आलोचक थे। चूँकि हिन्दू सम्प्रदाय बहुल था और वे स्वयं हिन्दू थे, इसलिये वे सम्प्रदायगत सम्बन्धो को सुधारने मे हिन्दुओं को अधिक सक्रियता से जूझते देखना चाहते थे।[85]

धर्म के आपसी विवाद के कारण हिन्दू और मुसलमानो मे आपस मे कटुता की भावना उत्पन्न हो गया थी, परन्तु प्रेमचन्द इस कटुता को प्रोत्साहन देने के समर्थक नही थे। इस कटुता का विरोध करते हुये प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों एव कहानियों मे एक ओर विवशतावश इस्लाम अपनाने वाले हिन्दूओ को पुनः हिन्दू धर्म की ओर अग्रसर होते दिखाया है तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म के प्रचारक हिन्दू धर्म मे निष्ठा रखने वालों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक द्वेष और दंगों के प्रश्न पर मुक्तभाव से विचार किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन की सफलता के लिये जहाँ और चीजें महत्वपूर्ण थी, वहीं राष्ट्रीय एकता एक आधारभूत आवश्यकता थी। प्रेमचन्द ने इस बात को अच्छी तरह पहचाना था।

जब देश के किसी हिस्से से राष्ट्रीय एकता और धार्मिक उदारता की आवाज प्रेमचन्द को सुनायी देती थी, तो वह बड़े उत्साह से उसका स्वागत करते थे और अपनी कलम से उसका प्रसार करते थे। बम्बई मुस्लिम स्टूडेन्ट्स यूनियन मे बम्बई सरकार के अर्थ सचिव सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्लाह द्वारा दिये व्याख्यान – "बात–बात में अपने समुदाय के विशेष अधिकारों की हॉक लगाना अपमानजनक है। हमे सिर्फ योग्यता के बल पर आगे बढना चाहिये"[86] पर प्रेमचन्द प्रसन्न होते है और टिप्पणी करते हैं कि इस साम्प्रदायिक होहल्ले के युग मे यह भाषण चारो तरफ फैले हुये अधकार में एक दीपक के समान है।[87]

हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रश्न पर प्रेमचन्द को किसी प्रकार का भ्रम नहीं था। जिन्दगी के हर पहलू मे पारस्परिक एकता होते हुये भी उनमें कुछ विशिष्टता है जो उन्हे दूसरों से अलग करती है। वे घोषणा करते है – "हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होगें, न होने चाहिये। दोनों की अलग–अलग सूरतें बनी रहनी चाहिये और बनी रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि उनके नेताओ में परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो।"[88] साम्प्रदायिकता की समस्या पर प्रेमचन्द का विश्वास है कि जब तक हम अपने इतिहास, सभ्यता व संस्कृति और ऐसे ही दूसरे ढकोसलो पर राष्ट्र के आधारभूत सिद्धान्तों को होम करते रहेगें, उस पल तक यों ही फसाद होते रहेंगे। जब तक आरती और नमाज़, गोरक्षा और कुर्बानी एवं बाजे के मसलों पर जनता मे उत्तेजना फैलाना असभव नहीं हो जायेगा, उस वक्त तक यह मेलजोल का मसला हल नहीं होगा।[89] यह लक्ष्य तब प्राप्त होगा जब हिन्दू–मुस्लिम

मैत्री को सिर्फ राजनीतिक आवश्यकता न समझकर मनुष्य के आचरण और विचारण का अंश बना दिया जायेगा। इसी मे राष्ट्र और देश का भविष्य सुरक्षित है।[90]

प्रेमचन्द ने साहित्य को साम्प्रदायिकता जैसे प्रश्न के समाधान का साधन माना। उसको बढावा देने वाले साहित्य के वे विरोधी थे। चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखे गये 'इस्लाम का विषवृक्ष' का विरोध करते हुये उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा था — "इस चतुरसेन को क्या हो गया है कि 'इस्लाम का विषवृक्ष' लिख डाला। इसकी आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्यूनल प्रोपेगण्डा का जोरों से मुकाबला करना होगा।"[91] उन्होंने बनारसी दास जी को भी इस सम्बन्ध में लिखा — "यह साम्प्रदायिकता फैलाने की एक बेहद शरारतभरी और नीच कोशिश है और उसका पर्दाफाश करना होगा।"[92] यही नहीं उन्होंने 24 जुलाई 1932 को जागरण मे 'इस्लाम का विषवृक्ष' शीर्षक से लेख लिखकर चतुरसेन शास्त्री की साहित्य मण्डल दिल्ली से प्रकाशित इस पुस्तक का घोर विरोध किया था।[93] उन्होंने माधुरी 1 जनवरी, 1925 मे 'कर्बला' और 'जमाना' लेख लिखकर साहित्य को साम्प्रदायिकता के पोषक रूप में न देखकर उसे इस प्रश्न के सुधारक के रूप मे देखा।[94]

प्रेमचन्द ने पत्रकार की हैसियत से हिन्दू–मुस्लिम एकता सम्बन्धी प्रस्तावो का समय–समय पर सहर्ष स्वागत किया है। उनके अनेक लेखो मे इस तरह की भावना के दर्शन होते है।[95] उनके लेखो के माध्यम से साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने, सहिष्णुता और एकता को बनाये रखने एवं, आपस मे दोनो सम्प्रदायों के सद्भावी बनने पर बल दिया गया है।[96] साम्प्रदायिकता का सबसे बडा हल मानवता के पुजारी प्रेमचन्द हीरालाल के शब्दो मे खोजते हैं। उनका कहना है — यहाँ तो मानवता के पुजारी हैं, चाहे इस्लाम कहो या हिन्दू धर्म में, या बौद्ध में या ईसाई मत मे, अन्यथा मै विधर्मी ही भला। मुझे किसी मनुष्य से इसलिये तो द्वेष नहीं कि वह मेरा सहधर्मी नही है।[97] व्यक्तिगत जीवन मे प्रेमचन्द हिन्दू–मुसलमान में भेद नहीं मानते थे। उन्होंने एक बार अपनी पत्नी से कहा था — "मैं एक इन्सान हूँ और जो इन्सानियत रखता हो, इन्सान का काम करता हो, मैं वही हूँ और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ। मेरे दोस्त अगर हिन्दू है, तो मेरे कम दोस्त मुसलमान नहीं है और इन दोनों में मेरे नजदीक कोई खास फर्क नहीं है, मेरे लिये दोनों बराबर है।"[98]

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक आन्दोलनों के साथ साम्प्रदायिकता पर मुख्य रूप से विचार अपने उपन्यास 'कायाकल्प" तथा कहानी 'मन्दिर और

मस्जिद'' मे किया है।[99] इनके अलावा उनके साहित्य मे जहॉ साम्प्रदायिकता का उल्लेख हुआ है, उनमे उपन्यासों मे कर्मभूमि और कहानियो मे 'हिसा परमोधर्मः' तथा 'मन्त्र' हैं। अपने लेखन कर्म मे न केवल तत्कालीन साम्प्रदायिक स्थिति का चित्रण कर रहे थे बल्कि साम्प्रदायिक तनावों को कम करने की कोशिश भी कर रहे थे। इसीलिए वे धर्म की थोथी मान्यताओं की आलोचना कर रहे थे – ''लोग इतने उत्साह से त्रिवेणी के संकरे घाट की ओर गिरते पडते लपके चले जाते थे कि यदि जल की शीतल धारा की जगह अग्नि का जलता कुण्ड होता तो भी लोग उसमें कूदते हुये जरा भी न झिझकते। कितने आदमी कुचल गये, कितने डूब गये, कितने खो गये, कितने अपंग हो गये, इसका अनुमान करना कठिन था, धर्म का विकट संग्राम था।''[100]

सच्चे धर्म का अर्थ समझाते हुये कायाकल्प में लिखते है – ''जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ नहीं समझेगें, हमारी यही दशा रहेगी, मुश्किल यह है कि जिन महापुरुषों से अच्छी धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से बढकर उदण्ड हो जाते हैं। मै तो नीति को ही धर्म समझता हूॅ और सभी सम्प्रदायों की नीति एक सी है, अगर अन्तर है तो बहुत थोडा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते है। हमे कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओ का समान आदर करना चाहिये। ये मानव जाति के निर्माता है, जो इनमें से किसी का अनादर करता है या उसकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचयदेता है। बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिये कि वह कैसा आदमी है न कि यह कि किस धर्म का आदमी है। ससार का भावी धर्म सत्य न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा और अगर ससार मे जीवित रहना है तो अपने ह्रदय में इन्हीं भावों का सचार करना पडेगा।''[101]

तत्कालीन साम्प्रदायिक दगो की बहुलता के कारण प्रेमचन्द ने व्यापक रूप से अपनी रचनाओं में इस समस्या को उठाया है। 1916 की लखनऊ कांग्रेस में स्थापित हिन्दू–मुस्लिम ह्रदयग्राही एकता 1922 तक आते–आते अतीत की स्मृति बन गयी थी। 1921 में अग्रेजी षडयत्र का दुष्परिणाम मालाबार मे मोपला मुसलमानों के विद्रोह के रूप में प्रस्फुटित हुआ। जिसका सकेत प्रेमचन्द की कहानी 'मत्र' मे किया गया है। इस कहानी के लीलाधर चौबे हिन्दू महासभा द्वारा हिन्दू–मुस्लिम दगे के सन्दर्भ में मद्रास भेजे जाते है।[102]

इस विद्रोह ने साम्प्रदायिक दगों की एक लम्बी श्रृखला को जन्म दिया तो दूसरी ओर आर्य समाजियों का शुद्धि आन्दोलन प्रखरतर होता जा रहा था। प्रेमचन्द इन स्थितियों के प्रति सजग थे। 22 अप्रैल 1923 को मुंशी दया नारायण निगम के नाम लिखे गये पत्र में इस शुद्धि आन्दोलन का विरोध करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा था – "मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर मज़मून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इख्तिलाफ (विरोध) है। तीन–चार दिन में भेज सकूँगा। आर्य समाज वाले भिन्नायेंगें, लेकिन उम्मीद है आप जमाना में इस मजमून को जगह देगें।"[103] यह मजमून जमाना के 25 फरवरी 1924 के अंक में प्रकाशित हुआ था। जिसमें प्रेमचन्द ने लिखा था – "हम कहते हैं कि अगर हिन्दुओं में एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू संगठन और शुद्धि की इतनी गर्मबाजारी न होती और इन हंगामों में कमी हो जाती, जो इस वैमनस्य के कारण दिखायी पडते हैं।"[104] इसी लेख में प्रेमचन्द ने कहा कि हिन्दुओं द्वारा दस–पॉच हजार मलकानों की शुद्धि से उनकी प्रसन्नता व्यर्थ है। हिन्दुओ मे राजनीतिक सहिष्णुता की आवश्यकता है।[105]

कायाकल्प उपन्यास में आगरे के प्रथम दंगे का मूल कारण भावना रूप मे शुद्धि आन्दोलन और व्यवहार में इसके विरोध में मुसलमानों द्वारा गो हत्या की योजना है। आगरा शहर में गाय की कुर्बानी पर फिसाद हो जाता है। इसके पीछे कौन लोग है, प्रेमचन्द ने उन पर प्रकाश डाला है। आगरा हिन्दू सभा के मंत्री एवं सेवा समिति के सदस्य यशोदान्दन जब बनारस से आगरा आते हैं, तो एक थानेदार उनका असबाब देखना शुरू करता है। इस पर यशोदानन्दन आश्चर्यपूर्वक पूछते है – 'क्यों साहब आज यह सख्ती क्यों है ? थानेदार – "आप लोगों ने जो कॉटे बोये है, उन्ही का फल है। शहर में फिसाद हो गया है।"[106] दूसरी ओर ख्वाजा महमूद (उपन्यास का पात्र) जिसे हिन्दू फरिश्ता सा आदर करते थे, जो हिन्दू–मुसलमान दोनों के सेवा समिति के सदस्य थे, मौलवी दीन मुहम्मद साहब की तकरीर से इतने भावावेश मे आ जाते हैं कि कुर्बानी के प्रश्न को लेकर होने वाले दंगे–फिसाद की बागडोर अपने हाथ में ले लेते हैं। यशोदानन्दन इस प्रकार के कायापलट पर कहता है – "अगर महमूद में सचमुच यह कायापलट हो गयी है, तो मैं यही कहूँगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पेदा करने वाली वस्तु संसार में नहीं है।"[107]

मौलवी दीन मुहम्मद के व्याख्यानो से प्रभावित होकर ख्वाजा महमूद कुर्बानी के पक्ष मे दलील देता है – "कुर्बानी करना हमारा हक है। अब तक हम आपके जजबात का लिहाज करते थे, अपने माने हुये हक भूल गये थे, लेकिन

जब आप लोग अपने हको के सामने हमारे जज़बात की परवाह नहीं करते तो कोई वजह नही कि हम अपने हको के सामने आपके जजबात की परवाह करें। मुसलमानो की शुद्धि करने का आपको पूरा हक हासिल है, लेकिन कम से कम पॉच सौ बरसों में आपके यहॉ शुद्धि की कोई मिसाल नही मिलती। आप लोगों ने एक मुर्दा हक को जिन्दा किया है इसीलिये न कि मुसलमानों की ताकत और असर कम हो जाय।'[108] दूसरी बार के दंगे का कारण होली के दिन एक मियाँ के वस्त्रों पर रंग के छींटे पड़ जाना है। होली के दिन मियॉ जी के कपड़े पर दो–चार छीटे पड़ गये।[109] फिर क्या था ? उन्होंने मस्जिद में आकर बाँग दी और मुसलमानों ने जब ललकार सुनी उनकी त्यौरियाँ बदल गयीं। दीन का जोश सिर पर सवार हो गया। शाम होते–होते दस हजार आदमी सिरो से कफन लपेटे, तलवारें लिये जामे मस्जिद के सामने आकर दीन के खून का बदला लेने के लिये जमा हो गये।[110] उधर हिन्दू समुदाय मे भी पिचकारी छोड़ लोगों ने लाठियॉ सॅभाली।[111]

'मंदिर और मस्जिद' कहानी के साम्प्रदायिक दंगे का कारण मुसलमानों द्वारा ठाकुरद्वारे पर आक्रमण है। आधीरात को ठाकुरद्वारे में कृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। सहसा मुसलमानों का एक दल लाठियॉ लिये हुये आ पहुॅचा और मंदिर पर पत्थर बरसाना शुरु किया।[112] 'हिसा परमोधर्मः' कहानी के साम्प्रदायिक दंगे की संभावना का कारण एक मुसलमान की मुर्गी का एक ब्राह्मण के घर में घुस जाना है।[113] इस कहानी में दिखाया गया है कि हिन्दू जामिद को शुद्ध करते हैं। एक ब्राहमण द्वारा मुसलमान को पीटे जाने से बचाने के अपराध में वह हिन्दुओं का कोपभाजन बनता है और फिर एक हिन्दू स्त्री की मुसलमान गुण्डों से रक्षा करने के कारण वह मुसलमानों का शत्रु बनता है।

प्रेमचन्द के साहित्य में उन स्थितियों की ओर भी संकेत किया गया है जिनके कारण साम्प्रदायिक दंगे भड़कते थे। साथ ही उन्हें लोगों की मनोवृत्तियों की अच्छी पहचान थी। शुद्धि गोहत्या, मंदिर या मस्जिद पर आक्रमण, दो सम्प्रदाय के लोगों के व्यक्तिगत झगड़े, लेन – देन आदि कुछ भी इसकी पृष्ठभूमि में हो सकता था। एक स्थायी कारण की ओर संकेत करते हुये चक्रधर (कायाकल्प का एक पात्र) कहता है – "लोगों का यह ख्याल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज करने का स्वप्न देख रहे हैं, बिल्कुल गलत है। मुसलमानों को केवल शंका हो गयी है कि हिन्दू उनसे पुराना बैर चुकाना चाहते हैं और उनकी हस्ती मिटा देने की फिक्र कर रहे है। इसी कारण वह जरा – जरा सी बात पर तिनक उठते है और मरने – मारने पर आमादा हो

जाते है।''[114] ख्वाजा महमूद मुसलमानों की ताकत और असर के कम हो जाने की आशंका से ग्रस्त हैं।[115] 'कर्मभूमि'' के जिला हाकिम मि. गजनवी को स्वराज मिल जाने से मुसलमानो की दशा खराब हो जाने का भय है। उनके अनुसार मुझे अगर स्वराज्य से खौफ है तो यह कि मुसलमान की हालत कहीं और खराब न हो जाय। गलत — गलत तवारीखे पढ — पढ कर दोनों फिरके एक — दूसरे के दुश्मन हो गये हैं और मुमकिन नहीं कि हिन्दू मौका पाकर मुसलमानों से पुरानी अदावतों का बदला न लें।[116]

प्रेमचन्द अपने लेखन के माध्यम से उन परिस्थितियों को भी उद्घाटित करते है, जिससे साम्प्रदायिक उन्माद फैलता है। 'कायाकल्प' के पच्चीसवें परिच्छेद में प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक दंगा — फिसादो के कारणों, उसके स्वरूप और परिणामों को भलीभॉति दर्शाया है। प्रेमचन्द लिखते हैं — ''हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियॉ चलती रहती थीं। जरा — जरा सी बात पर दोनो दलो के सिरफिरे जमा हो जाते थे, दो — चार अंग भंग हो जाते थे। कही बनिये ने डंडी मार दी और मुसलमानो ने उसकी दुकान पर धावा बोल दिया। कही किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घडा छू लिया और मुहल्ले मे फौजदारी हो गयी। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया, इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओ के घर लुट गये। दूसरे मुहल्लों मे कुत्तो की लड़ाई पर सैकडो आदमी घायल हुये, क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था एक सईद का। दानो ही दल मज़हब के नशे में चूर थे। .... हिन्दुओ ने महावीर दल बनाया, मुसलमानों ने अली गोल सजाया .... ख्वाजा साहब ने फतवा दिया जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सबाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पडितो की व्यवस्था मॅगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदान से श्रेष्ठ है।''[117]

प्रेमचन्द इसी उपन्यास मे साम्प्रदायिक हिंसा की क्रूरता का चित्रण कुछ इस प्रकार करते है — ''हिन्दू मुहल्लो के द्वार बन्द हो गये, बेचारे कोठरियो में बैठ जान की खैर मना रहे थे कि यह संकट हटे। रास्ते में जो हिन्दू मिला वह पिटा, घर लुटने लगे, हाय — हाय का शोर मच गया, दीन के नाम पर ऐसे — ऐसे कर्म होने लगे जिन पर पशुओ को भी लज्जा आती है, पिशाचो के रोयें खडे हो जाते हैं। लेकिन बाबू यशोदानन्दन के मरने की खबर पाते ही सेवादल के युवकों का खून खौल उठा। सेवादल के दो सौ युवक तलवारे लेकर निकल पडे और मुसलमान मुहल्ले में घुसे। दो — चार पिस्तौल और बन्दूके भी खोज निकाली गयीं। हिन्दू मुहल्ले में जो कुछ मुसलमान कर

रहे थे, मुसलमान मुहल्ले मे वही हिन्दू करने लगे। अहिसा ने हिसा के आगे सिर झुका दिया। वे ही सेवा व्रतधारी युवक जो दीनो पर जान देते थे, अनाथो को गले लगाते थे और रोगियों की सुश्रुषा करते थे, इस समय निर्दयता के पुतले बने हुये थे। पाशविक वृत्तियों ने कोमल वृत्तियों का संहार कर दिया था। उन्हें न दीनों पर दया आती थी न अनाथो पर, हँस – हँसकर भाले और छुरे चलाते थे, मानो लडके गुड़िया पीट रहे हो। उचित तो यह था कि दोनों दलों के योद्धा आमने – सामने खड़े हो जाते और खूब दिलों के अरमान निकालते, लेकिन कायरों की वीरता और वीरों की वीरता में बड़ा अन्तर है।''[118]

एक दूसरे सम्प्रदाय के प्रति शंका और स्थायी भय समय पाकर धीरे –धीरे साम्प्रदायिक विप्लव का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रेमचन्द साहित्य में इन कारणों के आधार पर प्रारम्भ में हुये दंगों की सूचना मिलती है। अंग्रेज प्रशासक चाहते थे कि भारतवर्ष मे साम्प्रदायिक दंगे होते रहें। प्रेमचन्द इस सम्बन्ध में लिखते है – ''हिन्दू मुस्लिम एकता हुक्काम की नजरों में कॉटे की तरह खटकती थी। इसीलिये जब धनी – मानी लोग किसी ऐसे आन्दोलन का उत्साह के साथ स्वागत करे, जिससे एकता को नुकसान पहुँचने का यकीन है तो जाहिर है कि उनका उसमें शरीक होना उनके मन की बात नहीं, बल्कि किसी की प्रेरणा से होने वाली बात है।''[119] उन्होने दोनों सम्प्रदायो में ऐसे व्यक्ति पैदा कर दिये थे कि जो अपने स्वार्थ के लिए एक दूसरे सम्प्रदाय को भिडाना चाहते थे। ऐसी मनोवृत्ति का परिचय प्रेमचन्द 'सेवा सदन'' में तेग अली के माध्यम से करवाते हैं – ''आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है, हर ओर इन्साफ का नाम न लीजिये। अगर आप मुदर्रिस है तो हिन्दू लडको को फेल कीजिये।तहसीलदार हैं तो हिन्दुओ पर टैक्स लगाइये, मजिस्ट्रेट है तो हिन्दुओं का सजा दीजिये। सब इन्सपेक्टर पुलिस है तो हिन्दुओ पर झूठे मुकदमे दायर कीजिये। तहकीकात करने जाइये तो हिन्दुओ के बयान गलत लिखिये, अगर आप चोर है तो किसी हिन्दू के घर में डाका डालिये, अगर आपको हुश्न और इश्क का खब्त है तो किसी हिन्दू नाजनीन को उडाइये। तब आप कौम के खादिम, कौम के मुहासिन, कौमी किश्ती के नाखुदा, सब कुछ है।''[120]

इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले सामाजिक जीवन के सभी महत्वपूर्ण हिस्सो को अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये अपने हित में ढालने की कोशिश करते है। प्रेमचन्द ने इसे 'सेवासदन' के तेग अली के माध्यम से बड़े तार्किक ढग से प्रस्तुत किया है – ''इस वक्त उर्दू – हिन्दी का झगडा, गोकशी का मसला, जुआखाना, इन्तखाब, खुद का मुआविजा कानून, इन सबों से मजहबी तास्सुब

के भडकाने में मदद ली जा रही है।''[121] प्रेमचन्द यह भी जानते थे कि दोनो वर्गो मे ऐसे लोग हैं जो अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए सम्प्रदायवाद को जीवित रखना चाहते हैं। कायाकल्प के अन्तर्गत ऐसे लोगों का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। ख्वाजा महमूद के शब्दों में वे कहते है – ''दोनो कौमों में कुछ लोग हैं जिनकी इज्जत और जब्त दोनों को लडाते रहने पर ही कायम है। बस, वह एक न एक शिगूफा छोडा करते हैं।''[122] प्रेमचन्द यह मानते थे कि लोग अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिकता का आधार लेते हैं।[123]

प्रेमचन्द चिन्तित थे कि साम्प्रदायिक समस्या राजनीति को उलझाती जा रही थी। विभिन्न स्थानों पर हुये दंगों ने दोनों वर्गो को एक दूसरे का विरोधी बना दिया था और वे राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने लगे थे। भारतीय एकता के विरोधी कभी यह कहते नही थकते कि जब तक हिन्दुओ और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस संग्राम मे शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, इसे मुस्लिम जनता अब समझने लगी है, वह यह कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियो के वैमनस्य से फायदा उठाती रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा .....
हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक बार कोशिश की गयी, यहाँ तक कि आज भी सर तेज बहादुर सप्रू सर्वदल सम्मेलन कराने में लगे हैं। मगर उन कोशिशों का फल क्या निकला ? समझौता न हुआ ...... । हिन्दुस्तान यदि इतने दिनो की गुलामी से कुछ सीख सका है तो वह यह है कि समाज के किसी अंग को असंतुष्ट रखकर राष्ट्र दुनिया में उन्नति नही कर सकता .. .. महात्मा गॉधी ने तो यहॉ तक कह दिया है कि मुसलमान जितना चाहें ले ले, इसमे हिस्से का सवाल नहीं है। स्वराज्य के अधीन राज पद धन कमाने का साधन नहीं प्रजा की सेवा का साधन होगा।[124]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगन के उपरान्त देश मे व्याप्त राजनैतिक अनिश्चितता मे विद्यमान साम्प्रदायिक कलह की प्रवृत्तियों की ओर इगित करते हुये प्रेमचन्द टिप्पणी करते है – ''एक तरफ कांग्रेस गोलमेज की शर्तो पर विचार कर रही थी, दूसरी ओर काशी में विद्रोह की आग दहक रही थी और ठीक उस समय कांग्रेस समझौते की स्वीकृति पर अपना फैसला सुनाने जा रही थी। कानपुर में भीषण हत्याकाण्ड आरम्भ हो गया था . ..... एक मास के अन्दर काशी, मिर्जापुर, आगरा, कानपुर आदि स्थानों मे जातिगत वैमनस्य का इतना भयंकर रूप धारण कर लेना अगर हमें कोई शिक्षा देता है तो वह यह कि मुस्लिम भाइयो को साथ न ले चलने की हमने भूल की। यह

सत्य है कि हमने उनकी सहायता के लिए सदैव हाथ फैलाये रखा, सदैव उनकी सहानुभूति की याचना करते रहे, लेकिन यह भी मानना पडेगा कि बगैर आपस में समझौता किये हुये सत्याग्रह आन्दोलन का सूत्रपात कर देना हमारे मुस्लिम भाइयों को अप्रिय ही न लगा उसने कुछ सन्देह ही उत्पन्न किया। शायद आन्दोलन की सफलता ने उन्हें भयभीत कर दिया।''[125]

अन्य ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर बिपनचन्द्र भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। 1934 तक मुसलमानों के मन मस्तिष्क पर हिन्दूओं का लगभग पूर्णरूपेण कब्जा हो चुका था। विजेता हिन्दुओं के दल असंगठित, भ्रमित और हतोत्साहित मुसलमानों के दलो को हिन्दुत्व के घेरे में समेटने लगे थे।[126] इसी सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने पुनः लिखा है – ''हमारे भाइयों में अब भी एक ऐसा शक्तिशाली समूह है जो स्वराज से डरता है। उसे भय है कि स्वराज मे हिन्दू बहुमत उसे पीस डालेगा। इस समय हमारी सारी कोशिश अपने मुस्लिम भाइयों की सहानुभूति प्राप्त करने, उनके दिलों में शका और अविश्वास को मिटाने मे लगनी चाहिये। यही हमारे राजनीतिक उद्धार की कुंजी है।''[127]

गोजमेज सम्मेलन में मुस्लिम प्रतिनिधियो की हठधर्मिता के चलते समझौते के सारे प्रयास असफल हो गये। मुस्लिमो की इस नीति से दुखी प्रेमचन्द ने 1931 में 'गोलमेज परिषद मे गोलमाल'' शीर्षक से लिखा – ''महात्मा जी को यदि मालूम होता कि मुस्लिम मेंबर वहॉ अड़ॅगा लगायेंगे तो वह जाते ही क्यों ? हिन्दू बहुमत मे है। किसी हिकमत से भी उनकी संख्या घटाई नही जा सकती। उधर मुसलमान कोई ऐसी व्यवस्था मजूर नहीं करेगे, जिससे बहुमत से किसी हानि की सभावना हो। इसलिये भारत को जन्म –जन्मान्तर तक इसी पराधीनता की दशा में रहना होगा। उनकी रक्षा के लिये भारत पर अंग्रेजों का शासन अनिवार्य है .... तो क्या हिन्दू उस वक्त तक चुपचाप बैठे रहें, जब तक उनका बहुमत घटते–घटते अल्पमत न हो जाय .. ... गोलमेज के मुस्लिम प्रतिनिधियो को हिन्दूओं पर विश्वास नहीं है, अंग्रेजो पर विश्वास है, जिनसे उनका चोली – दामन का साथ है, जिनके साथ उनका भाई चारा है, उन पर उन्हे विश्वास नहीं है।''[128] नवम्बर 1931 में प्रेमचन्द को विश्वास हो चला था कि – ''जरूरत यह है जैसा हम पहले कह चुके है कि हम गलत इतिहास को दिल से निकाल दें और देशकाल का भलीभॉति विचार करके अपनी धारणायें स्थिर करें, तब हम देखेंगे कि जिन्हे हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होंने वास्तव मे दलितों का उद्धार किया है, हमारे जातिपॉत के कठोर बन्धनों को सरल किया है और हमारी सभ्यता के विकास मे सहायक सिद्ध हुये है।''[129]

ब्रिटिश सरकार की साम्प्रदायिक नीति का पर्दाफाश करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा – "साम्प्रदायिक भेदनीति आपत्ति जनक है। गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती हम अपने व्यवहार से ऐसा समझने का अवसर नही देते .... हमे यह दिखाना है कि तुम चाहे हमे कितने टुकडों में बॉटो हम परवाह नहीं करते हम एक राष्ट्र हैं।[130] इसी तरह भारत सरकार के गृह विभाग ने सरकारी नौकरियों के बॅटवारे के सम्बन्ध में जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, उसमें उसकी नीयत का ठीक – ठाक पता लग जाता है। साम्प्रदायिकता के नाम पर मुसलमानो के लिये 25 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। हमारी समझ मे इसका आशय यही है कि सरकार हमारी राष्ट्रीय प्रगति को कुचलने का प्रयत्न कर रही है।[131]

प्रेमचन्द के रचना कर्म मे साम्प्रदायिकता केवल एक समस्या बनकर नहीं रह गयी है बल्कि उसके निवारण के कई सुझाव अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किये हैं। कायाकल्प में प्रथम बार चक्रधर अपनी जान पर खेलकर दंगा बचा लेता है। कुर्बानी के प्रश्न पर चक्रधर कहता है – "हर एक कुर्बानी हिन्दुस्तान के 21 करोड हिन्दुओं के दिलों को जख्मी कर देती है। और इतनी तादात में दिलो को दुखाती है कि बडी से बडी कौम के लिए भी एक दिन पछतावे का विषय हो सकता है। हिन्दुओं से ज्यादा धीर कौम दुनिया में नहीं है, लेकिन जब आप उनकी दिलजारी और महज दिलजारी के लिये कुर्बानी चाहते है, तो उनको सदमा जरूर होता है और उनके दिलों में जो शोला उठता है, उसका आप ख्याल नही कर सकते। अगर आपको यकीन न आये, देख लीजिये कि इस गाय के साथ एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे सकता है।[132] चक्रधर का आत्म त्याग सारा मामला शान्त कर देता है।

प्रेमचन्द ने गाय की रक्षा इसलिये नहीं कराई कि उन्हें गाय से प्रेम था या वे गाय के भक्त थे अथवा वे हिन्दुओं के पक्षपाती थे। आत्म त्याग को वे समस्या के समाधान का एक साधन मानते थे। गॉधी की धारणा थी कि एक गाय की रक्षा के लिये किसी मनुष्य की हत्या हिन्दूपन नहीं है।[133] प्रेमचन्द का चक्रधर भी यही कहता है – "अहिंसा का नियम गायों के लिए ही नहीं मनुष्यों के लिए भी तो है।"[134] गाय के सम्बन्ध में गाँधी का कहना था कि हमें अपनी कमियों को दूर करना होगा क्योंकि हम गाय की पूजा करते हैं परन्तु बूढ़ा होने पर उन्हें कसाई को दे देते हैं। उनके बछड़ों को भूखा मारते है और गाय को भूखा मरने के लिए छोड देते हैं।[135] प्रेमचन्द का भी यही कहना था 'गोरक्षा के सारे होहल्ले के बावजूद हिन्दुओं ने गोरक्षा का ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं

किया जिससे उनके दावे का व्यवहारिक प्रमाण मिल सके। गोरक्षिणी सभाये कायम करके धार्मिक झगडे पैदा करना गोरक्षा नहीं है। ...... हम देखते हैं कि बैलो के लिए चारा मयस्सर नही तो गायो के लिए (जब बुड्ढी मरियल, कमजोर हो जाय) चारा इकट्ठा करने की दिक्कत किसी किसान से पूछिये। यह गायों को भूख से एड़ियॉ रगड – रगड़कर मरने के बदले उन्हें कसाई के हवाले कर देना ज्यादा अच्छा समझता है।[136] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गॉधी की भाँति गाय के नाम पर साम्प्रदायिक दंगे के प्रबल विरोधी हैं।

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता के विरोध का महत्वपूर्ण सोपान 'धर्मान्धता के विरोध' को माना है। उन्होंने अपने लेखन में धार्मिक शिक्षा पर जोर देते हुये इसके लिये मध्ययुगीन इतिहास को स्वस्थ प्रगतिशील दृष्टि से लिखने पर बल दिया है। साम्राज्यवादियो ने भारतीय इतिहास को अपने स्वार्थमयी दृष्टिकोण से लिखा है। मध्ययुगीन लेखकों ने हिन्दू राजाओं एवं मुस्लिम बादशाहो के वर्णन में हिन्दू – मुसलमानो के आपसी वैमनस्य को बढा चढाकर लिखा है और आगामी पीढियो के दिलों मे द्वेष और धार्मिक कट्टरता की विषैली भावनाये भरने का प्रयत्न किया है। इस तरह का ज्वलन्त उदाहरण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'कर्मभूमि'' मे स्पष्ट रूप से दर्शाया है। इसमे जिला हाकिम गजनवी तवारीख के सम्बन्ध मे सलीम से कहता है – ''गलत तवारीखे पढ – पढकर दोनो फिरके एक दूसरे के दुश्मन हो गये हैं........ लेकिन इस ख्याल से तसल्ली होती है कि इस बीसवी सदी मे हिन्दुओं जैसी – पढी लिखी जमात मजहबी गिरोह बन्दी की पनाह नहीं ले सकती। मजहब का दौर तो खत्म हो गया है। सिर्फ हिन्दुस्तान मे उसमे कुछ – कुछ जान बाकी है। यह तो दौलत का जमाना है। .... अब कौम मे अमीर और गरीब, जायदाद वाले और मरभुखे अपनी – अपनी जमायते बनायेग, उनमे कही ज्यादा खूँरेजी होगी। आखिर एक दो सदी के बाद दुनिया मे एक सल्तनत हो जायेगी। सबका एक कानून, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मजहब शख्सी चीज होगी।''[137]

प्रेमचन्द साहित्य में धर्म व्यक्तिगत आस्था एवं विश्वास का विषय है। मदिर और मस्जिद कहानी का दंगा मुसलमानों द्वारा मंदिर में आक्रमण से होता है। चौधरी इतर अली का राजपूत चपरासी मंदिर में चौधरी साहब के दामाद की हत्या कर देता है। इकलौते दामाद और जायदाद के वारिस शाहिद हुसैन की हत्या के बाद भी चौधरी साहब का मत है – ''मै अगर खुद शैतान के बहकावे मे आकर मदिर मे घुसता और देवता की तौहीन करता और तुम मुझे

पहचानकर भी कत्ल कर देते, तो मैं अपना खून माफ कर देता। किसी दीन घर की तौहीन करने से बडा और कोई गुनाह नही है।''[138] स्पष्ट है प्रेमचन्द किसी के धर्म की तौहीन पसन्द नही करते थे, चाहे वह हिन्दू का हो या मुसलमान का। चौधरी साहब भजनसिंह की रक्षा ही नही करते, मुकदमें मे उसकी पैरवी करते हैं और उसे बचा लेते हैं। चौधरी की धारणा है – ''मदिर भी खुदा का घर है और मस्जिद भी। मुसलमान किसी मंदिर को नापाक करने के लिये जिस सजा के लायक है क्या हिन्दू मस्जिद को नापाक करने के लिये उसी सजा के लायक नहीं।''[139] साम्प्रदायकिता के सामाधान की ओर इससे अच्छा इशारा और क्या हो सकता है।

प्रेमचन्द राष्ट्रीय स्तर पर साम्प्रदायिक भेदभाव को मिटा देना चाहते थे। उन्होंने अक्टूबर 1931 के अंक में हंस मे लिखा था – ''धर्म का सम्बन्ध मनुष्य से और ईश्वर से है। उसके बीच में देश जाति और राष्ट्र किसी को भी दखल देने का अधिकार नही है। हम इस विषय में स्वाधीन हैं। हम मस्जिद में जायँ या मन्दिर मे, हिन्दी पढ़े या उर्दू, धोती बाँधे या पाजामा पहने हम स्वाधीन है, लेकिन धर्म के नाम पर राष्ट्र को भिन्न – भिन्न दलो मे विभक्त करना, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धो को राष्ट्रीय मामलो में घसीट लाना, राष्ट्रीय भारत कभी गवारा नही करेगा .... मुट्ठी भर पढ़े लिखे आदमियों को कोई अधिकार नहीं कि वह अपने हलवे – माडे के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन सकटमय बनावें .... हाँ वह समय अब दूर नही जब भारत इस नकली आदर्श से विद्रोह करेगा और पृथकता के मकडी के से जाल को छिन्न – भिन्न कर देगा।''[140] प्रेमचन्द यह जानते थे कि राष्ट्र को परस्पर ईर्ष्या और द्वेष के घातक प्रभाव से बचाने के लिए केवल एक ही उपाय है – साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का शमन।[141]

इसके लिये प्रेमचन्द ने दोनो सम्प्रदायों की समस्याओं के समाधान के लिये पंचायत का सुझाव दिया है। पंचायत व्यवस्था का थोड़ा सा जिक्र प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास ''कायाकल्प'' में किया है। इसमें आपसी झगडों तथा समस्याओ के निपटाने के लिये ख्वाजा महमूद और चक्रधर तय करते हैं – एक पंचायत बनायी जाय और आपस के झगड़े उसी के माध्यम से तय हुआ करें।[142]

हिन्दू – मुस्लिम एकता के बडे ही मार्मिक चित्र प्रेमचन्द के उपन्यासों में उपलब्ध हैं। 'कर्मभूमि' उपन्यास में सलीम और लाला समरकान्त का साथ बैठकर भोजन करने का दृश्य हिन्दू – मुसलमानों के घायल हृदय पर मरहम – पट्टी का काम करता है – सेठजी सन्ध्या करके लौटे तो देखा, दो कम्बल

बिछे हुये है और दो थालियॉ रखी हुई हैं। सेठजी ने खुश होकर कहा कि यह तुमने बहुत अच्छा इंतजाम किया। सलीम ने हॅसकर कहा – "मैंने सोचा आपका धर्म क्यो लूॅ, नही एक ही कम्बल रखता, अगर यह ख्याल है तो तुम मेरे कम्बल पर आ जाओ। नहीं मैं ही आता हूॅ। वह थाली उठा सलीम के कम्बल पर आ बैठे। अपने विचार से आज उन्होंने अपने जीवन का महान त्याग किया। सारी सम्पत्ति दान देकर भी उनका हृदय इतना गौरवान्वित न होगा। सलीम ने चुटकी ली – अब तो आप मुसलमान हो गये। सेठ जी बोले – मैं मुसलमान नहीं हुआ, तुम हिन्दू हो गये।"[143]

इस चयनात्मक सर्वेक्षण द्वारा मैंने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक समस्याओं को अपने साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान दिया लेकिन जिस हिन्दू–मुस्लिम एकता की भावना को प्रेमचन्द ने अपने साहित्य लेखन का महत्वपूर्ण विषय बनाया और मानवता को उच्च भावनाओ की जो निधि प्राप्त हुई उसे राष्ट्रवादी आन्दोलन के परवर्ती चरण में व्यवहार मे नही लाया जा सका। प्रेमचन्द ने जिस हिन्दू–मुस्लिम एकता का सपना देखा था, वह उनके जीवन पर्यन्त तो पूर्ण नही हो सका और न आगे ही, बल्कि उस एकता की नीव गिरती हुई नजर आयी। लेकिन जब तक पेमचन्द साहित्य जीवित है वह साम्प्रदायिकता के समक्ष एक चुनौती है क्योकि प्रेमचन्द ने न केवल इस समस्या को उठाया बल्कि इस महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न का धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक हल खोजने का प्रयत्न भी किया है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

जयशकर प्रसाद (1890–1937) वाराणसी के प्रसिद्ध 'सुॅघनी साहू' परिवार मे आविर्भूत हुये थे। परिवार के सात्विक एव धार्मिक सस्कारो का प्रसाद जी पर गंभीर प्रभाव पड़ा था। पिता के साथ कई धार्मिक एव ऐतिहासिक तीर्थयात्राओ में भाग लेने के कारण भी उनका व्यक्तित्व उदार एव सवेदनशील था। स्कूल की नियमित शिक्षा तो केवल आठवें दर्जे तक प्राप्त की थी, किन्तु स्वाध्याय द्वारा भारतीय इतिहास, संस्कृति, दर्शन, साहित्य और पुराण कथाओ का बहुत गहरा अध्ययन किया जिनका उनके साहित्य – निर्माण में अप्रतिम योगदान था।

इनकी लेखकीय रुझान के सन्दर्भ में एक कथा प्रचलित है। अन्नप्राशन संस्कार के बाद उसी पूजा विधि में पुस्तक, बही, मसिपात्र, लेखनी तथा बच्चे के मन को लुभाने वाली अन्य बहुत सी सतरंगी वस्तुओं तथा खेलने योग्य लाल–पीली पदार्थवलियों के बीच शिशु प्रसाद को अपने मन की चीज चुन लेने के लिये छोड़ दिया गया। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब सबकुछ छोड़कर प्रसाद ने केवल लेखनी उठा ली।[144] बावजूद इसके जब प्रेमचन्द ने 1932 में हंस का आत्मकथांक निकाला, उसके लिये प्रसाद जी से भी आत्मकथा माँगी, प्रसाद जी पहले तो तैयार नहीं हुये, किन्तु जब प्रेमचन्द ने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने अपनी आत्मकथा के नाम पर एक कविता भेज दी, जिसकी अंतिम पंक्तियाँ हैं – छोटे से जीवन की कैसी बड़ी कथाएँ आज कहूँ,/ क्या यह अच्छा नहीं की औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ?/ सुनकर तुम क्या भला करोगे, मेरी भोली आत्मकथा ?/अभी समय भी नहीं थकी सोई है, मेरी मौन व्यथा।[145]

इससे स्पष्ट होता है कि उनका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी एवं आत्मप्रचार से दूर था। ऐसी स्थिति में उनके जीवन सन्दर्भ में कुछ कहना तथा रचनाओं के सन्दर्भ में समझ विकसित करना एक दुष्कर प्रयास होगा। फिर भी विषय सम्बन्धित जिस पहलू का विवेचन यहाँ अभीष्ट है, उसके लिये आवश्यक है कि प्रसाद की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि एवं वैचारिक मनः स्थिति की तलाश की जाय। 1901 ई0 में प्रसाद जी के पिता देवी प्रसाद की मृत्यु हो गयी...... कुछ समय पश्चात माता का देहान्त हो गया..... माता की मृत्यु के लगभग दो वर्षो बाद शंभुरत्न जी (बड़े भाई) का देहान्त हो गया..... प्रसाद की अवस्था इस समय 17 वर्ष थी। केवल 5 – 6 वर्षों के भीतर ही तीन अवसान देखे पिता – माता और भाई। वे अकेले रह गये निःसहाय। ऐसे संघर्ष के क्षणों में भारतीय दर्शन ने प्रसाद जी को बड़ा सहारा दिया।[146] इससे स्पष्ट होता है कि उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों ने भी उनके वैचारिक सन्दर्भों को प्रभावित किया।

इसी सन्दर्भ में जब हम प्रसाद को उनके समकालीन मुंशी प्रेमचन्द के साथ रखकर देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि प्रसाद और प्रेमचन्द अपने जीवन की यन्त्रणाओं के बीच अपनी साहित्यिक रुचि को अभिव्यक्ति देते हैं। यह एक संयोग है कि हिन्दी साहित्य की ये दोनों विभूतियाँ वाराणसी जनपद से ही सम्बन्धित थीं और समकालीन भी। इन दोनों विभूतियों का साहित्यिक उद्देश्य भले ही एक रहा हो पर साहित्य की संरचना, स्वरूप तथा स्रोत में उत्तर – दक्षिण का अन्तर था। प्रसाद जहाँ प्रायः ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से

वर्तमान समस्याओ का अन्वेषण करते थे, वही प्रेमचन्द प्रायः वर्तमान प्रतीको का सहारा लेते थे। उनके समकालीन निकटस्थ मित्र विनोद शंकर व्यास लिखते है – "प्रसाद जी का सिद्धान्त बडा अटल था, वह मौन तपस्वी की भॉति अपना कार्य पूर्ण करते गये, कभी प्रचार और ख्याति के लिये लालायित नहीं हुये ... अभी तुम घबड़ा क्यों जाते हो आने वाला युग निर्णय करेगा।"[147] इसीलिये प्रसाद ने अपने सच्चे साथी साहित्य को समाज के सन्दर्भ में अलग–अलग रूपों में न केवल प्रस्तुत किया, अपितु एक स्वस्थ समाज का चित्रण कैसे होना चाहिए, इसका रास्ता भी दिखाया। प्रसाद ने इन्दु में लिखा है – "जब तक समाज के उपकार के लिये कवि की लेखनी ने कुछ कार्य न किया हो, तब तक केवल उसकी उपमा और शब्द वैचित्र्य तथा अलंकारो पर भूलकर हम उसे एक ऐसे कवि के आसन पर नहीं बैठा सकते, जिसने कि अपनी लेखनी से समाज की प्रत्येक कृतियो का स्पन्दित करके उसमें जीवन डालने का उद्योग न किया हो।"[148]

जब हम प्रसाद – साहित्य का विशद अनुशीलन करते है तो स्पष्टत. कृतियो का स्पन्दन एवं जीवन सायास ध्यान आकृष्ट करता है। यहॉ प्रसाद साहित्य के केवल उस पक्ष का विवेचन अभीष्ट है, जिसमें तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हिन्दू–मस्लिम विभेद / संघर्ष का चित्रण मिलता हो। प्रसाद एक समन्वयवादी साहित्यकार थे, स्पष्ट था कि उनकी कृतियों मे ऐसे प्रसंगो का चित्रण किसी पक्षधरता के साथ नही है। यद्यपि प्रसाद जीवन भर धार्मिक दृष्टिकोण वाले बने रहे – 'ईश्वर के प्रति निष्काम भावना और विश्वास प्रसाद मे अंतिम समय तक बना रहा। आनन्द और नियतिवादिता का यह घना रिश्ता ईश्वर के माध्यम से ही बनता है। शैव मतावलम्बी जयशंकर प्रसाद की सभी कृतियो मे प्रायः एक अदृश्य शक्ति के सचालकत्व का तर्क दिखायी पडता है, जो घोर से घोर नास्तिक को अंततः आस्तिक बना देता है।[149] किन्तु यहॉ यह स्पष्ट करना उचित है कि उनकी कृतियों मे जहॉ भी हिन्दू – मुस्लिम सघर्ष या समन्वय चित्रित है वहाँ किसी तरह का पूर्वाग्रह नही है। इसी दृष्टि से इन्हीं दोनो बिन्दुओ पर उनके साहित्य का विवेचन होगा।

जयशंकर प्रसाद अपने समकालीन साहित्यकर्मियों से कई अर्थो में भिन्न रहे हैं। उनके साहित्य का सन्दर्भ स्रोत प्रायः प्राचीन इतिहास से ग्रहण किया गया है। युगीन परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद द्वारा अतीत के स्रोतो से साहित्य सृजन के सन्दर्भ में यह ध्यान रखना होगा कि यह युग नवोत्थान का युग था, जिसमे प्रायः सभी राजनीतिज्ञ एवं समाजशास्त्री प्राचीन गौरव को

महिमान्वित कर रहे थे। आर्य संस्कृति के प्रति अतिशय लगाव समाज एव धर्म सुधारको मे भी था। ऐसी पृष्ठभूमि में प्रसाद का साहित्य स्रोत यदि समकालीन समाज नही है, तो आश्चर्य नही क्योंकि समकालीन परिस्थितियो मे एक हताशा भारतीय मन मे छायी हुई थी। जिसके सन्दर्भ मे सुदूर अतीत के प्रति उन्मुखता स्वाभाविक एवं अनिवार्य मान ली गयी। विद्या खण्डेलवाल के अनुसार – "सांस्कृतिक पराभव, आर्थिक राजनैतिक विफलता और सामाजिक स्थापनाओं एवं मूल्यों में क्षरण के चलते प्रसाद का कलाकार मन दुखी और क्षुब्ध था। साथ ही अतीत कालीन आदर्शो के प्रति अनुराग और श्रद्धा की भावुकता भी प्रसाद में प्रचुर परिमाण में थी। इस कारण अपने राष्ट्रीय आदर्शो का चित्र प्रस्तुत करते समय वे न तो अपने युग के पराभूत जीवन को भूल पाते और न सस्कृति की उस शालीनता को जो विविध दर्शनों के माध्यम से फैलकर समस्त राष्ट्र का जीवन स्पन्दन बन चुकी थी।"[150]

यद्यपि कि प्रसाद ने अपने साहित्य सृजन का विषय प्राचीन इतिहास को बनाया, किन्तु वे इतिहासकार की भूमिका मे नही थे। अतः उनकी इतिहास दृष्टि को साहित्यकार की दृष्टि से विवेचित करना ही अभीष्ट है। 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध" मे प्रसाद ने लिखा है – "साहित्यकार न तो इतिहासकार है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनो के कर्तव्य स्वतन्त्र है, साहित्य इन दोनो की कमी को पूरा करने का कार्य करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है ? उसको दिखाते हुये उसमे आदर्शवाद का सामजस्य स्थिर करता है।"[151] ऐसा ही विचार अवधेश प्रसाद सिंह का भी है – "प्रसाद जिस अतीत का चित्रण कर रहे थे, वह विकास दिश के निर्धारण हेतु भारतवासियो को आत्मबल प्रदान कर रहा था। प्रसाद विशुद्ध इतिहास नही लिख रहे थे। हम इस तथ्य को केन्द्र मे रखकर ही उनकी इतिहास दृष्टि को समझ सकते हैं, क्योकि प्रसाद की इतिहास दृष्टि मूलत. राष्ट्रीय चेतना पर केन्द्रित है और अपनी रचनाओ के माध्यम से वे भारतीय इतिहास के जिन पृष्ठो की खोज पहचान और पुनर्व्याख्या करते है, उसका लक्ष्य मात्र अतीत गौरव नही, बल्कि पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय एतिहासिक सकट का रेखाकन करना है।"[152]

प्रसाद की इतिहास दृष्टि को साम्राज्यवादी इतिहासकारो के परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहिये, क्योकि वे भारत भूमि के इतिहास को एक वैचारिक हथियार के रूप में प्रयुक्त कर रहे थे। उनकी भेद नीति जो कि आर्य संस्कृति के गौरव को खण्डित कर रही थी, उस पर प्रसाद ने लिखा है – 'हम इस भूमि की

सन्तान नही अपितु हमारे पूर्वज एक बर्बर आक्रान्ता रहे, जिन्होंने उन्नत द्रविड सस्कृति को ध्वस्त कर उनकी भूमि को अपहृत किया। वे प्रताड़ित द्रविड दक्षिण भारतीय हैं, इत्यादि के प्रचार मे देखा जा सकता है कि भेद नीति की कैसी प्रच्छन्न अव्यक्त और आरम्भिक भूमिका, इस भूमि पर पदार्पण करते ही विदेशी शासको ने बनाई थी, जिस भूमि पर उनके द्वारा आरोपित वर्ग द्वेष के कालकूट की विषलहरी आज भी इस महाजाति को मूर्च्छित किया करती है। वे दक्षिण भारत के आर्य केवल अपनी वर्ण श्यामलता से अनार्य बना दिये गये।''[153] यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा यह भेद–नीति राष्ट्रीय आन्दोलन के समय में हिन्दू–मुस्लिम एवं सिख समुदायों के सन्दर्भ में धडल्ले से अपनायी जा रही थी।

यद्यपि प्रसाद की गुलाम जहॉआरा, ममता, स्वर्ग के खँण्डहर, दासी आदि कहानियॉ एवं महाराणा का महत्व, प्रलय की छाया, वीर बालक आदि कविताओ तथा प्रायश्चित नाटक का आधार जहाँ मध्यकाल है, वहीं कहानी 'गुण्डा' तथा उपन्यास कंकाल एव तितली तथा शेरसिंह का शस्त्र समर्पण'' कविता ब्रिटिश काल पर आधारित हैं, किन्तु अधिकांश प्रसाद साहित्य अतीत को ही आच्छादित करता है। इसके सन्दर्भ में प्रसाद लिखते हैं – ''इसके आगे जो समय और समाज है, जिसमे विदेशी धर्म एवं संस्कृति एक दूसरे रूप में प्रबल है, जिसके सत्य का उद्‌घाटन किसी के मर्म पर आघात भी कर सकता है और भी आगे चलकर उत्तर मुगल – कम्पनी काल आता है, जिसे चित्रित करने में कारावास भी हो सकता है। इस वृहत् कारा की छोटी जेलो को बसाने में नहीं तोडने में विश्वास करता हूँ, इसीलिये मैंने अपनी सीमा बना ली है।''[154] अवधेश प्रसाद सिंह ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है –''प्रसाद ने मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी नहीं चलाई। इसका कारण यह था कि प्रसाद मध्य युग को पतन का काल मानते थे। उनकी दृष्टि में मध्यकालीन समाज अपने स्वार्थ मे इतना लिप्त था कि राष्ट्र या जाति के प्रति उसमे गौरव का भाव आ ही नही सकता था। परिणामतः उस काल के संघर्ष के पीछे लोक शक्ति का अभाव है और उस अभाव ने पूरे मध्य युग को अंधकार युग बनाकर रख दिया है।''[155]

प्रसाद के साहित्य सृजन में मिथकों एवं प्रतीकों का प्रयोग इस तरह से है कि वे उनकी साहित्यिक कल्पना में घुल मिल जाते हैं। अवधेश प्रसाद सिंह के अनुसार – ''प्रसाद मिथको को इतिहास का व्यापक स्रोत मानते थे और उसकी रचनात्मक भूमिका को अच्छी तरह पहचानते थे। इसीलिये मिथकों को गंभीरता से ग्रहण करते हुये उन्होंने उसके भीतर इतिहास और जीवन के

शब्दों का उद्घाटन किया।''[156] अतः प्रसाद अपनी रचनाधर्मिता में किसी भी मिथक को इतिहास की परिभाषा मे सत्य ठहराने की अनिवार्यता स्वीकार नही करते थे। इसीलिये वे अपने प्राचीन साहित्यिक धरोहरों को इतिवृत्त के रूप मे प्रस्तुत करने के लिये अपने साहित्य का आधार मान लेते हैं। उनके अनुसार – 'आदिम युग के मनुष्यों क प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है, क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का बीच – बीच में सम्बन्ध लगा हुआ सा दिखता है। घटनायें कही – कहीं अतिरंजित सी जान पड़ती हैं .... किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है, ऐसा तो मानना ही पडेगा। इसीलिये हमे अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थग्रहण करना पड़ा, जिससे कि उन अर्थो को अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाय।''[157]

यहॉ प्रसाद की अतीतोन्मुखता पर भी विचार आवश्यक है, जैसा कि शिवकुमार मिश्र स्वीकार करते है – ''अपने समान धर्माओ मे वे सबसे अधिक अतीतोन्मुख भी लगते है, गोकि उनके अनुसार अतीत का उनका सारा मथन वर्तमान के प्रयोजनो की तरह ही है।''[158] रमेशचन्द्र शाह का विचार है – 'उनकी रचनाओ मे अतीत इस तरह स्पन्दित और सृजित है, मानो वह वर्तमान की ही बात हो।''[159] प्रसाद अतीत की घटनाओ में प्रतीको का प्रयोग ऐसे करते है जैसे वे समकालीन समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर रहे हों। इसीलिये रामस्वरुप चतुर्वेदी इसे उनकी विशेषता मानते हुये कहते है – ''छायावादी काव्य मे पुनर्जागरण की चेतना सीधे लहराती है। गीतों के अतिरिक्त कविताओ के खण्डो मे जागरण का स्वर गूँजता है।''[160]

स्पष्ट है प्रसाद की इतिहास दृष्टि बहुत कुछ अतीत की स्मृतियो के आधार पर बनी हुई थी। जिसका कारण सम्भवतः यह था कि वे समन्वयवादी एव समरस भावना के साहित्यकार थे। इसीलिये उन्होंने विवादास्पद मध्यकाल पर लेखनी कम ही चलायी तथा वर्तमान काल भी लगभग इसी कारण अछूता रहा है, फिर भी जहॉ उन्होंने इन पर लेखन कार्य किया है, वहाँ उन ऐतिहासिक विभेदो एव सघर्षो का निर्माण करने से बच नहीं सके है यद्यपि कि यहॉ भी सामजस्य एव सौहार्द स्थापना का प्रयास दिखायी देता है।

इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि प्रसाद के धार्मिक दृष्टिकोण पर भी विचार किया जाय। इस प्रश्न पर उनका विचार मंथन काफी जटिल है।

धर्म का स्वरुप एवं उसमे लोगों की आस्था कैसी हो ? धार्मिक ढोंग से मुक्ति एव धर्म से राजनीति का सम्बन्ध क्या हो ? आदि प्रश्नो के साथ ही साम्प्रदायिकता के खिलाफ भी प्रतीकात्मक रूप से खडे होते है। व्यक्तिगत जीवन में प्रसाद हिन्दू – शैव शाखा के अनुयायी थे। वे धर्म के आरम्भिक रुप को ही सत्य स्वीकार करते हैं और उसे पुनः स्थापित करने का यत्न करते हैं। आर्य धर्म का आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि एक बार भी नष्ट नहीं हुआ है, फिर भी उसे जगाना पड़ेगा। वह अलस, अवसादग्रस्त, अपनी कायरता के कारण विवेक का ढोंग करने लगा है .... मुझे ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन आर्यवीर संस्कृति को लौटाने के लिये प्राचीन कर्मो को फिर से करना होगा, जिन्हे विवेक के अतिवाद के कारण मानवता के लिये हानिकर समझ लिया है।''[161]

प्रसाद हिन्दू समाज के अत्यधिक धार्मिक आग्रह पर भी चोट करते है– ''देखो ! यह बीसवीं शताब्दी मे तीन हजार बी.सी. का अभिनय, समग्र संसार अपनी स्थिति रखने के लिये चंचल है। रोटी का प्रश्न सबके सामने है, फिर भी मूर्ख हिन्दू अपनी पुरानी सभ्यताओं का प्रदर्शन कराकर पुण्य संचय किया चाहते है।''[162] इसी प्रकार वे मूर्तिपूजा को भी आवश्यक मानते हैं – 'हिन्दू समाज तुम्हे मूर्ति पूजा करने के लिये बाध्य नहीं करता ..... तुम अपने को उपयुक्त समझते हो तो उससे उच्चतर उपासना प्रणाली में सम्मिलित हो जाओ।''[163] धार्मिक आडम्बर का विरोध करते है – ''मै आडम्बर नहीं चाहता, व्यक्तिगत श्रद्धा से जो जितना कर सके उतना ही पर्याप्त है।''[164]

प्रसाद धार्मिक संगठनों की उस प्रवृत्ति पर भी प्रहार करते है जो युवा शक्ति को सन्यास धर्म धारण करने एवं ब्रहमचर्य पर बल देती है। 'देवरथ' कहानी की सुजाता से यही बात व्यक्त करवाते है – 'पवित्र गार्हस्थ्य बन्धनों को तोडकर तुम लोग भी वासना तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो। तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थों से भी तीव्र है, क्षुद्र एवं निम्न कोटि की है .... तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बर पूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नही रह सकता।''[165] विशाख नाटक में प्रेमानन्द कहते है – ''वैराग्य अनुकरण करने की वस्तु नहीं है, जब वह अन्तरात्मा में विकसित हो .... जब तक सुखभोग कर चित्त उनसे उपराम नही होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नहीं पाता।''[166] इस प्रकार प्रसाद धर्म को रूढियों से मुक्त कर प्राचीन आर्य धर्म की स्थापना की बात करते है। जैसा कि रत्नशकर प्रसाद लिखते हैं – ''प्रसाद की प्रमुख चिन्ता दिव्य आर्य

सस्कृति की स्थापना है। यह सस्कृति व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास को मान कर चलती है और विधि निषेध के बन्धनों से मुक्त रखती है। आर्य समाज से प्रभावित होते हुये भी प्रसाद आर्य समाज की शुष्कता से रहित है।''[167]

प्रसाद धर्म की राजनीति करने का विरोध करते हैं, यद्यपि कि राजनीति का एक धर्म मानते हैं, लेकिन दोनो के घाल–मेल के पक्षधर नहीं हैं। प्रसाद के अन्तिम अपूर्ण उपन्यास 'इरावती'' मे सम्राट बौद्धविहार में अधिक रुचि लेते हैं – 'कहो तो धर्म महामात्र की स्थविर से कैसी पटती है ? सम्राट इरावती को रंगशाला में देखना चाहते है। धर्म महामात्र ने स्थविर से कहा कि किसी आपत्ति दोष से उसे संघ से बाहर कर दिया जाय, तो उसे रंगशाला में ले जाने में सुविधा होगी।''[168] प्रसाद शासक की धर्म पर निर्भरता की भी आलोचना करते है और इसे ही भारत की पराधीनता का कारण भी मानते हैं – ''धर्मशाला पूछते है आप ? समूचा मगध धर्मशाला ही तो है। जहॉ चाहिये पूछना क्या यही सुनकर तो सुदूर यवन देश से बहुत अतिथि आ गये है।''[169] प्रसाद इस दृष्टिकोण के समर्थक है कि धर्म राजनीति को बचाता है न कि राजनीति धर्म को। धर्म को बचाने के लिये तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई, धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल केद्वार सुरक्षित होगा।''[170]

प्रसाद की इसी वैचारिक पृष्ठभूमि मे उनकी रचनाओं मे हिन्दू–मुस्लिम सघर्ष का कुछ चित्रण मिलता है। प्रसाद की कहानियो 'अशोक'', 'दासी'', 'चक्रवर्ती का स्तंभ', 'ममता', 'गुलाम', 'स्वर्ग के खण्डहर', 'सलीम' एवं 'चित्तौर का उद्धार' मे इसे देखा जा सकता है। इसी प्रकार उनकी कविताओ 'महाराणा का महत्व', 'वीर बालक', 'शेर सिंह का शस्त्र समर्पण', 'प्रलय की छाया', नाटक प्रायश्चित, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त एव कंकाल तथा तितली जैसे उपन्यासो मे कुछ में प्रत्यक्ष तथा कुछ मे अप्रत्यक्ष रूप से यह संघर्ष दिखायी पडता है। इनमे प्रायः उन प्रतीक शब्दों एवं मान्यताओं का प्रयोग हुआ है, जो साम्प्रदायिक सन्दर्भो में व्यवहृत होते है।

अपने निबन्ध संग्रह 'काव्य कला एवं अन्य निबन्ध'' मे प्रसाद मध्यकालीन भारत को आतक एव अस्थिरता का युग बताते हैं। साम्प्रदायिक विद्वेष के लिये ब्रिटिश प्रशासन को दोषी ठहराते हुये कहते है – 'तुम दोनों देखो राष्ट्रनीति/शासक बन फैलाओ न भीत।''[171] कहानी 'अशोक' मे बौद्धो द्वारा जैन समुदाय पर अत्याचार का मार्मिक चित्रण है, जो समसामयिक हिन्दू – मुस्लिम साम्प्रदायिक हिसा की ओर सकेत करता है।[172] प्रसाद ने अपनी कहानी

'चित्तौर का उद्धार " में यद्यपि कि राजपूतो के आपसी सघर्ष को चित्रित किया है किन्तु हम्मीर की विजय इस प्रकार चित्रित करते हैं – 'आपको चित्तौर का सिहासन सुखद हो, देश की श्री वृद्वि हो, हिन्दुओं का सूर्य मेवाड़ गगन में एक बार फिर उदित हो।'[173] जिससे अप्रत्यक्षतः विदेशी शासन के प्रति एकजुट होने का संकेत मिलता है।

प्रसाद की कहानी 'गुलाम' में हिन्दू – मुसलमानों के बीच के वैमनस्य को उभारा गया है। मुगल बादशाह शाहआलम मराठा सरदार सिन्धिया के प्रभाव में हैं – 'भारत के सपूत, हिन्दुओं के उज्ज्वल रत्न छत्रपति महाराज शिवाजी ने जो अध्यवसाय और परिश्रम किया, उसका परिणाम मराठों को अच्छा मिला .... शाह आलम के दरबार में क्या .... भारत में – आज मराठा वीर सिन्धिया ही नायक समझा जाता है।[174] किन्तु शाहआलम का एक कर्मचारी इस हिन्दू प्रधानता से ईर्ष्या करता है – 'शुभचिन्तक होने पर भी वह सिन्धिया की प्रधानता से भीतर – भीतर जला करता था। मंसूर के शब्दों मे – 'हमारे आका शहंशाह हिन्द एक काफिर के हाथ की कठपुतली न बने रहें।'[175]

मुस्लिम आक्रान्ताओ द्वारा हिन्दू देवस्थानों की तोड–फोड़ का जिक्र कहानी चक्रवर्ती का स्तंभ मे है – 'किन्तु निष्ठुर सैनिको ने कुछ न सुना। तोड–ताड, लूट–पाट करके सब पुजारियों को, बुतपरस्तो को बॉधकर उनके धर्म विरोध का दण्ड देने के लिये ले चले।' इस पर कहानी का एक पात्र धर्मरक्षित पूछता है– 'सैनिको तुम्हारा भी कोई धर्म है।' एक ने कहा – 'सर्वोत्तम इस्लाम धर्म।' धर्मरक्षित – क्या इसमें दया की आज्ञा नही ? उत्तर न मिला . ... क्या पागल बूढ़े से बक – बक कर रहे हो ? कोई ऐसी फिक्र करो कि किसी बुत की परस्तिश का ऊँचा मीनार तोडा जाय।''[176] कहानी 'ममता'' मे अफगान शासक शेरशाह द्वारा हिन्दू दुर्ग रोहिताश्व पर छलपूर्वक अधिकार किये जाने का चित्रण हैं – 'बात बढ़ गयी। तलवारें खिंची, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा – रानी और कोष छली शेरशाह के हाथ पडे, निकल गयी ममता। डोली मे भरे हुये पठान सैनिक दुर्ग भर में फैल गये।''[177] इसी कहानी मे मुगल बादशाह हुमायूॅ चौसा युद्ध मे पराजित हो शरण के लिये ममता की झोपडी मे पहुॅचता है तो वह सोचने लगी – 'ये सब विधर्मी दया के पात्र नही– मेरे पिता का वध करने वाले आततायी ! घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।''[178] यह वर्णन दोनों सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य को रेखाकित करता है, यद्यपि कि ममता द्वारा हुमायूॅ को शरण दी जाती है।

प्रसाद ने प्रायः हिन्दू – मुस्लिम सम्बन्धों के प्रमुख मुद्दों पर ध्यान दिया है, यद्यपि इस सन्दर्भ में परिमाण मे उनका लेखन कार्य कम ही है। कहानी 'स्वर्ग के खण्डहर' मे सीमान्त पर आक्रमण, मुस्लिम आतक तथा धर्मपरिवर्तन के प्रलोभन तीनो का चित्रण है। यह कहानी चंगेज खाँ के आक्रमण के सन्दर्भ में लिखी गयी है। सीमान्त पर आक्रमण की समस्या को इस प्रकार उठाया गया है – 'वाह्लीक, गांधार, कपिशा और उद्यान मुसलमानों के भयानक आतंक में कॉप रहे थे। गांधार के अंतिम आर्य नरपति भीमपाल के साथ ही शाही वंश का सौभाग्य अस्त हो गया।''[179] मुस्लिम आतंक का चित्रण इस प्रकार है – 'तलवार के बल पर शान्ति स्थापित कर पृथ्वी पर स्वर्ग बनाना चाहता है। पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानव जाति के लिये जीने दो। अपनी आकांक्षा के लिये, कल्पित स्वर्ग के लिये, इस महती को, इस धरणी को नरक न बनाओ, जिससे देवता बनने के प्रलोभन मे पडकर मनुष्य राक्षस न बन जाय शेख ![180] इसी कहानी में हिन्दू पात्र लज्जा को शेख प्रलोभन देता है, जो धर्मान्तरण की ओर संकेत करता है – 'उसने कहा तुम ठीक मेरे स्वर्ग की रानी होने योग्य हो। यदि मेरे मत मे तुम्हारा विश्वास हो, तो मै तुम्हे मुक्त कर सकता हूँ। बोलो।''[181]

महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद की स्थितियों का वर्णन कहानी 'दासी' मे मिलता है। यद्यपि कि सुल्तान मसऊद के कुछ कर्मचारी हिन्दू है जो कि महमूद के साथ ही भारत से गये थे किन्तु उनका विश्वास सुल्तान के प्रति नही है। कहानी का एक पात्र बलराज कहता है – 'कुछ भी हो तुर्क सुल्तान के अपने लोगो मे है और हिन्दू बेगाने ही है।''[182] इसी प्रकार का भाव कर्मचारी तिलक मे भी है यद्यपि कि वह एक उच्च पदस्थ कर्मचारी है, लेकिन वह अपने इस जीवन से सतुष्ट नही है इसीलिये हिन्दुस्तान वापस नही जाना चाहता – 'मै हिन्दुस्तान नहीं जाना चाहता .. .. मै हिन्दू हूँ फिरोजा । आज तक अपनी आकांक्षा में भूला हुआ अपने आराम में मस्त .... हिन्दुस्तान की अपनी जन्मभूमि को और उसके दुख दर्द को भूल गया। सुल्तान महमूद की लूटों की गिनती करता रहा। उस रक्त रंजित धन की तालिका बनाना, हिन्दुस्तान के ही शोषण के लिये सुल्तान को नयी – नयी तरकीबें बताना यही तो मेरा काम था .... मै चिर निर्वासित विस्मृत अपराधी ।[183] यह स्वीकारोक्ति न केवल पराधीन स्थिति को दर्शाती है बल्कि उसके लिये अपराध भावना भी है का संकेत भी करती है। इसी कहानी मे मुस्लिम अधिकारी नियाल्तगीन बलराज के बहाने हिन्दुओं के बारे मे राय व्यक्त करता है – 'तुम अभी तक हिन्दू बने हो।

पुरानी लकीर पीटने वाले, जगह–जगह झुकने वाले, सबसे दबते हुये, बचते हुये, कतरा कर चलने वाले हिन्दू .... मन में नयापन तथा दुनिया का उल्लास नही आने पाता।[184] अन्यत्र यही नियाल्तगीन बलराज को 'धोखेबाज काफिर' [185] का सबोधन भी करता है। स्पष्ट है साथ रहने के बाद भी दोनों धर्मो में कटुता अवश्य थी।

प्रसाद की कहानी 'सलीम' अतिशय संवेदनायुक्त कहानी है। इसमें अफगानिस्तान के एक गॉव में रह रहे हिन्दू मुसलमानों के बीच भाईचारे की उत्कृष्ट मिसाल है, किन्तु हिन्दुस्तान से हिजरत कर गया सलीम इसे अच्छा नहीं मानता क्योंकि जब प्रेम कुमारी अपने पडोसी मुस्लिम लडको को खीर का प्रसाद देती है तो वह विरोध करता है – 'उधर वह नवागन्तुक मुसलमान अपनी टूटी – फूटी पश्तों मे लड़के से काफिर का प्रसाद खाने की अमीर की धृष्टता का विरोध कर रहा था।'[186] इसका कारण था 'जिसके लिये वह हिजरत कर भारत से चला आया था उस धर्म का मुसलमान देश में भी यह अपमान।' [187] इसके लिये वह कट्टर वजीरियो द्वारा उस गॉव पर आक्रमण करा देता है, यद्यपि कि शरणार्थी के रूप में वह उसी हिन्दू घर में बाद में रहता भी है।

जयशंकर प्रसाद का काव्य कर्म भी ऐसे उद्धरणों से भरा है। 'महाराणा का महत्व' 'वीर बालक' 'प्रलय की छाया' 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' मे इसे देखा जा सकता है। महाराणा का महत्व कविता अकबर एवं महाराणा प्रताप के संघर्ष पर आधारित है, जिसमें प्रसाद का स्वर हिन्दू उदात्तता एव महत्ता को स्थापित करता है – अभी देर भी हुई नही उस भूमि में,/उन दर्पोद्धत यवनो के उस वृन्द को/कानन घोषित हुआ अश्व–पद शब्द से,/लू समान कुछ राजपूत भी आ गये[188] मचा द्वन्द तब घोर उसी रणभूमि मे रुधिर – फुहारा – पूर्ण यवन – कर कट गया...... ... घेर लिया शिविका को क्षत्रिय सैन्य ने/जय कुमार श्री अमरसिह के नाद से/कानन घोषित हुआ।[189]

इस कविता मे महाराणा प्रताप को इस प्रकार महिमामडित करते हुये प्रसाद जी ने याद किया है– कहो कौन है ? आर्य जाति के तेज सा देशभक्त जननी का सच्चा पुत्र है। इसीलिये वे उस नाम का स्मरण करने का उद्बोधन भी करते है – कर अपने प्रताप को विस्मृत सो गये/अरे कृतघ्न ! बनो मत उसको भूल के यह महत्वमय नाम स्मरण करते रहो।[190] और ऐसा इसलिये कि 'वीर प्रताप दहकता था दावाग्नि सा' [191] ..... मुगलवाहिनी से जब होता सामना/ भिड जाना उसका सन्मुख कर्तव्य था।[192]

'वीर बालक' कविता मे गुरू गोविन्द सिंह के पुत्रो को मृत्युदण्ड दिये जाते समय धर्मान्तरण का प्रलोभन दिया जाता है, किन्तु वे इन्कार कर देते है – 'यदि पवित्र इस्लाम धर्म स्वीकार है/तुम लोगो को तब तो फिर आनन्द है, किन्तु उन वीर पुत्रों द्वारा इसका नकारात्मक उत्तर दिया जाता है – 'कहा यवन क्यों व्यर्थ मुझे समझा रहे/वाह गुरू की शिक्षा मेरी पूर्ण है।'[193] इसी कड़ी में 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' कविता में वर्णित संघर्ष को भी देखा जा सकता है, यद्यपि कि यहॉ ब्रिटिश सेना द्वारा सिखों की पराजय का वर्णन है, किन्तु कविता में सिखों के गौरवमयी अतीत को याद किया गया है – 'यवनो के हाथों से स्वतन्त्रता छीनकर/खेलता था यौवन विलासी मत्त पंचनद'[194] जो ब्रिटिश शासन से पूर्व मुगल सत्ता से संघर्ष की याद दिलाता है।

सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा गुजरात पर आक्रमण के आधार पर लिखी गयी कविता 'प्रलय की छाया' मे गुजरात के शासक कर्णदेव की पत्नी कमला को बन्दिनी बनाये जाने का वर्णन है। इस कविता में तुर्कों के अत्याचार का वर्णन है – 'क्रोध सुल्तान का दग्ध करने लगा/दावानल बनकर/हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का/बालकों की करुण पुकारे और वृद्धो की/आर्तवाणी/क्रन्दन रमणियो का/[195] इस युद्ध में गुजरात नरेश परास्त होता है और उसकी रानी बन्दिनी होती है – 'थके सो रहे थे तरु छाया मे हम दोनो/तुर्कों का एक दल आया झंझावात सा .... और हुई बन्दी में,[196] किन्तु रानी इस प्रतिशोध के साथ दिल्ली आती है कि वह अलाउद्दीन से बदला लेगी, किन्तु वह ऐसा कर नही सकी, और यह कार्य करता है उसका एक नौकर मानिक, जो खुसरो बन गया था—अन्त कर दास राजवश का/लेकर प्रचण्ड प्रतिशोध निज स्वामी का/मानिक ने खुसरू के नाम से/शासन का दण्ड किया ग्रहण सदर्प।[197] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रसाद ने मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी कम ही चलायी है किन्तु जहॉ उन्होने इसे अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है वहॉ हिन्दू – मुस्लिम सघर्ष का चित्रण भी हुआ है।

नाटको मे प्राचीन इतिहास की विषय वस्तु अधिक है। अत उनमे हिन्दू – मुस्लिम संघर्ष की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं है, किन्तु प्रसाद उन स्थितियों की ओर संकेत अवश्य करते है जिनसे वर्तमान समय मे यह संघर्ष प्रतिफलित हुआ और विदेशियो को भारत मे घुसने का मौका मिला। फूट और ईर्ष्या को बढावा जो कि ब्रिटिश नीति का आधार रही उसे अप्रत्यक्षतः 'चन्द्रगुप्त'' नाटक मे देखा जा सकता है। इसमे सिंहरण कहता है – ''उत्तरापथ के खण्ड राज्य द्वेष से जर्जर है। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।''[198] ...... यवन आक्रमणकारियो के

पुष्कल स्वर्ग से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख रजनी की शान्ति निद्रा मे, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य हैं।"[199] अपने को अलग—अलग इकाई के रूप में समझने की व्याधि का चित्रण है – "हम मागध है और यह मालव'[200] इस पर चाणक्य कहता है – "तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ?'[201] धार्मिक समुदायों में व्याप्त विभेद को लक्ष्य कर चाणक्य कहता है – "यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण में भेद नही करेंगे।"[202] चन्द्रगुप्त भी इसका उल्लेख करता है – "दारुण द्वेष से सब जकडे हैं।"[203] ये कथन परोक्ष रूप से हिन्दू – मुस्लिम विभेद की ओर संकेत करते हैं।

इसी तरह के अप्रत्यक्ष संकेत अन्य नाटको स्कन्दगुप्त, अग्निमित्र, अजातशत्रु आदि में भी मिलता है, किन्तु मध्यकालीन इतिहास के आधार पर लिखे गये नाटक 'प्रायश्चित' में इसके प्रत्यक्ष संकेत हैं। इस नाटक मे पृथ्वीराज और एव जयचन्द की आपसी कटुता एवं सघर्ष को आधार बनाया गया है जिसके परिणाम स्वरूप जयचन्द द्वारा मुहम्मद गोरी को बुलाया जाता है। जिसका परिणाम होता है – 'हिन्दू साम्राज्य सूर्य इसी, रणभूमि अस्ताचल मे डूबा है। चौहान कुलभूषण पृथ्वीराज का इसी युद्ध मे सर्वस्वान्त हुआ।"[204] यह सब इसलिये हुआ कि – "जामाता से प्रकाश्य युद्ध कैसे हो, इसलिये यवन बुलाये गये और आर्य साम्राज्य का नाश किया गया।"[205]

दूसरी ओर इस सघर्ष में विजयी मुसलमानों मे खुशी व्याप्त है क्योकि अब तुर्क महमूद गजनवी की तरह केवल लूटपाट के लिये हिन्दुस्तान नहीं आये थे बल्कि इस पर अपना शासन स्थापित करना चाहते थे। मुहम्मद गोरी कहता है – "बहादुर शफकत ! आज सचमुच हिन्दुस्तान हलाली झण्डे के नीचे आ गया। और यह सब तो एक बात है, दरअसल खुदाये पाक को अपने पाक मजहब को जीनत देना मजूर है। नही तो भला इन फौलादी देवजादे हिन्दुओं पर फतह पाना क्या मुमकिन था .... हकीकत मे वह शख्स काबिल तारीफ था और मुसलमानों को भी ऐसा ही मजहब का पक्का होना चाहिये। देखो कितनी बेरहमी से उसका कत्ल किया गया, मगर उस काफिर ने पाक दीन इस्लाम कबूल नही किया।'[206] जिस आपसी फूट के कारण मुसलमानों का आगमन हुआ उस जयचन्द के बारे में उनकी धारणा से यहॉ पर उनके शासन स्थापना के विचार का पता चलता है – 'काफिर जयचन्द भी खूब छका। उसने समझ रखा था कि तख्ते देहली हमी को मिलेगा। आपके जवाब ने तो उस पर

कहर ढहा दिया होगा।'[207] इस प्रकार इस नाटक में आपसी फूट की चरम स्थिति का चित्रण है क्योंकि इसी के परिणाम रूप में विदेशियो का शासन स्थापित हुआ। साथ ही दोनो सम्प्रदायो के बीच धर्म के आधार पर वैमनस्य का चित्रण एव इस्लाम अनुयाइयो मे अपने धर्म के प्रसार की भावना भी है।

प्रसाद के साहित्य में हिन्दू – मुस्लिम संघर्षो के साथ ही उनमें वर्तमान राजनीति की आवश्यकता के अनुरूप समन्वय स्थापित करने का प्रयास भी दिखता है। प्रसाद अपनी कविता 'महाराणा का महत्व' में हिन्दू मुस्लिम एकता की बात करते हैं –'दो महत्वमय ह्वदय जब एक हो गये/ फैलेगा फिर यह महान सौरभ यहॉ/ जिसके सुखमय गंध प्रेम में मत्त हो/ भारत के नर गावेंगे यश आपका' ।[208] सच्चे मुसलमानों की प्रसाद प्रशंसा भी करते है– 'सच्चे तुर्क न होते कभी कृतध्न है।'[209] इसी प्रकार प्रसाद अपनी कहानी 'ममता' मे हिन्दू नायिका को विधर्मी मुगल को शरण देते हुये दिखाते है – 'तुम चाहे कोई हो मैं तुम्हे आश्रय देती हूँ, मै ब्राह्मण कुमारी हूँ सब अपना धर्म छोड दे तो मै भी क्यो छोडूँ।'[210] प्रसाद की कहानी 'सलीम' हिन्दू – मुस्लिम एकता की स्थापना की दृष्टि से एक संवेदनशील कहानी है, यद्यपि कि इसके एक पात्र सलीम द्वारा कट्टर वजीरियों से मिलकर उस अफगान गॉव पर आक्रमण किया जाता है जहॉ हिन्दू परिवार रहता है किन्तु गॉव का पठान मुखिया एव अन्य मुसलमान मिलकर न केवल हिन्दू परिवार की रक्षा करते है, बल्कि दण्डस्वरूप सलीम को अपग भी बना देते है और सलीम कुछ दिन तक उसी हिन्दू परिवार की शरण में रहता भी है किन्तु जब उसे पठानो द्वारा गॉव छोडने के लिये कहा जाता है तब भी वह हिन्दू नायिका को अपने अतिम समय तक 'बुते काफिर'[211] के रूप में याद करता है।

इस प्रकार जहॉ प्रसाद साहित्य में संघर्षो का चित्रण है वही हिन्दू – मुस्लिम धर्म की विकृतियों का परिष्करण करके एक मानवता वादी धर्म की स्थापना का प्रयास भी है। उनके नाटकों पर हिन्दूवादी मान्यताओं के आरोप के उत्तर में विद्या खण्डेलवाल कहती है' – ''प्रसाद जी के नाटकों की राष्ट्रीयता को हिन्दुत्व या किसी सम्प्रदाय अथवा जाति के खूँटे से बॅधा हुआ नही कहा जा सकता।''[212] इसी प्रकार शभूनाथ स्वीकार करते हैं – ''प्रकृति हो या इतिहास प्रसाद का मुख्य सरोकार था अपने समय एवं समाज को बदलना। जितना सवेदनशील वे प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति थे, उतना ही सचेत राजनीति के प्रति

थे। उनका साहित्य राजनीतिक घटनाओ की प्रतिक्रिया नही है, पर जातीय स्वतन्त्रता, स्त्री मुक्ति, साम्प्रदायिक संप्रीति, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, समरसता की प्रतिध्वनियाँ, उनकी रचनाओ मे नहीं है यह कौन कहेगा।"[213] इस प्रकार निष्कषर्तः यह स्थापित होता है कि समस्या के दोनों पक्षों पर उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी का ही रहा है और यही उनका मूलस्वर भी था।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला (1896 – 1961) का व्यक्तित्व तमाम जटिलताओं से निर्मित हुआ था, जिसमें भारतीय संस्कृति की विविधता संश्लिष्ट रुप में झलकती थी। इसमे उनके विभिन्न स्थानों पर प्रवास का प्रभाव भी था। निराला मूलतः अवध क्षेत्र के गढाकोला (उन्नाव) के निवासी थे, किन्तु आजीविका की तलाश मे पिता बंगाल के महिषादल (मेदिनीपुर) मे प्रवास कर रहे थे। निराला का जन्म यहीं हुआ और बचपन में ही माता के देहान्त से उन्हे स्नेहिल सरक्षण का अभाव झेलना पड़ा। बचपन में ही परिणय सूत्र में बॅधे किन्तु यह साथ भी अधिक दिनो का नही रहा। 1920 तक पत्नी, पिता तथा परिवार के कई अन्य सदस्य असमय काल कवलित हुये। इन परिस्थितयो एव कलकत्ता, लखनऊ तथा इलाहाबाद मे लम्बे प्रवास से उनका व्यक्तित्व विविधताओ का सगम हो गया। उनकी रचनाओ के विवेचन में इनका ध्यान आवश्यक है। यहॉ विषय की परिधि मे उनकी रचनाओ मे साम्प्रदायिक तत्वों की ही तलाश होगी।

इसके लिये आवश्यक है कि निराला की मानसिक बनावट एव चिन्तन को स्पष्ट किया जाय। भारतीय साहित्यविद् कमला रत्नम् के शब्दो मे – 'उनके चरित्र व्यक्तित्व एव विचारो का गठन बंगाल के सास्कृतिक पुनरुत्थान के प्रभाव मे हुआ था।[214] निराला की मानसिक बनावट में पुनरुत्थान वादी चेतना का बहुत कुछ हाथ था। रामकृष्ण मिशन मे 'समन्वय' के हिन्दी सस्करण मे काम करने के कारण वे सक्रिय रूप से इस वैचारिक मंथन मे सम्मिलित हुये थे।[215] नन्दकिशोर नवल उनके चिन्तन पर विवेकानन्द एव वेदान्त का असर देखते है। उनके कई निबन्धों के आधार पर इसका विश्लेषण करते है। अपने जीवन के बिल्कुल आरम्भ मे निराला स्वतन्त्रता को दो रूपो मे देखते थे – बाहरी स्वतन्त्रता और भीतरी स्वतन्त्रता। इन दोनो के बीच द्वन्दात्मक सम्बन्ध की कल्पना करने मे असमर्थ थे। अपने 'बाहर और भीतर' शीर्षक निबन्ध मे वे सामाजिक स्वतन्त्रता को बाहरी स्वतन्त्रता और भौतिक उन्नति का लक्ष्य ध्वस

बताते है। इसी तरह 'शक्ति परिचय' निबन्ध में कहते है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता ही समष्टिगत स्वाधीनता की जननी है और इस दृष्टि से आज भी भारत मे अन्य देशो की अपेक्षा स्वाधीन मनुष्यो की संख्या अधिक होगी। मतलब यह कि आत्मा माया के बन्धनो से स्वतन्त्र है, तो मनुष्य स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र होने के लिये सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतन्त्रता नही बल्कि आत्मा की स्वतन्त्रता चाहिये। वह मिल गयी तो बाहरी स्वतन्त्रता अवश्यंभावी है। आश्चर्य नहीं कि 'प्रवाह' शीर्षक निबन्ध मे निराला ने यह कहा कि आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारों से अलग है और बिना मुक्त हुये जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता।[216] इस प्रकार स्पष्ट है कि निराला की विचारधारा के निर्माण मे वेदान्त की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर भी है।

नीलाभ के अनुसार – ''निराला के निजी जीवन संघर्ष के अनगिनत चित्र, अनगिनत भावाभिव्यक्तियॉ उनकी कविता मे मौजूद है। इर्द – गिर्द के जीवन की विषमता से जनित आक्रोश और अवसाद के अप्रतिम रेखाकन वहॉ मिलते है, प्रकृति की रगारग छवियॉ वहॉ नजर आती है, मगर सब कुछ अन्तत. हिन्दू धार्मिक परम्परा और निराला के वैष्णवी सस्कारो के दायरे मे ही है। निराला के समय के अनेक महत्वपूर्ण मुद्दे, इसी सीमा के कारण छूट गये है।[217]

इन्ही बातो को नीलाभ निराला के कुछ निबन्धो के आधार पर और अधिक स्पष्ट करते है – शुरू से ही निराला की मूल मनोभूमि धर्मनिरपेक्ष न होकर हिन्दू संस्कारिकता से रजित है। वे मध्यकाल के तरह – तरह के संघर्षो को जो राजनीतिक रहे हो या आर्थिक, हिन्दू – मुस्लिम संघर्षो के रूप मे चित्रित करते है। 'हमारा समाज' शीर्षक लेख मे वह लिखते है – 'फिर हजार वर्षो से हिन्दू – मुस्लिम युद्ध चलने लगा।' 'महर्षि दयानन्द और युगान्तर' जैसा लेख हो या 'सामाजिक पराधीनता' 'वर्तमान हिन्दू समाज' और 'हमारा समाज' जैसी टिप्पणियॉ निराला का रुख एक ऐसे उदारमना हिन्दू का सा है जो वर्णाश्रम धर्म और हिन्दू धर्म के अन्तर्विरोधों को देखकर दुखी हो रहा है और कभी इसे आध्यात्मिकता और ज्ञान के लोप का नतीजा मान रहा है, कभी प्राचीन सस्कारो के विलोप का।' 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थित' मे भी वह जब यह कहते है – 'क्या तमाम राजनीतिक अधिकार मुसलमानों की तरह हिन्दुस्तान की छाती पर रहकर भोग करना पारसियों के डंडे का फल है? या इसी लेख मे मुसलमानो को भारतवर्ष की छाती के पीपल' की सज्ञा देते हैं, तो वह अपना हिन्दूवादी झुकाव स्पष्ट करते है।[218]

निराला काव्य का व्यापक अनुशीलन करने पर उनमें हिन्दू धार्मिक पुराण कथाओ और प्रतीको का प्रयोग मिलता है। 'भारति वन्दना' हो या 'सरोज स्मृति', 'वसन वासन्ती लेगी' गीत हो या 'राम की शक्ति पूजा' जैसी लम्बी कविता, जगह – जगह हिन्दू मिथको की भरमार मिलती है। "जागो फिर एक बार", तुलसीदास" और "शिवाजी का पत्र" तो स्पष्टतः निराला के हिन्दूवादी रुझान को स्पष्ट एवं पुष्ट करती मालूम होती हैं। अतीत के मिथकों एवं प्रतीकों के आधार पर बुनी इन कविताओं से अतीत की संस्कृति के प्रति उनकी धारणा का भी ज्ञान होता है।

दूधनाथ सिंह निराला काव्य में प्रयुक्त उपमाओं के आधार पर निराला मे पुनरुत्थान का स्वर देखते है – "इन्ही सारी उपमाओं से निराला की सास्कृतिक धारणायें भी धीरे – धीरे स्पष्ट होती दिखायी देती हैं। इसमे कोई शक नहीं कि उनकी इस तरह की कविताओं में जो सांस्कृतिक धारणा उभरकर सामने आती है, वह अतीतोन्मुख है। उनके इस तरह के उद्‌गारो से कही – कहीं उनके अतीतजीवी होने का भ्रम भी हो जाता है। लेकिन वे अतीतजीवी है नही, दरअसल वे भारत के सास्कृतिक अधःपतन का कोई विकल्प चाहते है। इस विकल्प की खोज मे वे भारतीयता को पहले स्थान पर रखते है। इसीलिये वे बार – बार भारतीय संस्कृति की उन तमाम विशेषताओ को बिम्बात्मक शब्द बन्ध में अपनी कविता मे उतारते है। इस विकल्प की खोज मे भारत के गौरवमयी अतीत मे पैठना और वहॉ से छानकर सांस्कृतिक पुनरुत्थान के किसी विकल्प को निकालना उन्हे अधिक सुविधाजनक लगता है। सुविधाजनक भी क्यो कहे, दरअसल वे किसी दूसरे विकल्प की परिकल्पना नहीं कर पाते। इस रूप मे वे पुनरुत्थानवादी और पुनर्जागरणवादी अधिक लगते है।"[219]

यहॉ निराला काव्य मे आये ऐसे तत्वो की व्याख्या दो दृष्टिकोणो से करना समीचीन है – (1) ये तत्व (हिन्दू प्रतीक, एवं उपमान) निराला की कविताओ मे किस तरह प्रयुक्त हुये है और (2) क्या उनका काव्य इनसे साम्प्रदायिक हो जाता है या क्या निराला साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साहित्य सृजन कर रहे थे। इसी परिप्रेक्ष्य मे निराला के हिन्दू – मुस्लिम सम्बन्ध के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जा सकता है।

पहली धारणा के अनुरूप यदि हम निराला साहित्य का विवेचन करते हैं, तो तमाम बाते एवं सवाल उभरते हैं। जिस भारतीय सस्कृति की चर्चा निराला अपनी कविताओ मे करते हैं उसका स्वरूप क्या है ? उनकी कविताओ

मे जो बिम्ब एव प्रतीक प्रयुक्त हुये हैं, उनका आशय क्या है ? जिस जाति – जीवन की चर्चा वे करते है, उसका भारतीयता एवं राष्ट्रीयता से क्या सम्बन्ध है ? हिन्दू एवं मुसलमान के सन्दर्भ मे उनके इस 'जाति' शब्द का अर्थ क्या है ? इन्ही प्रश्नों के आलोक में उनके दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। इस सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह का मत है – "संस्कृति की उनकी धारणा में मिश्रित सस्कृति की वास्तविकता उनकी समझ में नही आती, वे अक्सर शुद्ध संस्कृति के पोषक लगते हैं। उनकी समझ में शुद्ध आर्य संस्कृति नामक कोई वस्तु है, जिसे पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। उसी के अधः पतन के कारण भारतीयता का विनाश हुआ है। 'शिवाजी का पत्र' में बार – बार इस सनातन धर्म तथा शुद्ध भारतीयता की चर्चा करते है। उनकी नजर में इसको नापाक करने वाले मुसलमान, यवन एवं म्लेच्छ हैं। इसके अतिरिक्त निराला धर्म, सभ्यता और सस्कृति मे घालमेल करते हुये भी दिखायी देते है। उनकी रचनाओ में अक्सर इनका फर्क नही मिलेगा। इसी सन्दर्भ मे उन्होंने बार – बार जाति जीवन का भी सवाल उठाया है।[220]

जाति जीवन को निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।

दूधनाथ सिह इसको इस प्रकार विस्तार देते है – "मैंने बार – बार उनके इस जाति शब्द को समझने की कोशिश की है .... मुझे लगा वह भारतीय मात्र के लिये प्रयुक्त शब्द नहीं है। जाति का प्रथम अर्थ तो उन्होने हिन्दू से लिया है – हिन्दू जाति, फिर वे वर्ण व्यवस्था पर उतर आते है – ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियाँ .... जिस जाति जीवन के निरामय होने का वरदान निराला माँगते हैं वह कौन सी जाति है क्या वह सम्पूर्ण हिन्दू जाति या उसमे भी द्विजवर्ण है ?"[221] इन सन्दर्भो को समझने के लिये निराला की ऐसी कविताओ को परखना आवश्यक है। 'शिवाजी का पत्र' मे निराला प्रकारान्तर से हिन्दू भारत की कल्पना करते हैं – फैले समवेदना / एक ओर हिन्दू, एक ओर मुसलमान हो / व्यक्ति का खिचाव यदि जातिगत हो जाय / देखो परिणाम फिर / स्थिर रहेंगे न पैर फिर यवनों के / पस्त होगा हौसला / ध्वस्त होगा साम्राज्य।[202]

कवि हिन्दुओ की सभ्यता को विलीन होता देखता है तो प्राचीन बातो की याद दिलाकर उनमे सोये हुये व्यक्तित्व को जगाता है, जिस प्रकार महाराज शिवाजी महाराज जयसिह को उसके हिन्दू भाइयो के लिये जगाते

है– कितना आश्चर्य है, मुट्ठी भर मुसलमान/ पले आतक से है/ भारत के अंक पर,/ अपनी प्रभुता मे/ है मानते इस देश को...... ... जकड़ रहा वह जिनसे हिन्दुओं के पैर/ हिन्दुओ का काटता है सीस/ हिन्दुओ की तलवार ले,/ याद रहे/ बरबाद जाता है हिन्दू धर्म हिन्दुस्तान/ मरजाद चाहती है आत्म त्याग।[223]

इस सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह लिखते हैं – "इसे साम्राज्यवादियो के प्रतीकार्थ में प्रयुक्त मानकर टाला या सन्तोष नहीं किया जा सकता। इसके पक्ष में यह तर्क भी पूरा नहीं पड़ता कि शिवाजी के चरित्र और उस समय की ऐतिहासिक अनिवार्यताओं के अनुकूल यही विचारधारा उचित जान पड़ती है। यह तर्क इसलिये कम पड़ रहा है कि निराला उस हिन्दुस्तान मे रह रहे है, जहॉ मुसलमान विदेशी नहीं है, जहाँ शुद्ध संस्कृति की बात भी सोची नहीं जा सकती या ऐसा सोचना यथार्थ को झुठलाना है और यह भी कि मुसलमान एक ऐसा शब्द है, इतना सेन्सटिव शब्द कि उसे प्रतीकार्थ में चाहे जितना प्रयुक्त किया जाय वह रहेगा मुसलमान ही। यवन या म्लेच्छ शब्द अपनी अर्थवत्ता में मुलायम और अमूर्त हो चुके है। इसलिये उनमे तो यही प्रतीकात्मकता चल सकती है, लेकिन मुसलमान शब्द में नही चल सकती है। इसलिये मै कहता हूँ शिवाजी के प्रसग मे हिन्दू मुसलमान की यह जातिगत धारणा चाहे कितनी सच क्यो न हो, उसे इस रूप में कविता में लाना निहायत खतरनाक है। जिन्ना की तरह निराला भी गॉधीजी पर अपने इंटरव्यू में यह आरोप लगाते है कि 'मैं समझता हूँ नेता हिन्दुओ का नेता तो बन ही चुका था, मुसलमानों का भी बनना चाहता था।' यही आरोप निराला पर भी लगाया जा सकता है कि वह हिन्दुओं का कवि था।"[224]

यही नहीं इस तरह के प्रसग इस कविता में कई जगह आये है। पत्र लेखक शिवाजी भारतीय संस्कृति की सुरक्षा एव चिन्ता से ग्रस्त थे। उनके लिये भारतीय संस्कृति का अर्थ हिन्दू संस्कृति है, सनातन धर्म है, हिन्दुत्व है। उनके लिये इस सांस्कृतिक विनाश के लिये मुसलमान जिम्मेदार है और वे हिन्दुस्तान और संस्कृति की सुरक्षा के लिये कटिबद्ध है। इसीलिये निराला जयसिह के अतीत की, उनके क्षत्रियत्व की उनकी शूरवीरता की याद शिवाजी के माध्यम से करवाते है और सूक्ष्म व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते हैं – और विकर्षण मयसारा / ससार हिन्दुओं के लिये / धोखा है अपनी ही छाया से / ठगते वे अपने ही भाइयो को, / लूटकर उन्हे ही वे भरते है अपना घर।[225] इसीलिये वे सचेत करते है कि– चाहते हो क्या तुम/ सनातन धर्म धारा शुद्ध/भारत से बह जाय चिरकाल के लिये।[226]

इसीलिये वे शिवाजी के माध्यम से जयसिंह को संबोधित करते है कुछ लाछना एव प्रताडना के स्वर में – काफिर तो कहते न होगे तुम्हे वे/ विजित भी न होगे तुम औ गुलाम भी नही ?/ कैसा परिणाम यह सेवा का।/ लोभ भी न होगा तुम्हे मेवा का महाराज/ सीमा के राज राजेश्वर ! /भाइयो के शेर और क्रीत दास तुर्को के।[227]

जब मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार हो रहे थे, क्षत्रियों की शक्ति क्षीण होती जा रही थी उसी अतीत का स्मरण कवि कराता है और संगठित होने के लिए प्रेरित करता है – संगठित हो जाओ/आओ बाहुओं में भर/ भूले हुये भाइयों का/अपनाओ अपना आदर्श तुम.................. हिन्दुओ की लुप्त कीर्ति/फिर से जग जायेगी/ आयेगी महाराज/भारत की गयी ज्योति/ प्राची के भाल पर। स्वर्ग सूर्योदय होगा/ तिमिर आवरण/फट जायेगा मिहिर से/ टूट पड़ो – बह जाओ/दूर तक फैलाओ अपना श्री, अपना रंग / अपना रूप, अपना राग।[228]

जिस सास्कृतिक क्षय की चिन्ता निराला को शिवाजी के पत्र मे सालती है वही सास्कृतिक अधकार के रूप मे तुलसी दास में भी व्यक्त है। 'शिवाजी का पत्र' मे जिस घातक आक्रमण को निराला ने – 'मोगल – दल – विगलित – बल/हो रहे हैं राजपूत/बाबर के वश की/देखो राजलक्ष्मी/प्रखर से प्रखरतर दीखती'[229] कहकर व्यक्त करते हैं उसे ही वे तुलसीदास मे – मोगल–दल–बल के जलद–यान/ दर्पित–पद, उन्मद – नद पठान/ हैं बहा रहे दिग्देशज्ञान शर–खरतर/ छाया ऊपर घन–अन्धकार/टूटता वज्र यह दुर्निवार'[230] कहकर स्वर देते है।

इस प्रकार निराला के काव्य मे इस तरह के जो वर्णन आये हैं यद्यपि कि समकालीन सन्दर्भो मे साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध प्रतीकात्मक रूप मे ग्रहण किये गये हैं लेकिन कही न कहीं वे उससे पहले के शासन एवं सघर्ष की ओर भी सकेत करते है। इसे उनके काव्य मे प्रयुक्त पौराणिक, धार्मिक प्रतीको के स्वरूप द्वारा भी समझा जा सकता है। छत्रपति शिवाजी का पत्र मे निराला की ये पंक्तियॉ 'तुमने ही रेणु को सुमेरु बना रखा है'[231] द्वारा सुमेरु पर्वत की पौराणिकता के बहाने शिवाजी जयसिंह को समझाते है कि जो औरंगजेब धूल के कण के समान था उसे तुमने सुमेरु बना दिया है। यहॉ पर निराला ने औरगजेब को सुमेरु का प्रतीक माना है। दूसरे प्रतीकात्मक उदाहरणो के आधार पर इस सन्दर्भ में निराला की भावना को और स्पष्ट किया जा सकता

है – किन्तु क्या अन्ध तुम भी हो गये ? राक्षस वह रखते हो नीति का भरोसा तुम।[232] निराला ने इस पंक्ति मे औरगजेब को राक्षस का प्रतीक माना है। जिस प्रकार पौराणिक कथाओ में राक्षसो के अत्याचारो को दिखाया गया है उन्ही अत्याचारो को दर्शाते हुए निराला ने औरगजेब की आदतो से उसे राक्षस का प्रतीक माना है। पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से वे औरंगजेब के अत्याचार, अन्याय एव नृशंसता की पूरी – पूरी व्यंजना करते है।

'अस्तमित आज रे–तमस्तूर्य दिग्मंडल'[233] यहाँ तमस्तूर्य दिग्मंडल को निराला ने भारत की विघटित संस्कृति का प्रतीक माना है। हमारी संस्कृति का पतन तथा हमारी दिशायें अन्धकारमय हो गयी हैं और इसका कारण मानते हैं – उर के शासन पर शिरस्त्राण/शासन करते हैं मुसलमान'[234] यहॉ तत्कालीन विदेशी शासको का प्रतीक मध्यकालीन मुगल शासक है। शासक के वास्तविक धर्म से च्युत मुसलमान नरेश भारतीयो को प्रताडित करते हैं – 'मोगल दल बल के जलद यान/दर्पित – पद उन्मद – नद पठान[235] यहॉ निराला ने मुसलमानो की दुर्निवार शक्ति का 'मुगल' के बजाय 'मोगल' का प्रयोग करके किया है। इसमे निराला की प्रतीक योजना वैशिष्ट्य पूर्ण है। मुगलो की सेना बादल है तथा दर्प से भरे पठान जल से भरे नद है।

भारत मे मुगल सेना का विस्तार घने अन्धकार का प्रतीक है – "छाया ऊपर धन अन्धकार/ढूढता वज्र यह दुर्निवार/नीचे प्लावन की प्रलय धार, ध्वनि हर – हर"[236] ध्यातव्य है तुलसी दास मे निराला ने भारतीय जीवन की जडता का परिचय दिया तथा सास्कृतिक ह्रास के बारे मे जाग्रत किया है। इसके लिये प्रतीक उन्होने मध्यकाल से उठाये तथा प्रतीकात्मक शब्द व्यंजना के सहारे अपने व्यक्तित्व की जीवन्तता एव सारी सक्रियता का परिचय दिया है। इस बात का वे शिवाजी का पत्र' मे भी उठाते है – 'छोडो यह हीनता/सर्प आस्तीन का/फेंको दूर/मिलो भाइयो से/व्याधि भारत की छूट जाय'[237] यहॉ निराला ने सॉप को औरंगजेब को और व्याधि को गुलामी का प्रतीक कहा है। इसीलिए वे 'मिलो भाइयो से' कहकर सगठित होने का आह्वान करते है।

निराला की पहली प्रकाशित कविता 'मातृ भूमि' की आरम्भिक पक्तियॉ – बदूँ तव अमल – कमल/चिर–सेवित चरण – युगल' देवी रूप की स्थापना करती है, फिर चाहे मातृभूमि हो या उसके बहुत बाद की 'भारति वंदना' दोनो कविताओ में निराला प्रमुखतः भारत का एक भौगोलिक रेखांकन ही प्रस्तुत करते है। अगर "भारति वन्दना" मे यह भौगोलिक रेखाकन सांस्कृतिक रेखांकन के अभिप्राय ग्रहण करता जान भी पडता है तो भी वह उनकी हिन्दू सांस्कारिकता की सीमायें पार नही कर पाता।[238]

निराला की दो अन्य कविताओं ''राम की शक्ति पूजा'' और ''जागो फिर एक बार' मे 'पूजा' पौराणिक आख्यान पर आधारित है और 'जागो फिर एक बार' उद्‌बोधन प्रकृति की कविता है। इनकी विषय वस्तु एवं शैली से भी निराला के रूढमन का पता चलता है। 'राम की शक्ति पूजा' की समीक्षा मे चन्द्रकान्त वांदिवडेकर लिखते है — ''जहॉ तक भारत की धार्मिक संवेदना का प्रश्न है .... निराला के व्यक्तित्व में उनके प्रति टकराहट की .... **अनिवार्यता उत्पन्न हुई नही दीखती। सामाजिक रूढ़ियों का विरोध उन्होंने उसी सीमा तक किया है, जहॉ तक भारतीय संस्कृति के मूल विश्वासों को धक्का लगाये बिना निभ सकता था।''**[239] वे यह भी लिखते हैं कि **''आवश्यकता से अधिक स्थान ग्रहण करने वाली हनुमान जी की अन्तर्कथा को ग्राह्य कर पाना मुश्किल ही नही असम्भव है .... निराला ने इस पौराणिक कथा को ज्यो का** त्यों स्वीकार किया है, इससे उनके रूढि विश्वासी मन का ही प्रमाण मिलता है।''[240] इसी प्रकार दूधनाथ सिह को 'जागो फिर एक बार' कविता 'शिवाजी का पत्र' का एक अश लगती है।[241] क्योकि उनकी दृष्टि में यह उद्‌बोधन साधारण भारतीय को कोलाहलपूर्ण उत्तेजना की ओर ले जाता है।

इस परिप्रेक्ष्य मे यहॉ निराला की इतिहास दृष्टि की चर्चा भी अपेक्षित है। इस सन्दर्भ मे नीलाभ कहते है — 'शिवाजी हो या गुरू गोविन्द सिंह दिल्ली बादशाहत से उनका सघर्ष, हिन्दू — मुस्लिम विग्रह से कहीं ज्यादा एक केन्द्रीय सत्ता और राज्यो की आपसी कशमकश थी। अगर ऐसा न होता तो शिवाजी ने औरगजेब के विरुद्ध गोलकुण्डा के मुस्लिम शासकों के साथ सन्धि न की होती तथा सूरत और पूना को लूटने के दौरान लूट पाट मे भी हिन्दू — मुसलमान का भेद किया होता। लेकिन निराला ने शिवाजी और औरगजेब के सघर्ष को केवल हिन्दू—मुस्लिम संघर्ष के रूप में देखा। दरअसल निराला की यह भावभूमि उनके हिन्दू सस्कारी स्वभाव का ही अग थी। शुद्ध सनातन धर्मधारा की यह परिकल्पना बार — बार निराला की कविताओं मे उभरती है। 'खण्डहर से' 'दिल्ली', 'भगवान बुद्ध के प्रति' या 'सहस्राब्दी' जैसी कविताओ मे वे अतीत से मोहग्रस्त कवि के रूप मे आते है।[242]

निराला काव्य मे आये हिन्दू प्रतीकों, मिथकों आख्यानों एव मध्यकालीन इतिहास के कतिपय मुस्लिम पात्रो के प्रति दृष्टिकोण के विवेचन से उनकी छवि एक पुनरुत्थानवादी कवि के रूप में उभरती है किन्तु इसके बावजूद उन्हे साम्प्रदायिक अर्थो मे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता और न ही किसी हिन्दूवादी खेमे के प्रवक्ता के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि

इसके इतर परिमाण में अधिक निराला का रचना ससार उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रमाणित करता है। अत आवश्यक है उनके इस पक्ष का विवेचन किया जाय अन्यथा निराला एक साम्प्रदायिक कवि के रूप मे ही दिखेगे।

निराला के अपने निजी सस्कारों एव परिवेश से सवलित उनकी रचनाओं के आधार पर उन्हें साम्प्रदायिक रचनाकार की श्रेणी में रख दिया जाता है। ऐसा आक्षेप प्रथमतः हिन्दी के चर्चित कवि विष्णु खरे द्वारा लगाया गया है।[243] लेकिन व्यवहारिक जीवन में मुसलमानों के प्रति उनका दृष्टिकोण सदैव उदार रहा है। निराला लिखते हैं – "हिन्दू और मसलमान अब दगाबाजों को खूब समझ गये हैं। अब वे दिन लद गये जब आप लोग फ़ाख्ता उड़ाते थे, अब वे दिन आ रहे है जब आप लोगों को भी बोरिया बिस्तर बॉधना समेटना होगा।"[244]

अपने उपन्यास 'कुल्ली भाट' में निराला नायक (कुल्ली भाट) का विवाह एक मुस्लिम महिला से करने का उल्लेख करते है और उसकी प्रशसा करते है – "ये जितने काग्रेस वाले है, अधिकांश ये मूर्ख एव गवॉर हैं, फिर कुल्ली सबसे आगे है, खुल्लमखुल्ला मुसलमानिन बैठाये है।"[245] यही नहीं कुल्ली के मुस्लिम महिला से विवाह करने पर जब लोग उसका सामाजिक बहिष्कार करते हैं, तो निराला अपने नायक से कहलवाते है – "हिन्दू बड़े नालायक है।"[246] कुल्ली की मृत्यु पर अन्तिम सस्कार के लिये कोई पुरोहित न मिलने पर निराला जो इस कथा के एक पात्र स्वय लगते हैं, कहते हैं – "वह न आयेगे तो मैं हवन करा दूँगा।"[247] इसी प्रकार 'कमला' कहानी में हिन्दू–मुस्लिम दगो के चित्रण में निराला की तटस्थता देखी जा सकती है – "दोनो तरफ के अनेक घर लुटे – फुंके और ढहा दिये गये। हजारो आदमी काम आये, जो हिन्दू मुसलमानों की बस्ती मे थे उनके घर फूँककर माल लूटकर, आदमियो को मारकर या जख्मी कर अपने घरों मे डाल दिया। ऐसा ही हिन्दुओ ने भी किया।"[248]

निराला के दृष्टिकोण का जो प्रतिबिम्बन 'महाराज शिवाजी का पत्र' में हुआ है, उस आधार पर नीलाभ ने एक लेख मे उनकी इतिहास दृष्टि पर प्रश्न उठाया है।[249] ध्यातव्य यह है कि पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन का अवलोकन करे तो स्पष्ट होता है कि ऐसे प्रतीकों का प्रयोग राष्ट्रीय आन्दोलन में राजनीतिक लामबन्दी के लिये किया गया था। प्रायः रचनाकार ही नही, राजनीतिज्ञ भी इस प्रक्रिया में उत्साह से सम्मिलित होते थे। तिलक का शिवाजी एव गणपित

उत्सव, स्वदेशी आन्दोलन मे राखी बॉधना एवं गंगा मे डुबकी लगाना, गॉधी जी की रामराज्य की कल्पना, क्रान्तिकारी आन्दोलनों मे देवी एवं शक्ति प्रतीको का वैचारिक उपयोग आदि ऐसे माध्यम थे, जो धार्मिक दृष्टिकोण से युक्त थे। अतः निराला के मुगल साम्राज्य के अतिप्रसार को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के रूप में देखना चाहिए। जब वे कहते हैं – 'ध्वस्त होगा साम्राज्य/हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से/दासता के पाश कट जायेगे/शत्रु को मौका न दो/अरे कितना समझाऊँ मै,[250] तो उनका उद्देश्य समकालीन ब्रिटिश साम्राज्य को ध्वस्त करना था, जो भारत का विभिन्न उपक्रमों से शोषण कर रहा था। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि शिवाजी के चरित्र में जिन मिथकों का प्रयोग किया गया था, वे सामान्य जन में लोकप्रिय थे जिसे निराला ने ऐतिहासिक तथ्य से अलग किये बिना प्रस्तुत किया।

निराला पर अन्य समीक्षको के आरोप भी इस विश्लेषण के दायरे में है। दूधनाथ सिंह उन्हें अतीतजीवी सिद्ध करते हुये, इसके लिये 'विकल्प हीनता'[251] की बात करते हैं। नीलाभ उन्हे परम्परा प्रिय कवि के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुये इस बात पर बल देते हैं कि 'प्रयास करने के बाद भी वे अपने को इससे मुक्त नही कर पाये।'[252] कॅवल भारती के अनुसार निराला अपने चिन्तन मे प्रगतिवाद के मूल चिन्तन के विरुद्ध है। वेदान्ती होने के नाते वर्ण व्यवस्था के समर्थक है तथा दलित विरोधी, हिन्दुत्ववादी और पुनरुत्थानवादी है।''[253]

निराला के ऊपर इन आरोपो के आलोक मे तत्कालीन युगीन परिस्थितियों एव उनके परिवेशगत संस्कारों को समझना होगा। कात्यायनी के अनुसार – ''भारत में राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक दौर मे अतीत से प्रेरणा लेते हुये अतीतोन्मुख हो जाने, हिन्दुत्व के गौरव की पुनर्स्थापना की बात करने, पौराणिक गाथाओ एवं धार्मिक उत्सवो के माध्यम से अपनी स्वतन्त्र राष्ट्रीय पहचान की तलाश करने तथा मध्यकाल के मुस्लिम हमलावरो या दिल्ली मे स्थापित सल्तनत से मोर्चा लेने वाले महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल या गुरू गोविन्द सिह को राष्ट्रीय नायको के रूप मे प्रस्तुत करने की आम प्रवृत्ति राजनीतिक क्षेत्र मे भी मौजूद थी और सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र मे भी, पर इस वैचारिक विचलन के वस्तुगत आधार थे।''[254] यदि निराला को साम्प्रदायिक हिन्दूवादी एव परम्परामोही मान लिया जाय तो इस दृष्टि से दयानन्द की वेद प्रियता, विवेकानन्द की वेदान्तिकता, तिलक के शिवाजी एवं गणपति उत्सव तथा गॉधी की रामराज्य की परिकल्पना को इसी खेमे मे रखना होगा। कात्यायनी के अनुसार – ''अपने रचना काल के दौरान तीस के दशक के

पूर्वार्द्ध तक निराला जहाँ कही राष्ट्रीय जीवन की दुरावस्था की पीडा, राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान की तडप या भारत के सांस्कृतिक अधः पतन के विकल्प की खोज से जूझते है, वही अतीत की ओर देखते नजर आते हैं। पुनर्जागरण एव प्रबोधन के दर्शन के अभाव में औपनिवेशिक समाज की दुरावस्था का विकल्प वे गौरवमयी अतीत में खोजने की कोशिश करते है।''[255]

इस सन्दर्भ में हम राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि वहाँ अतीतोन्मुखता कितनी लोकप्रिय एवं गतिशील थी। दादाभाई नौरोजी, आर.सी. दत्त, गोपाल कृष्ण गोखले एवं एम. जी. रानाडे ने जिस उदारवादी विचारधारा का प्रवर्तन कर ब्रिटिश आर्थिक शोषण को उद्घाटित करते हुये भी उसके संरक्षण में स्वायत्तता की माँग की वह अपने समय मे लोकप्रिय नहीं हो सकी। जबकि बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, बिपिन चन्द्र पाल एव अरविन्द घोष उग्रपथी विचारधारा के समर्थक थे तथा होमरूल एवं स्वराज की बात करते हुये क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं विचारों को सरक्षण प्रदान किया। जाति एव धर्म के बारे में यह समूह अतीतोन्मुख ही था, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन मे यही वर्ग लोकप्रिय हुआ। इस प्रकार निराला की रचनाओ मे प्रतिक्रियावादी विचारो की उपस्थिति तथा उसका गौरव गान उन्हे अप्रासगिक सिद्ध नही करता। अतीत का महिमामंडन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की विशेषता थी। इसी आलोक मे रचनाकारो द्वारा इसे साहित्यिक रणनीति के रूप में अगीकार किया गया था। महादेवी वर्मा के शब्दो में — ''निराला की यह मौलिक स्फूर्तता उन्हें क्रान्तिकारी रूप देती है। निराला जी विचार से क्रान्तिदर्शी और आचरण से क्रान्तिकारी है। जिसे वे उपयोगी नही मानते उसके प्रति उनका किचित मात्र भी मोह नही है, चाहे तोडने योग्य वस्तुओ के साथ रक्षा योग्य वस्तुये भी नष्ट हो जावे।''[256]

वर्तमान के लिये अतीत का उपयोग निराला वही तक करते है, जहाँ तक उसकी प्रासगिकता है। वे अतीत के सम्पूर्ण प्रतिमानो के अन्धभक्त नही हैं। अत· निराला की अतीतोन्मुखता रूढिवादिता का प्रतीक नहीं है। निराला 'गीतिका' शीर्षक कविता मे कहते है — 'जला दे जीर्ण — शीर्ण — प्राचीन / क्या करूँगा तन जीवन हीन।'[257] इसी प्रकार उन्होंने लिखा है — ''इस समय सबसे बडा सुधार जो समाज को चाहिये वह है मस्तिष्क को हर तरह की रूढियो से मुक्त कर देना।''[258] हम बहुत पहले से कह रहे हैं कि 'समाज का आमूल परिवर्तन बहुत जरूरी है।''[259]

जहाँ तक निराला को पुनरुत्थानवादी एवं हिन्दुत्व समर्थक सिद्ध करने के लिये वेदान्ती होने का आरोप लगाया जाता है, तो स्पष्ट है कि उनके ऊपर विवेकानन्द एव वेदान्त का प्रभाव था, किन्तु यह नितान्त परिवर्तित एव प्रगतिशील सन्दर्भो मे। इस सन्दर्भ में कात्यायनी अपने लेख में वेदान्त को अपरिवर्तनशील शरणि नहीं स्वीकारतीं, बल्कि उनके अनुसार वेदान्त अपने युग के अनुरूप हमेशा परिवर्तित होता रहा है। बादरायण से लेकर शंकराचार्य होते हुये विवेकानन्द तक पहुँचते – पहुँचते वेदान्त अपने सामयिक युग के अनुरूप था। विवेकानन्द ने जब उन्नीसवी शताब्दी में वेदान्त की व्याख्या की तो विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी के विकास के रूप में आधुनिक पूँजीवाद की उपलब्धियाँ उनके सामने थी .... विवेकानन्द उपनिवेशवाद और उसके द्वारा पोषित सामन्तवाद उसके रूढ धार्मिक, सास्कृतिक मूल्यों का विरोध करते हुये नये राष्ट्रवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार करने मे अहम भूमिका निभाते हैं। .... इसी रूपान्तरित वेदान्त को निराला अपने साहित्य जीवन में अपनाते है।[260] निराला विवेकानन्द के बारे में टिप्पडी भी करते है – 'प्राचीन संस्कारो के बडे खिलाफ थे, यदि उनके पीछे ज्ञान न रहा .. . नवीन भारत का क्या रूप होना चाहिये, इसके वे सच्चे मित्र है।''[261] स्पष्ट है कि निराला ने प्राचीन मूल्यों एवं प्रतीको को नये सन्दर्भो एव उपयोगी दृष्टि से ग्रहण किया था और इनके प्रयोग मे उनके प्रति पूर्वाग्रह नही था।

निराला अपने साहित्य कर्म में हिन्दुत्व एवं अतीत के प्रतीकों को ग्रहण कर रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि मे साम्प्रदायिकता जैसी कोई वस्तु थी, ऐसा नही लगता है। ध्यातव्य है कि निराला साहित्य सृजन कर रहे थे, न कि इतिहास लेखन और यह भी कि उन्होने अपने साहित्य मे हिन्दू – मुस्लिम सौहार्द की वकालत भी की है। इसके लिये वे बहुसंख्यक हिन्दुओ से प्रश्न भी करते है कि– ''मुसलमानो को उपदेश देने से पहले हमें अपने ही यहॉ तलाश करके देखना चाहिये कि हमने मुसलमानों के साथ सहयोग करने की कितनी तैयारी की है, अवश्य ही इस प्रश्न के उत्तर में हमे बड़ी निराशा होगी।''[262] इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा स्वीकार करते है – ''समाज में ऊँच – नीच का भेद मिटाकर अन्धविश्वास और रूढियों से मुक्त होकर, व्यापक मानवतावाद की भूमि पर हिन्दू और मुसलमान अपनी राष्ट्रीय एकता दृढ कर सकते है, निराला की शिक्षा का यही सार तत्व था।''[263]

नीलाभ, जिन्होंने निराला की कुछ कविताओ मे हिन्दुत्व एव पुनरुत्थान वाद का स्वर पाया है कहते है – ''निराला की सारी हिन्दू सांस्कारिकता और

आध्यात्मिकता के बावजूद उन्हे न तो हम किसी हिन्दूवादी दल के खेमे मे डाल सकते है, न कोई साम्प्रदायिक सस्था ही उन्हें अपने पक्ष मे इस्तेमाल कर सकती है .... निराला मे परिवर्तन के प्रति जो अडिग निष्ठा है ...... भलेही वह समय – समय पर नैराश्य और हताशा की स्थितियों में क्षरित होती है, वह भी किसी ऐसी साम्प्रदायिक पार्टी को स्वीकार नहीं होगी, जो सामाजिक सरचना को यथावत बनाये रखने की हामी हो। निराला में दबे – कुचलों के प्रति जो हमदर्दी है और उनकी प्रतिष्ठा और उन्नयन के प्रति जो चिन्ता है वह भी किसी हिन्दू साम्प्रदायिक दल को मंजूर नहीं होगी।''[264]

स्पष्टतः निराला एक महान रचनाकार थे, यद्यपि कि उनकी कविताओं मे हिन्दू आख्यान, मिथक एवं मान्यताओं का प्रयोग हुआ किन्तु वे हिन्दू – मुस्लिम सौहार्द के भी उतने ही बडे पक्षधर थे। जिसका चित्रण उनके साहित्य मे मिलता है। अतः उनका मूल्यांकन युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य मे ही किया जा सकता है और तब वे एक ऐसे सर्जक व्यक्तित्व के रुप में सामने आते है, जिसकी चिन्ता समन्वय के प्रति है।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

श्याम नारायण पाण्डेय (1907 – 1989 ई0) एक ऐसे कवि थे, जिन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान अपनी कविताओ से देशभक्ति की भावना प्रसारित करने का कार्य किया। इस सन्दर्भ मे उनकी दो रचनाये हल्दी घाटी (1941) तथा जौहर (1944) काफी महत्वपूर्ण हैं। ये रचनायें उस समय प्रकाशित हुई जब राष्ट्रीय आन्दोलन अपने चरम पर था और जिसकी जडें सामान्य जनमानस में काफी गहराई तक पैठ चुकी थीं। पाण्डेय की रचनाओ का कथानक मध्यकालीन इतिहास के राजपूत नायको के कृतित्व पर आधारित है। जिसमे उस दौर के मुस्लिम शासन के विरुद्ध उनके संघर्ष को रूपायित किया गया है। स्वाभाविक है कि उनका झुकाव हिन्दूवादी है, यद्यपि कि इसके पीछे कोई पूर्वाग्रह नहीं बल्कि स्थितियो की सहज अभिव्यक्ति है। यहॉ पर प्रसिद्ध हिन्दी समीक्षक शिवप्रसाद सिह के विचारो को उद्धृत करना समीचीन है – ''मै अगर शेक्सपीयर की निन्दा ऍग्लो सेक्शन की उच्चता पर अपेक्षाकृत अधिक बल देने के लिये नही कर सकता तो श्याम नारायण पाण्डेय की हल्दी घाटी और जौहर को मै अराष्ट्रीय कहने का झूठ कैसे बोलूँ ?''[265]

इसी पृष्ठभूमि मे पाण्डेय जी के वैचारिक पहलू को समझा जा सकता है। जौहर की भूमिका मे वे लिखते है – "जौहर अपनी आर्य सस्कृति के सरक्षण मे सहायक होगा और सस्कृति के पुजारियो की कमी नही। इसलिये इसका प्रचार स्वयसिद्ध है।"[266] अपने इस लेखन कर्म से वे खुद को गौरवान्वित महसूस करते है – "मुझे इस बात का अभिमान है कि जौहर लिखकर मैंने अपनी संस्कृति की पूजा की है।"[267] ऐसा इसलिये कि वे भारतीय संस्कृति के अनुरूप प्रताप एवं पद्मिनी को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते है – "हल्दी घाटी लिखकर मैने जनता के सामने एक भारतीय वीर पुरुष का आदर्श रखा और 'जौहर' लिखकर एक भारतीय सती नारी का, इसलिये नहीं कि कोई छन्दों के प्रवाह में झूम उठे बल्कि इसलिये कि भारतीय पुरुष प्रताप को समझें और भारतीय नारियॉ पद्मिनी को पहचाने।"[268]

मध्यकालीन इतिहास के एक प्रमुख चरित्र मेवाड के महाराणा प्रताप के माध्यम से उस समय की राजनीतिक स्थिति एवं संघर्ष को उन्होने बडे प्रभावी ढंग से अभिव्यक्ति दी है। यद्यपि कि हिन्दू मुस्लिम संघर्ष को सीधे–सीधे साम्प्रदायिक रूप मे उन्होने वर्णित नही किया है, किन्तु वर्तमान समय मे उनकी भाषा, शैली एव प्रतीकों का प्रयोग इस सामाजिक सच की ओर न केवल इशारा करता है बल्कि बढाने में भी सहायक था। पाण्डेय जी ने इतिहास की जिन घटनाओ को विषय बनाया है उन्हें पढकर किसी भी पाठक के अन्दर स्वाभाविक उत्तेजना फैल सकती है। महाराणा प्रताप को उन्होने एक ऐसे राष्ट्रीय नायक के रूप मे प्रस्तुत किया है जो विदेशी शासन (मुगल शासन) के विरुद्ध सघर्षरत है। वह भी ऐसी स्थिति मे जबकि तमाम राजाओ ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है – "मेरे सेनापति ! क्या तू नही जानता था कि मुगल सम्राट अकबर तुझको निगल जाना चाहता है ? क्या तुझको नही मालूम था कि अपने गौरव और अभिमान को लात मारकर कितने राजपूत महीप मुगलो की चरण सेवा कर रहे है।"[269]

पाण्डेय जी मध्यकालीन इतिहास की स्थिति से व्यथित थे, इसलिये उन्होने अपने नायक (राणा प्रताप) को उस स्थिति से देश को उबारने के लिये सघर्ष करते हुये दिखाया है – "तूने उसी दिन राजपूत सरदारो के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरी रगों मे रक्त प्रवाहित होता रहेगा, धर्म को तिलाञ्जलि नही दे सकता वैभव के लोभ से शिशोदिया कुल को कलकित नही कर सकता, क्षणिक सुख की लालसा से मॉ के पवित्र दूध का तिरस्कार मुझसे नही होगा, भगवान एकलिग को छोडकर ससार के किसी भी सम्राट के सामने

मेवाड अपना मस्तक नही झुका सकता।"[270] पराजित होने के बाद भी उनके मन मे पराधीनता की पीडा बसी है — "या बॅधी हुई है अरि की/जिसके कर मे हथकड़ियॉ/उस पराधीन जननी की/बिखरी ऑसू की लडियॉ"[271] फिर भी मन मे लड़ने का सकल्प है — "पर हॉ जब तक हाथो में/मेरी तलवार बनी है ..... तब तक अरि दीप बुझाना/है बन—बन कर परवाना" ।[272] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी ने इस संघर्ष को केवल मध्यकाल में नहीं देखा है बल्कि सतत संघर्ष के रूप में देखा है क्योकि जौहर में भी इसी तरह का भाव व्यक्त किया है। जहॉ अलाउद्दीन को रावण एवं उसकी सेना को डाकू दल के रूप में चित्रित किया है — "जागो सदल बल रावण आया"[273] और "उठो डाकुओं ने जननी की/निधियों पर डाका डाला।"[274] इस प्रकार एक धर्म विशेष के लोगो को वर्तमान काल में ऐसा सम्बोधन खटकने वाली बात है।

श्याम नारायण पाण्डेय ने उन स्थितियों की भी चर्चा की है, जिसमे मुस्लिम शासन को स्थापित होने का अवसर मिला, इसके लिये वे आन्तरिक फूट को जिम्मेदार मानते है। हल्दी घाटी मे वे ऐसे शासको को धर्मपतित मानते है, जिन्होने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है और संघर्ष करने वाले राणा प्रताप उनके लिये जाति, धर्म एव स्वतत्रता के रक्षक है — "धर्मवीर ! उदय सागर के तट पर धर्मपतित मानसिह का तूने इसलिये तिरस्कार किया था कि वह अपने साथ तुझको भी भोजन कराकर धर्मच्युत बनाना चाहता था ..... क्योकि वह अपने ही भाइयो के रक्त से सीचकर मुगल साम्राज्य को पुष्ट कर रहा था।"[275] वह स्वय महाराणा प्रताप से कहलाते हैं — "कहॉ रहे जब स्वतन्त्रता का/मेरा बिगुल बजा था/जाति धर्म के मुझ रक्षक को/तुमने क्या समझा था।"[276] इतना ही नही धार्मिक विद्वेष की स्थिति की चर्चा भी इस रूप मे करते है कि केवल मुगलों की अधीनता स्वीकार कर लेने मात्र से ही राणा उसे धर्मभ्रष्ट भी मान लेते हैं — "इधर महाराणा प्रताप ने/सारा घर खुदवाया/धर्मभीरु ने बार—बार/गगा जल से धुलवाया।"[277] इस तरह के वर्णन वर्तमान परिवेश में सकारात्मक नही कहे जा सकते। यहॉ ध्यातव्य है कि राणा का भाई शक्ति सिंह उनसे रुष्ट होकर अकबर के खेमे मे चला गया है, यद्यपि कि उसे अपने इस कृत्य पर अफसोस है — शिशोदिया मे जन्म लिया/यद्यपि यह है कर्तव्य नही,[278] किन्तु आपसी घृणा का हाल यह है कि — "क्राध हुताशन मे आहुति/मेवाड देश की दूॅगा मै।"[279] बावजूद इसके पाण्डेय जी राणा की प्रशसा करते है — "गया बन्धु ! पर गया न गौरव/अपनी कुल परिपाटी का।"[280] स्पप्ट है कि पाण्डेय जी का रुख हिन्दुत्व एव उसके उद्धारकों के समर्थन का था।

हल्दी घाटी के युद्ध प्रसंग मे पाण्डेय जी ने उन तमाम स्थितियो का वर्णन ऐसे शब्दो एवं प्रतीको के माध्यम से किया है जिन्हे पढकर साम्प्रदायिक विक्षोभ फैल सकता है। इस युद्ध के भय से उत्पन्न धर्मान्तरण की चर्चा भी उन्होंने की है – "इसी समर के भय से/कितने देवालय मसजीद हुये।"[281] इसके साथ ही राणा द्वारा मानसिंह का अपमान मात्र इसलिये नहीं होता कि उसने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली है बल्कि इसमें धार्मिक दृष्टिकोण भी निहित था क्योंकि राणा द्वारा उसका सम्बोधन इस प्रकार किया जाता है – 'अरे तुर्क ! बकवाद करो मत/खाना हो तो खाओ/या बधना का ही शीतल/जल पीना हो तो जाओ।"[282] स्वयं मानसिंह जिन शब्दों में अपने अपमान की सूचना अकबर को देता है, उससे उसके प्रति राणा की घृणा की सूचना मिलती है – "तेरे दर्शन से संताप/तुझको छूने से है पाप/हिन्दू जनता का परिताप/तू है अम्बर कुल पर शाप।"[283] ऐसा इसलिये है कि उसने अकबर का दासत्व स्वीकार किया है – "स्वामी है अकबर सुल्तान/तेरे साथी मुगल पठान/.... म्लेच्छ वंश का तू सरदार/तू अपने कुल का अंगार।"[284] इस प्रकार का वर्णन साम्प्रदायिकता से मुक्त नही कहा जा सकता है।

इस बात की पुष्टि पाण्डेय जी के विचारो से भी होती है। उनकी दृष्टि मे यह सघर्ष धर्म की रक्षा के लिये हो रहा था – "इसलिये कि कही अधर्म की वेदी पर धर्म का बलिदान न हो जाय।"[285] इसलिये वे राणा को 'हिन्दू सूर्य'[286] का सम्बोधन करते है तथा इस बात पर बल देते हैं – "तेरे जीवन की एक–एक घटना संसार के लिये एक आदर्श है और हिन्दुत्व के लिये गर्व की वस्तु है।"[287] इसीलिये वे हल्दीघाटी युद्ध में राणा द्वारा विशेष शत्रु मानसिंह की खोज का वर्णन करते है, जिसने, धर्म, जाति एवं देश के साथ अपघात किया है – "महाकाल ! .... यह था देश द्रोही मानसिह, जिसकी तलवार अपनी ही जाति के रक्त की प्यास से व्याकुल हो रही थी, जिसको मेवाड की स्वतन्त्रता खटक रही थी, जिसको अपनी जाति का गौरव अखर रहा था और जिसका हृदय हिन्दुत्व को मिटाकर ही सतुष्ट होना चाहता था।"[288] जब मानसिह ने भागती मुगल सेना को रोककर राणा के पराजय की पृष्ठभूमि बना दी तो पाण्डेय जी उसकी भर्त्सना करते है – "भगती सेना को रोक तुरत/ लगवा दी भैरव काय तोप/ उस राजपूत कुल घातक ने/ हा महाप्रलय सा दिया रोप।"[289] स्पष्ट है कि पाण्डेय जी को न केवल विदेशी शासन के प्रति क्षोभ है बल्कि उसका साथ देने वाले स्वधर्मी लोगो के प्रति रोष भी है।

इसी तरह जौहर का कथानक तेरहवी शताब्दी के इतिहास से लिया गया है। इसमे खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन की रूप लिप्सा के बहाने तत्कालीन सघर्ष को स्वर दिया गया है। मेवाड़ नरेश रावल रतन सिंह की रूपसी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करने के लिये अलाउद्दीन द्वारा मेवाड पर आक्रमण किया जाता है। यद्यपि यह महाकाव्य वीर एवं करुण रस का अद्भुत समन्वय है, किन्तु जिस प्रकार का वर्णन किया गया है उससे सहज धार्मिक एवं साम्प्रदायिक उद्वेलन से इन्कार नहीं किया जा सकता। जब रावल रतन सिंह को छल द्वारा बन्दी बना लिया जाता है, तो पद्मिनी राजपूतों को ललकारती है – "आखेट खेलते हुये रावल का शत्रु की हथकडियों में बँधकर कारागृह में बन्द रहना आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य है उनकी मुक्ति जो तुम्हारी तलवारों के साथ म्यानों मे सो रही है।"[290] इतना ही नहीं वह इस स्थिति को कलक मानती है – "क्षत्राणियों के सीने का दूध कलंकित करके राजपूतो का जीना मृत्यु से भी भयंकर एवं घृणित है।"[291] इस पर उसके सैनिकों का प्रत्युत्तर भी कम उत्तेजक नहीं है – "देवि ! तू इशारा कर हम दुश्मनों के ऊपर मौत की तरह दौडे .... हम विद्युत गति से निकलें और खिलजी के पड़ावों में आग लगा दे।"[292]

दूसरी ओर अलाउद्दीन की निर्दयता एव नृशंसता का वर्णन किसी भी सामान्य पाठक को साम्प्रदायिक मनः स्थिति में ला सकता है। अलाउद्दीन की यह घोषणा भी इसी कोटि की है – "चितौड को ध्वंस किये बिना जीते जी मै दिल्ली मे पैर नही रखूँगा और राजपूतों के खून से नहाये बिना जो कोई लौटेगा उसकी बोटी–बोटी काटकर कुत्तो के सामने डाल दूँगा।"[293] इसके पहले भी वह राजपूतो को धमकी देता है – 'राजपूतो तो समझ लो जान लो/ धूल में मिल जायेगी राजधानी।"[294] लेकिन इस धमकी से राजपूत विचलित नही होते और युद्ध करते है तो पाण्डेय जी उनकी प्रशसा करते है – "दावा सी अरि की सेना थी/तरु के समान थे राजपूत/जल गये खडे पर कभी एक/ डग भी न हटे पीछे सपूत।"[295] इतना ही नहीं अलाउद्दीन की निर्दयता के कारण ही चित्तौड की नारियॉ अपनी रानी के साथ जौहर व्रत करने के लिये विवश हुई – "जौहर व्रत के लिये विकल/इस ओर सरोरुह मुखी हुई।"[296] मध्यकालीन यह नृशंसता इतनी त्रासद थी कि इस कथा को सुनने वाला पथिक उत्तेजित हो जाता है – "अभी–अभी उसकी पशुता का/मानव तो बदला लूँगा/निष्ठुर के पाषाण हृदय मे/भाला नोक हला दूँगा।"[297] इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इस रचना को पढने के बाद कैसा भाव उत्पन्न हो सकता है।

इतना ही नही पाण्डेय जी अपनी इन सर्जनाओ पर गौरव की अनुभूति करते है, लेकिन वर्तमान स्थिति पर उन्हें क्षोम था क्योकि उनका उद्देश्य हिन्दुओ मे जागृत उत्पन्न करना था, किन्तु उनकी दृष्टि मे ऐसा नही हो सका – "लेकिन खेद डरपोक हिन्दुओ में न वैसी जागृति ही देखने को मिली, न वैसा जोश ही। राजपूतों की वीरता अब कहानी सी रह गयी है, कहने सुनने के लिये।"[298] इतना ही नहीं उनकी नायिका (जौहर की पद्मिनी) अपनी कापुरुष सन्तानों से घृणा भी करती है – "प्रथम घृणा करती, पर फिर/चिन्ता से व्याकुल होती/अपनी हिजडी सन्तानों पर/फूट–फूटकर रोती है।"[299] क्योंकि तमाम प्रोत्साहनों के बाद भी – "तुडवा सकी न कापुरुषों से/जननी की जंजीरो को/समाधियो से जगा रही है/जौहर के रणधीरों को।"[300] यहॉ स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में लिखी गयी इस रचना से केवल वर्तमान की पराधीनता से ही सरोकार नही है, बल्कि पूर्व की गलती को सुधारने का भी आह्वान है क्योकि हल्दीघाटी में उन्होने लिखा है – "मानसिंह की फूफी से/अकबर ने कर ली थी शादी/अहो तभी से भाग रही है/हमसे कोसो आजादी।"[301]

यद्यपि पाण्डेय जी की रचनाओं मे उनका झुकाव हिन्दू नायको की तरफ है किन्तु उन्होने दूसरे पक्ष के उत्तम गुणो को भी श्लाघ्य माना है। अकबर की प्रशंसा मे वे कहते हैं – "अखिल हिन्द का था सुल्तान/मुगल राजकुल का अभिमान/बढा चढा था गौरवमान/उसका कहीं न था उपमान।"[302] उसकी धार्मिक नीति की भी प्रशंसा करते है – "इससे बढा सुयश विस्तार/दीन इलाही का सत्कार/बुध–जन को तज–राज विचार/सबने किया सभय स्वीकार।"[303] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतिपक्ष का जो वर्णन किया है वह साक्ष्यो के आलोक मे न की किसी पूर्वाग्रह के कारण।

यहॉ शिवप्रसाद सिंह को उद्धृत करना प्रासंगिक है – "कोई किसी को पूजे, उसके वर्चस्व का गान करे वह उसका व्यक्तिगत अधिकार है। चर्चा एकागी तब होती है जब हम भूल जाते हैं कि राष्ट्रनायकों को भुलाना समीक्षको के लिये वरेण्य भले ही हो जनता उस वरेण्यता पर निरर्थकता का ठप्पा लगाकर एक तरफ फेक देती है। इसी जनमानस को हिलोरकर उसमे ज्वार–भाटा उठाने की क्षमता कविवर श्याम नारायण पाण्डेय मे थी और इसी कारण उनके दो महाकाव्य हल्दीघाटी और जौहर अधिविस्मरणीय बने रहेगे।"[304]

निश्चित रूप से राष्ट्रीय सघर्ष के दौर मे इन महाकाव्यों से लोगों को प्रेरणा मिली, किन्तु इसके साथ ही यह ध्यान देना भी, आवश्यक है कि जिस समय इन रचनाओ का प्रकाशन हुआ "दो राष्ट्र सिद्धान्त" अस्तित्व में आ चुका था और साम्प्रदायिक दृष्टि से देश की स्थिति काफी सवेदनशील थी, ऐसे में इन **रचनाओं में जिन प्रतीकों एवं शैली का प्रयोग किया गया है, वह खटकने वाली बात है।**

सन्दर्भ

1. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, 1966, पृ. 462
2. सरस्वती, इलाहाबाद, अप्रैल 1910, पृ. 169.
3. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1989, पृ. 13.
4. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 462.
5. वही.
6. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 15.
7. अग्रवाल मीना, बग्ला नवजागरण और भारतेन्दु, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण संपा. शभूनाथ, अशोक जोशी मे, आनेवाला कल प्रकाशन, कलकत्ता, 1986, पृ. 51.
8. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, पृ. 28.
9. व्यास रामशंकर, भारतेन्दु की जीवनी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1112.
10. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ? भारतेन्दु समग्र, पृ. 1011.
11. शर्मा रामविलास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1956, पृ. 113.
12. वही, पृ. 21–22.

13 शभू नाथ, 1857 का राष्ट्रीय जागरण और भारतेन्दु, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ. 27.

14 वही, पृ 36.

15 वही पृ 28.

16 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारत दुर्दशा, भारतेन्दु समग्र, पृ. 461

17 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, अधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 531.

18 उद्धृत, रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र.

19. सीतारमैया, पी., कांग्रेस का इतिहास, अनुवादक — श्री हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1936, पृ. 40.

20. मिश्र शिवकुमार, भारतेन्दु अन्तर्विरोधों के बीच, भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ. 62.

21. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, प्रबोधिनी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 211, यह कविता 1874 मे पहली बार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित हुई.

22. वही, पृ. 211, ये पक्तियॉ भारतेन्दु के 'भारत जननी' नाटक मे भी मिलती है। भारतेन्दु समग्र, पृ. 473.

23. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, भारतेन्दु समग्र, पृ. 228, यह कविता 1877 मे हिन्दी वर्द्धिनी सभा में हिन्दी के प्रचारार्थ लिखी गयी

24 भारत दुर्दशा, भारतेन्दु समग्र, पृ. 461.

25 वही, पृ. 462.

26 वही, पृ. 463.

27 अधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 531.

28 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, मान सोपायन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 225, यह कविता 1888 में प्रिन्स आफ वेल्स क आगमन पर उन्हे समर्पित की गयी थी.

29. हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, भारतेन्दु समग्र, पृ. 229.

30 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, कुतुबुद्दीन का राज, भारतेन्दु समग्र, पृ. 267

31. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, भारत जननी', भारतेन्दु समग्र, पृ. 475, यह नाटक पहली बार 1877 में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित हुआ था.

32 हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, नीलदेवी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 479, यह नाटक पहली बार 1881 में प्रकाशित.

33 वही, पृ. 480

34 वही, पृ 483

35 वही, 488

36 अधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 531.

37. शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 34.

38. प्रबोधिनी, भारतेन्दु समग्र, पृ. 211.

39. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, सरयूपार की यात्रा, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1039, यह यात्रा वृतान्त 1879 में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में छपा था।.

40. हरिश्चन्द्र भारतेन्दु, श्री राजकुमार शुभागमन, भारतेन्दु समग्र, पृ. 216, यह कविता 1875 में प्रिन्स आफ वेल्स के आगमन पर लिखी गयी थी.

41. श्री बाबू रामदीन सिंह को भारतेन्दु द्वारा लिखा पत्र,भारतेन्दु समग्र, पृ0 1077.

42. भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ? भारतेन्दु समग्र, पृ. 1012.

43 वही, पृ. 1013.

44 वही.

45 वही.

46 शर्मा हेमन्त, प्राक्कथन भारतेन्दु समग्र, पृ. 25.

47 उद्धृत, रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ 61

48 श्रीवास्तव शिखा, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध की भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित) डी.फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, इ.वि.वि , 1982, पृ. 15

49. वही, पृ. 46.

50. कीर्ति लता, भारतीय स्वातत्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य', हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1967, पृ. 67.

51 हरिऔध अयोध्या सिह उपाध्याय, आर्यपचक, काव्योपवन, संगविलास प्रेस, बॉकीपुर, 1909, पृ. 162–63.

52 वही, पृ 167.

53 वही, पृ 164–66.

54 हरिऔध, प्रियप्रवास, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, 1941, (प्रथम सस्करण 1914) पृ 181.

55 हरिऔध, सुशिक्षा सोपान, पद्य प्रमोद, प्रकाशक ग्रन्थमाला, बॉकीपुर, 1917, पृ. 102.

56. हमें चाहिये, प प्रमोद, पृ. 167.

57. आरम्भ शूरता, सुविचार संग्रह, पृ. 35.

58. हरिऔध, जीवन स्रोत, विद्यालय, पद्य प्रसून, हिन्दी पुस्तक भंडार, लौहरिया सराय, दरभंगा, 1925, पृ. 29.

59. जातीयता ज्योति, जीवन—मरण, पद्य प्रसून, पृ. 30—32.

60. दिल के फफोले, पद्य प्रसून, पृ. 55—56.

61 क्या से क्या, पद्य प्रसून, पृ. 167.

62. प्रेम, पद्य प्रसून, पृ. 171.

63. हरिऔध, चुभते चौपदे, संगविलास प्रेस, पटना, 1924, पृ. 237.

64 जीवनस्रोत, विद्यालय, पद्य प्रसून,पृ. 27—30.

65 जीवन—मरण, पद्य प्रसून, पृ 35

66 परिवर्तन, पद्य प्रसून, पृ. 43.

67 समझ का फेर, पद्य प्रसून, पृ. 61.

68. सेवा, पद्य प्रसून, पृ. 66.

69. जातीयता ज्योति, गौरव गान, पद्य प्रसून, पृ 150—51.

70 प्रेम, पद्य प्रसून, पृ. 171—75

71. कीर्ति लता, वही पुस्तक, पृ. 195.

72 हरिऔध, मंत्र साधन, सिद्धि साधना, कल्पलता, गगा ग्रथागार, 1937, पृ. 134.

73 त्यागभूमि, कल्पलता, पृ 39.

74 शिक्षा का उपयोग, कल्पलता, पृ. 41.

75 मुरली की तान, कल्पलता, पृ. 74.

76. जीवन संग्राम, जीवन रणनाद, कल्पलता, पृ. 125

77 राजस्थान, कल्पलता, पृ 134.

78 हृदय वेदना, कल्पलता, पृ. 27.

79 दीपमाला, कल्पलता, पृ. 145—46

80 हरिऔध, विजया पवित्र पर्व, प्रका. राम नारायण लाल, इलाहाबाद, 1941, पृ 4.

81. होली, पवित्र पर्व, पृ. 50—51.

82. होलिका दहन, पवित्र पर्व, पृ. 53.

83. कीर्तिलता, वही पुस्तक, पृ. 24.

84. प्रेम चन्द, साम्प्रदायिकता एवं संस्कृति, विविध प्रसंग, भाग 3, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद,पृ. 232.

85. युगेश्वर डॉ., सबके प्रेमचन्द, भारतीय साहित्य आस्थान, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 1983, पृ. 84.

86. जनाब हिदायतुल्लाह का भाषण, 18 दिसम्बर 1933 के जागरण में विस्तार से दिया गया है.

87 जागरण, 22 जनवरी 1934.

88 जमाना, फरवरी 1924

89 जागरण, 11 दिसम्बर 1933.

90 हस, इलाहाबाद, मार्च 1931.

91 चिट्ठी पत्री, भाग दो, पृ. 32.

92 वही, पृ 82.

93 प्रेम चन्द, इस्लाम का विषवृक्ष, विविध प्रसंग, भाग दो, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 414—16.

94. वही, पृ. 357—63.

95 इस सम्बन्ध मे नवम्बर 1931 के हस का हिन्दू—मुस्लिम एकता, 19 अक्टूबर 1932 के जागरण का मुस्लिम सर्वदल सम्मेलन, 31 अक्टूबर 1932 के जागरण का एकता सम्मेलन, दिसम्बर 1932 के हस का प्रयाग सम्मेलन तथा 12 दिसम्बर 1932 के जागरण के 'मुस्लिम जनता मे एकता सम्मेलन का समर्थन' लेख द्रष्टव्य है.

96 इस सम्बन्ध मे जमाना, फरवरी 1924 का 'मनुष्यता का अकाल', हस मार्च 1921, का नवयुग, जागरण 26 अक्टूबर 1932 का राष्ट्रीय समन्वय लेख, द्रष्टव्य है.

97 प्रेम चन्द, स्मृति का पुजारी, मानसरोवर भाग 4, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 298.

98. देवी शिवरानी, प्रेमचन्द घर मे, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1983, पृ. 96.

99. **कायाकल्प उपन्यास का रचनाकाल 1924—25 है और मदिर—मस्जिद कहानी अप्रैल 1925 मे माधुरी में प्रकाशित हुई थी.**

100. कायाकल्प, प्रेमचन्द रचनावली खण्ड 4,पृ. 131.

101. वही, पृ. 275—76.

102. मंत्र, मानसरोवर, भाग 5, पृ. 49—60.

103. चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ. 132.

104. जमाना, फरवरी 1924, विविध प्रसंग भाग 2, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 352

105. वही.

106. कायाकल्प, पृ. 29

107. वही, पृ. 31.

108 वही, पृ. 23.

109 वही, पृ. 188.

110. वही.

111. वही.

112 मदिर और मस्जिद, गुप्तधन भाग दो, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 161.

113 हिसा परमोधर्मः, मानसरोवर, भाग 5, पृ. 61.

114 कायाकल्प, पृ 40.

115. वही, पृ 23.

116 प्रेम चन्द, कर्मभूमि, हस प्रकाशन, 1981, पृ. 312.

117. कायाकल्प, पृ. 265—66.

118. वही, पृ. 266

119 विविध प्रसग, भाग दो, पृ. 356

120 प्रेम चन्द, सेवासदन, हंस प्रकाशन, 1962, पृ. 174.

121 वही, पृ 249.

122 जमाना, 18 फरवरी 1924, कायाकल्प, पृ. 313

123 साम्प्रदायिकता और स्वार्थ, विविध प्रसंग, भाग दो, पृ. 43—51.

124. हंस, अप्रैल 1930, पृ. 65.

125. हंस, मार्च 1931, पृ. 61.

126. चन्द्र बिपन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली 1996, पृ. 173.

127. हस, सितम्बर 1931, पृ. 73—74.

128. हंस, अक्टूबर 1931, पृ. 61—62.

129. हस, नवम्बर 1931, पृ. 66.

130. विविध प्रसंग भाग दो,पृ 380.

131. हस, जुलाई 1934, पृ. 66.

132 कायाकल्प पृ 27.

133 गाधी महात्मा, यंग इडिया, 28 जुलाई 1921, देखिये, प्यारेलाल, महात्मा गाधी लास्ट फेज, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, 1958, पृ. 129

134 कायाकल्प, पृ. 24

135 प्यारे लाल, वही पुस्तक, पृ. 120.

136. जमाना, फरवरी 1924, विविध प्रसग, भाग दो, पृ. 352.

137. कर्मभूमि, पृ. 222—23.

138. मदिर और मस्जिद, गुप्त धन, भाग दो, पृ 163.

139 वही, पृ. 167

140. विविध प्रसग, भाग दो, पृ. 374.

141. जागरण 29 अगस्त 1932, विविध प्रसंग भाग दो, पृ. 382.

142. कायाकल्प, पृ. 44.

143. कर्मभूमि.

144. शर्मा, राजेन्द्र नारायण, सुमित्रा पत्रिका, जुलाई 1915, उद्धृत पृ. 18

145 प्रेम शकर, प्रसाद का काव्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ 43

146. वही, पृ. 32—32.

147. व्यास विनोद शंकर, प्रसाद और उनके समकालीन, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी,सं. 2017,पृ. 36.

148. इन्दुकला—3, किरण—5, अप्रैल 1912, पृ. 402.

149. प्रसाद, रत्न शंकर (संपा), प्रसाद वाङ्मय खण्ड 3, लोकभारती, इलाहाबाद, 1986, प्राक्कथन सत्यप्रकाश मिश्र द्वारा, पृ. 11.

150. प्रेमशंकर, वही पुस्तक, पृ. 324.

151. प्रसाद, जयशंकर, काव्य कला एवं अन्य निबन्ध, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1939, पृ. 146.

152. सिंह अवधेश प्रसाद, प्रसाद की इतिहास दृष्टि, समकालीन सृजन, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और प्रसाद, संयुक्तांक 4—6 अक्टूबर 88, जून 89, संपा. शंभूनाथ, पृ. 325.

153. प्रसाद रत्न शंकर, प्राक्कथन, प्रसाद वाङ्मय 3, पृ. 88.

154. वही, पृ. 91.

155. सिंह अवधेश प्रसाद, वही पुस्तक, पृ. 329.

156. वही, पृ. 330.

157. प्रसाद जयशंकर, आमुख, कामायनी, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1993, पृ. 3.

158. मिश्र शिवकुमार, राष्ट्रीय नवजागरण के आलोक में प्रसाद, शंभूनाथ संपादित वही पुस्तक, पृ. 65.

159. शाह रमेश चन्द्र, गीत सृष्टि, प्रसाद की प्रतिभा, संपा. इन्द्रनाथ मदान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1971, पृ. 12.

160. चतुर्वेदी रामस्वरूप, 'प्रसाद निराला अज्ञेय', लोकभारती, इलाहाबाद, 1997, पृ. 18.

161. इरावती, प्रसाद वाङमय—3, पृ. 449.

162. कंकाल, प्रसाद वाङमय—3 पृ. 72.

163. वही, पृ. 57.

164. वही, पृ. 131.

165 प्रसाद जयशकर, देवरथ, इन्द्रजाल, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1936 पृ. 116

166. प्रसाद, रत्न शकर (संपा.) विशाख, प्रसाद वाङमय—2, लोकभारती, इलाहाबाद, 1985, पृ. 166.

167. प्राक्कथन, प्रसाद वाडमय—3, पृ. 11.

168. इरावती, प्रसाद वाडमय—3, पृ. 483.

169. वही, पृ. 490.

170. स्कन्द गुप्त, प्रसाद वाडमय—2, पृ. 573.

171. प्रसाद जयशंकर, कामायनी, पृ. 116.

172. प्रसाद रत्न शंकर, (संपा) अशोक, प्रसाद वाङ्मय—4, लोकभारती, इलाहाबाद, 1999, पृ. 36.

173. चित्तौर का उद्धार, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ. 35.

174. गुलाम, प्रसाद, वाङ्मय—4, पृ. 47.

175. वही, पृ. 47.

176 चक्रवर्ती का स्तम्भ, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ. 102—103.

177. ममता, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ. 124

178 वही.

179. स्वर्ग के खण्डहर, वाङ्मय—4, पृ. 131.

180 वही, पृ 135.

181 वही

182. दासी, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ. 233

183 वही, पृ 236.

184 वही, पृ 240.

185 वही, पृ. 241.

186. सलीम, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ 298.

187. वही, पृ. 299.

188. प्रसाद रत्नशकर (सपा) महाराणा का महत्व, प्रसाद वाङ्मय—1, लोकभारती, इलाहाबाद, 1977, पृ. 131.

189. वही, पृ. 132.

190. वही, पृ. 133

191. वही, पृ. 137.

192. वही, पृ. 141.

193. वीर बालक, कानन कुसुम, प्रसाद वाङ्मय—1, पृ. 223—24.

194. शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, लहर, प्रसाद वाङ्मय—1, पृ. 376.

195. प्रलय की छाया, लहर, प्रसाद वाङ्मय—1, पृ. 385.

196. वही, पृ. 386.

197. वही, पृ. 394.

198. चन्द्रगुप्त, प्रसाद वाङ्मय—2, पृ. 621.

199. वही, पृ. 622

200 वही, पृ. 623

201. वही, पृ. 624

202 वही, पृ 636

203 वही, पृ 664.

204 प्रायश्चित, प्रसाद वाङ्मय—2, पृ 57.

205. वही, पृ. 57.

206 वही, पृ. 61.

207 वही, पृ. 62.

208 महाराणा का महत्व प्रसाद वाडमय—1, पृ. 142.

209. वही, पृ. 137.

210 ममता, आकाशदीप, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ. 125.

211. सलीम, इन्द्रजाल, प्रसाद वाङ्मय—4, पृ 302—304.

212 खण्डेलवाल विद्या, प्रसाद के नाटको मे राष्ट्रीय भावना, भारत बुक डिपो, 1986, पृ. 87.

213 शंभूनाथ, (सपा), वही पुस्तक, पृ. 11

214 चेलिसेव ये.पे., सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1982, पृ. 18.

215. वर्मा अर्चना, निराला का अद्वैत और स्वाधीनता सघर्ष, सेमिनार, 16—19 सितम्बर 1997, इडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला (अप्रकाशित) पृ. 1.

216. नवल नन्द किशोर, स्वाधीनता आन्दोलन और निराला की कविता (अप्रकाशित) सेमिनार 16—19 सितम्बर 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला, पृ. 1.

217. नीलाभ, परम्परा मोह और अपने समय से संघर्ष, आजकल, जुलाई 1997, पृ.8.

218. नीलाभ, वही, पृ. 9, निराला के सम्पूर्ण निबन्ध 'प्रबन्धप्रतिमा' में संकलित है, जिसमें उन्होंने अन्य समस्याओं के साथ हिन्दू—मुस्लिम समस्या पर भी विचार किया है।.

219. सिंह दूधनाथ, निराला : आत्महन्ता आस्था, लोकभारती, इलाहाबाद, 1972, पृ. 141.

220 वही

221. वही, पृ. 141—42.

222. निराला सूर्यकान्त त्रिपाठी, शिवाजी का पत्र, परिमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997 (पुनरावृत्ति) पृ. 181.

223. वही, पृ. 176—77.

224. सिह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ. 142.

225. निराला, शिवाजी का पत्र, परिमल, पृ. 181.

226 वही, पृ 176

227. वही, पृ. 188.

228 वही, पृ 177—79.

229. वही, पृ. 166.

230. निराला, तुलसीदास, पृ. 11.

231 निराला, शिवाजी का पत्र, पृ. 179.

232 वही, पृ. 175.

233 निराला, तुलसीदास, पृ. 11.

234 वही, पृ. 11.

235. वही, पृ 12.

236 वही.

237. निराला, शिवाजी का पत्र, पृ. 179.

238 नीलाभ, वही लेख, पृ. 8.

239. वर्मा अर्चना के लेख मे उद्धृत, पृ. 1.

240. वही, पृ. 1.

241. सिंह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ. 144.

242. नीलाभ, वही लेख, पृ. 10.

243. खरे विष्णु, उद्धृत, निराला की राष्ट्रीय चेतना, कात्यायनी, सेमिनार 16–19 सितम्बर 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला, पृ. 1

244 नवल नन्द किशोर (संपा.), निराला रचनावली, भाग–6, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 306.

245 नवल नन्दकिशोर (सपा.) निराला रचनावली, भाग 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 63.

246. वही, पृ. 65.

247. वही, पृ. 66.

248. वही, पृ. 396.

249. नीलाभ, वही लेख.

250. निराला, शिवाजी का पत्र, पृ. 181–82.

251. सिह दूधनाथ, वही पुस्तक, पृ. 141.

252. नीलाभ, वही लेख, पृ. 9–10.

253 कॅवल भारती, उद्धृत निराला की मुक्ति चेतना, कात्यायनी, आजकल, जुलाई 1997, पृ. 18

254. कात्यायनी, निराला की राष्ट्रीय चेतना, पृ. 3.

255 वही, पृ. 7–8.

256 पाण्डेय गगा प्रसाद, महाप्राण निराला, साहित्यकार संसद प्रयाग संवत् 2006, महादेवी वर्मा का कथन,पृ. 9.

257 नवल नन्दकिशोर (सपा), निराला रचनावली भाग 1, राजकमला प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 232.

258 निराला रचनावली, भाग 6, पृ. 433.

259. वही, पृ. 403.

260. कात्यायनी, वही लेख मुक्तिचेतना–, पृ. 19.

261. निराला रचनावली, भाग 6, पृ. 146.

262. वही, पृ. 383.

263. शर्मा रामविलास, निराला की साहित्य साधना भाग–2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1972, पृ. 52.

264. नीलाभ, वही लेख, पृ. 10.

265. सिंह शिवप्रसाद, जौहर एक पुरानी संवेदना का नवीन आख्यान, उद्धृत जौहर, श्याम नारायण पाण्डेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय सस्करण 1997, पृ. 7

266 पाण्डेय श्याम नारायण, आवृत्ति पर आवृत्ति, जौहर, पृ 12.

267 कथावस्तु, जौहर, पृ 29

268. वही, पृ 28

269 पाण्डेय श्याम नारायण, हल्दीघाटी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण 1998 भूमिका, पृ. 7

270 वही, पृ 10.

271 वही, पृ 165.

272 वही, पृ 166.

273 जौहर, पृ. 182

274 वही.

275 भूमिका, हल्दीघाटी, पृ. 11.

276 हल्दीघाटी, पृ. 72.

277. वही, पृ. 74.

278 वही, पृ. 38

279 वही.

280 वही, पृ. 40

281. वही, पृ 18

282. वही, पृ. 72.

283. वही, पृ. 80.

284. वही.

285. भूमिका हल्दीघाटी, पृ. 19.

286. वही, पृ. 17.

287. वही, पृ. 18.

288. वही, पृ. 15.

289. हल्दीघाटी, पृ. 126.

290. कथावस्तु, जौहर, पृ. 14.

291. वही, पृ. 15.

292. वही.

293 वही, पृ. 14.

294 जौहर, पृ. 52

295 वही, पृ 78.

296 वही, पृ 137

297. वही, पृ 125.

298. भूमिका हल्दीघाटी, पृ. 26.

299. जौहर, पृ. 188

300 वही, पृ. 182.

301 हल्दीघाटी, पृ 43.

302. वही, पृ 51.

303 वही, पृ. 59

304 सिंह शिवप्रसाद, वही लेख, पृ 10

आर्थिक परिदृश्य, दलीय राजनीति एवं साम्प्रदायिकता का बदलता स्वरूप

साम्प्रदायिकता के विकास को समझने के लिये आवश्यक है कि सम्बन्धित क्षेत्र की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया जाय। इससे अलगाववादी प्रवृत्तियों को विश्लेषित करने में सहायता मिलती है। इसे पहले सयुक्त प्रान्त एवं उसी क्रम मे पूर्वी उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में विवेचित किया जायेगा। इसके साथ ही उन कारकों का विवेचन किया जायेगा, जिसके कारण हिन्दू एवं मुस्लिम समुदाय में संघर्ष की स्थितियॉ पैदा हुई।

हाल के वर्षो मे पाल ब्रास[1] और फ्रांसिस राबिन्सन[2] ने संयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम अलगाववाद के प्रश्न पर अपने विचार प्रस्तुत किये है। ब्रास का यह तर्क है कि संयुक्त प्रान्त के मुसलमान उस समय हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक तीव्रता से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे सम्मिलित हो रहे थे। यह इससे पता चलता है कि सरकारी नौकरियो मे मुस्लिम भागीदारी उनकी जनसंख्या के अनुपात मे चौदह प्रतिशत थी। ब्रास ने यह तर्क भी दिया है कि मुस्लिम नेताओ ने मुसलमानो के पिछडेपन को एक मिथक के रूप में देखा, क्योंकि इसी के द्वारा वे (मुस्लिम अभिजात वर्ग) अपनी विशेष स्थिति को बचाये रख सकते थे। लेकिन फ्रासिस राबिन्सन इस तर्क कि मुस्लिम पिछड़ापन एक मिथक था, से पहले तो असहमत होते है किन्तु यह भी दिखाने की कोशिश करते है कि मुस्लिम राजनीतिक नेतृत्व ने धार्मिक एव सांस्कृतिक मान्यताओं को न केवल सरक्षित किया, अपितु उसके अनुसार ही आगे की कार्यवाही का निर्धारण भी किया।

यह स्पष्ट है कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्त एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मुस्लिम अभिजात वर्ग एक सगठित वर्ग के रूप मे विकसित नही हुआ था, क्योकि इस समय मुस्लिम राजनीति अलीगढ़ कालेज के नियत्रण एव मुस्लिम लीग के नेतृत्व के प्रश्न पर उलझी हुई थी। इसके साथ ही मुस्लिम राजनीति में एक महत्वपूर्ण प्रश्न 'मधे सहाबा' का भी था। यह समस्या 1906 मे उद्भूत हुई जब सुन्नी मुसलमानो ने मुहर्रम जुलूस मे पहले तीन खलीफाओ की प्रशसा मे नारे लगाये, जो कि शियाओ की धार्मिक भावनाओ पर आघात था। लेकिन यह भी सत्य है कि मुस्लिम राजनेताओं ने उन मुसलमानों की आर्थिक

एवं शैक्षणिक दशाओं पर ध्यान दिया था, विशेषतः जिस वर्ग से वे स्वयं आते थे। जैसे कि जमींदार वर्ग, व्यवसायी वर्ग एवं सरकारी कर्मचारी।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम अभिजात वर्ग को एक के बाद एक कुठाराघात झेलने पडे, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर हुई। मुस्लिम अभिजात वर्ग की आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव डालने वाली कार्यवाही संयुक्त प्रान्त के लेफ्टीनेंट गवर्नर एन्थोनी मैकडॉनेल (1986–1901) की उस कार्यवाही से हुई जिसमें उसके द्वारा सरकारी कामकाज की भाषा एवं नौकरियों में नियुक्ति सम्बन्धी नीति में परिवर्तन किया गया। मैकडॉनेल की इस नीति ने जिसमें कि नवनियुक्त सरकारी कर्मचारियो को देवनागरी एवं फारसी दोनों लिपियों का ज्ञान होना आवश्यक था, उन मुस्लिम परिवारों के समक्ष गंभीर समस्या उत्पन्न कर दी जो पहले से ही सरकारी नौकरियों में थे।

जनसंख्या विवरण 1911 एवं 1921 को उद्धृत करते हुये पाल ब्रास ने यह दिखाने की कोशिश की है कि सरकारी नौकरियों एवं व्यवसाय में मुसलमानो की सख्या उनकी जनसंख्या की तुलना मे अधिक थी। उनके अनुसार पुलिस बल मे मुसलमानो की संख्या हिन्दुओ की अपेक्षा अधिक थी एव करीब 26 प्रतिशत जमीदार मुस्लिम वर्ग से आते थे। किन्तु लास ब्रेनेन इससे असहमति प्रकट करते हुये स्थिति को स्पष्ट करते हैं कि 1911 तक भारतीय संयुक्त प्रान्त के उच्च्य प्रशासकीय स्तर पर पहुँच नहीं पाये थे। उदाहरण के लिये इस तरह की सत्रह भारतीय नियुक्तियों में 10 हिन्दू, 6 मुसलमान एवं एक पारसी था।[3] दस हिन्दुओं में से 6 ने आई.सी.एस. की परीक्षा इंग्लैड में रहकर उत्तीर्ण की थी, जबकि एक मुस्लिम ही इसे उत्तीर्ण कर सका था। चार मुसलमानो का मनोनयन स्टेट्यूरी सिविल सेवा मे हुआ था, जबकि छठा एक न्यायधीश था और वह भी नीचे से प्रोन्नत होकर आया था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सरकारी नौकरी में मुसलमान अपनी योग्यता के बल पर नही, बल्कि मनोनयन के द्वारा आये थे। इसके अतिरिक्त भारतीय शिक्षा सेवा एवं लोक निर्माण विभाग के उच्च्य पदों पर भी मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की तुलना में कम थी।[4]

पुलिस सेवा मे यद्यपि कि मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की तुलना में बहुत अधिक थी, किन्तु यह आधिक्य अधीनस्थ पदों पर था क्योकि 1911 में 78 अधीक्षकों एव प्रथम ग्रेड सहायक अधीक्षकों में मात्र एक मुसलमान था। इस

तरह पुलिस बल मे भी सख्या में अधिक होने के बाद भी इसके निर्देशन को प्रभावित करने की स्थिति मे नही थे। सरकारी नौकरियो मे साधारण मुसलमानों की सवेदनशीलता के बावजूद मुस्लिम अभिजात वर्ग का एक बडा तबका अपने आय के मुख्य स्रोत के लिये भूमि पर निर्भर था। 1911 के जनसख्या विवरण के अनुसार एक लाख पचहत्तर हजार मुसलमानों की आय का मुख्य स्रोत भूमि था। जोकि सरकारी नौकरियों में कार्यरत मुसलमानों की संख्या का तीन गुना था। लेकिन आय से बढ़कर भूमि का महत्व था। जैसा कि नील ने स्पष्ट किया है कि भूमि का मतलब शासन करना है और भू-स्वामित्व का अर्थ स्थानीय राजनीतिक प्रभाव एव सामाजिक प्रतिष्ठा थी।[5]

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान अंग्रेज सरकार के कुछ कदमों ने मुस्लिम भूस्वामित्व के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डाला। संयुक्त प्रान्त में अंग्रेजो की विस्तार नीति के कारण मुसलमानो का राजनीतिक पतन हुआ और इसका दूसरा पहलू यह भी था कि उनके द्वारा संरक्षित मुस्लिम भूस्वामियो की स्थिति भी कमजोर हुई। उदाहरण के लिये 1774 से 1805 के बीच ब्रिटिश हस्तक्षेप के कारण रुहेलखण्ड से बडे पैमाने पर मुस्लिम भू स्वामियो को हटा दिया गया। इसी प्रकार 1858 में उन मुस्लिम भूस्वामियों की जमीन जब्त कर ली गयी जहॉ 1857 के विद्रोह मे उन्होने भागीदारी की थी। इस तरह की कार्यवाही ने मुस्लिम भूस्वामियो की आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया।

इस तरह संयुक्त प्रान्त के मुस्लिम अभिजात वर्ग की समस्याओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक तक उनकी स्थिति विषम थी। आर्थिक रूप से वे अस्थिर थे, क्योकि प्रान्तीय सेवा, पुलिस बल और जमीदारी इन तीनो ही क्षेत्रों मे उनकी स्थिति पहले से ही कमजोर होती जा रही थी। मुसलमान आधुनिक शिक्षा को उतनी तेजी से ग्रहण नही कर रहे थे, जैसे हिन्दू कर रहे थे। इसके अतिरिक्त उनकी मातृभाषा उर्दू को अति उत्साही हिन्दुओं का विरोध भी झेलना पड रहा था। साथ ही उनके ऊपर भारतीय राष्ट्रीयता द्वारा राजनीतिक शक्ति के लिये सघर्ष भी एक दबाव का कार्य कर रहा था, क्योकि अल्पसख्यक होने के कारण किसी भी जनतात्रिक पद्धति में उनकी स्थिति अच्छी नही होने वाली थी।

1893 मे प्रारम्भ हुई सीमित निर्वाचन पद्धति द्वारा संयुक्त प्रान्त मे कोई भी मुसलमान विधान परिषद में नही चुना जा सका। किन्तु 1930 के दशक मे सयुक्त प्रान्त मे मुस्लिम अभिजात वर्ग ने अपनी स्थिति को सुदृढ कर लिया था,

जिसमे पृथक निर्वाचन पद्धति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। राजनीतिक प्रभाव एव मुसलमानो के हित सरक्षण के लिये उनके संघर्ष ने साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया, जिसे शुद्धि, तबलीग और तंजीम आन्दोलनों ने और हवा दी। इसके साथ ही मुसलमानो के बीच शिक्षा का प्रसार भी हुआ। अलीगढ़ मे मोहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कालेज का खुलना और 1920 में विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित होना, मुसलमानों के बीच शिक्षा के प्रसार एवं महत्व को इंगित करता है, यद्यपि कि इस समय तक यह सरकारी नियंत्रण में था। मुस्लिम राजनेताओं को यह लगातार शिकायत थी कि हिन्दू नियंत्रित स्थानीय निकायों द्वारा मुस्लिम बच्चों की शिक्षा के लिये पर्याप्त कदम नहीं उठाया जा रहा है क्योकि न तो मुस्लिम शिक्षको की नियुक्ति की गयी थी, न उर्दू भाषा का उपयोग किया जा रहा था, न मिश्रित स्कूलो मे धार्मिक शिक्षा दी जा रही थी।[6]

पूर्वी उत्तर प्रदेश की सामाजिक आर्थिक स्थितियाँ भी कमोवेश इसी प्रकार की थीं। इस समय की अर्थव्यवस्था पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि शेष भारत की तरह यहॉ भी जमीदारों का प्रभाव अत्यधिक था और शेष भारत की तरह इस क्षेत्र मे भी सामाजिक और आर्थिक ताने–बाने को औपनिवेशिक शासन ने बुरी तरह प्रभावित किया था। यह क्षेत्र तीन विशिष्टताओ के लिए पहचाना जाता है– 1. कृषि एवं पशुपालन यहॉ के लोगो का मुख्य व्यवसाय था, 2. कुछ भूस्वामी वर्ग का स्पष्ट प्रभुत्व था 3. औपनिवेशिक शासन के दौरान अन्य क्षेत्रों की भॉति यहॉ के भी सामाजिक आर्थिक सम्बन्धों मे दरार आयी। बनारस ही केवल एक ऐसा शहर था जिसकी जनसंख्या तीस एवं चालीस हजार के बीच थी। दो अन्य शहरों मिर्जापुर, जौनपुर में जनसख्या तीस एव चालीस हजार के बीच थी, जबकि गाजीपुर में बीस हजार से कुछ अधिक थी। इन शहरों का विकास व्यापार, हस्तशिल्प तथा तीर्थस्थान के कारण हुआ था। इस क्षेत्र में कार्यरत जनता का करीब 80 प्रतिशत कृषि से सम्बन्धित था और मात्र 5 प्रतिशत लोगो की भागीदारी उद्योगों मे थी। उदाहरण के लिये बनारस संभाग में जहॉ कि उद्योगों का संकेन्द्रण अच्छा था, वहॉ पर भी 70 प्रतिशत कार्यरत जनता कृषि पर आश्रित थी और मात्र 10 प्रतिशत लोग ही उद्योग धन्धों में संलग्न थे। इस क्षेत्र में नगरों का प्रायः अभाव था। कुछ नगरीय तथा अर्द्धनगरीय संकेन्द्रण था– टाण्डा, मऊ और मुबारकपुर का बुनकर केन्द्र जहॉ कि 1911 मे जनसख्या क्रमशः 19378, 16751 तथा

12562 थी।[7] इनमे आजमगढ के मऊ, मुबारकपुर एवं मुहम्मदाबाद मे मुसलमान बहुसख्यक थे, जबकि कोपागंज, चिरैयाकोट और आजमगढ के अन्य क्षेत्रो मे इनकी सख्या अल्पसंख्यक होने के बाद भी अच्छी थी।

भूमि आर्थिक संसाधन का प्राथमिक स्रोत था। भूमि और उसके उत्पाद के ऊपर अधिकार के लिये ही यहॉ विभिन्न जातियो एवं समुदायों के बीच संघर्ष होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक राजपूत, भूमिहार और ब्राह्मणों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। लेकिन इसी समय इनको कुछ गॉवों पर नियंत्रण के लिये मुसलमान समूहों से संघर्ष करना पड़ रहा था। ऐसे मुसलमान समूहों में स्थानीय धर्मान्तरित मुसलमान एवं बाहर से आये नये मुसलमान शामिल थे। ये लोग समय—समय पर विभिन्न मुस्लिम शासकों से अपने पक्ष में हस्तक्षेप करवाते रहे थे। इस तरह का संघर्ष उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। मुस्लिम जमींदारों के पास अब भी कुछ जमीने थीं, जिनके ऊपर उनका पूर्ण नियंत्रण था, विशेषकर ऐसे क्षेत्रों में जो मुस्लिम प्रशासन के पुराने केन्द्र थे। जैसे— आजमगढ़, गाजीपुर और जौनपुर के कुछ क्षेत्र।

राजपूत ब्राह्मण और भूमिहारों का आर्थिक प्रभुत्व उनकी अधिक सख्या के कारण भी था। यदि राजपूत ब्राह्मण और भूमिहार को पूर्वी उत्तर प्रदेश के जमीदार वर्ग के रूप में माना जाय तो अहीर, कुर्मी और कोइरी ऐसी जातियॉ थी, जो कृषि का कार्य करती थी, जबकि चमार और दुसाध जैसे अछूत लोग कृषक मजदूरी और ऐसे ही निम्न कार्य किया करते थे। इस क्षेत्र मे मोटे तौर पर समाज को दो वर्गो में बॉटा जा सकता है। 1. शरीफ या अशरफ — जो अभिजात लोगों का समूह था और इसीलिए काफी प्रभावशाली था। 2. राजिल या मेहनतकश लोग। अशरफ में ब्राह्मण, राजपूत भूमिहार, सैय्यद, शेख और वैसे पठान जो पहले राजपूत थे तथा कुछ हिन्दू जातियॉ जैसे कायस्थ। शेष अन्य अहीर से लेकर कुर्मी तक और मुसलमानो मे भी ऐसे ही समुदाय जैसे रौतारा तथा कोरी एवं जुलाहा तथा चमार आदि राजिल वर्ग मे रखे जा सकते थे।

बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक तक आते—आते मध्यवर्गीय कृषक जातियॉ जैसे अहीर, कुर्मी, कोइरी ने समाज में अपने स्तर सुधारने के लिये सभी तरह के सामाजिक और आर्थिक उत्पीडन के विरुद्ध आवाज उठायी थी। उनके इस आन्दोलन ने 1901 मे एक निश्चित संगठनात्मक आकार लिया, जब 1901 की जनगणना मे विभिन्न जातियो को सामाजिक वरीयता के आधार पर

चिह्नित किया गया। भूमिहार और कायस्थ इस बात से नाराज थे कि उन्हें वैश्य वर्ग मे कुर्मी, अहीर, मल्लाह, हज्जाम और कहार के साथ रखा गया था। वैसे अहीर और कुर्मी जो सम्पन्न थे, ने भी नाराजगी जाहिर की कि उन्हें हज्जाम एवं कहार के साथ रखा गया है।[9]

इसी तरह मुस्लिम समाज में निम्न वर्ग के मुसलमान अपने सामाजिक स्तर को सुधारने के लिये कुछ पारम्परिक प्रतीकों को छोड़ने के लिये तैयार थे। जमींदार या रौतारा ने अशरफ वर्ग में दाखिला का दावा किया। 1901 और 1911 के बीच मुसलमान राजपूत अचानक अपने आपको पठान कहने लगे और उपनाम सिह की जगह खान लिखने लगे। ऐसे निम्नवर्गीय मुसलमान जुलाहा, तेली,नाई आदि ने भी शेख के समकक्ष अपने सामाजिक स्तर को लाने का प्रयास किया, यद्यपि उच्च वर्ग मुसलमान इसको मान्यता नही देते थे।

सामाजिक स्तर को सुधारने के लिये किये गये आन्दोलन का व्यवसाय मे परिवर्तन के साथ इसी तरह का सम्बन्ध पहले भी रहा था।[10] यातायात व्यवस्था में सुधार और नये औपनिवेशिक संरक्षको का यह प्रयास कि लोगों के पारम्परिक स्तर को रिकार्ड किया जाय ने ऐसे आन्दोलनों को आगे बढाया। कुछ हद तक यह हिन्दू एवं मुसलमानो मे धार्मिक सुधार और पुनरुद्धार के लिये किये गये आन्दोलनों का भी जवाब था। इस तरह के सामाजिक तनाव एव सघर्ष के बीच कुछ नयी एवं संगठित मॉगे भी इस क्षेत्र मे की गयीं जिन्होने साम्प्रदायिक स्थिति को अत्यधिक जटिल बनाया। जैसे कि हिन्दू एव मुसलमानो की शैक्षणिक संस्थाओ का खोलना तथा देवनागरी लिपि को सरकारी कार्यकलाप की भाषा के रूप मे अपनाना। इसी प्रकार गोरक्षा का प्रसार एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप मे उभरा, जिससे समाज के विभिन्न वर्ग इससे जुडे तथा इसके कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश और प0 बिहार मे गंभीर परिणाम हुये।

संस्कृतनिष्ठ हिन्दी और उर्दू भाषा का प्रश्न एक महत्वपूर्ण विवाद का विषय था, जिसने हिन्दुओं एवं मुसलमानो के बीच वैमनस्य बढाने मे महती भूमिका निभाई। जहॉ एक ओर कट्टर हिन्दू सस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा को अपनाये जाने और उसके प्रचार–प्रसार के पक्षधर थे, वहीं दूसरी ओर मुसलमान उर्दू के पक्ष में लामबन्द हो रहे थे। यद्यपि सच यह है कि उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक हिन्दुओं मे जो अभिजात वर्ग था, उसकी भी उर्दू भाषा के ऊपर अच्छी पकड थी। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक उत्तर प्रदेश के शहरों के प्रमुख लोग न केवल उर्दू भाषा बोलते थे बल्कि लिखते भी थे। उर्दू भाषा मे ही

अधिकाश पुस्तकें लिखी गयी थी, अधिकांश अखबार भी उर्दू मे प्रकाशित होते थे और उस समय के जो प्रमुख संघ थे, अपनी कार्यवाहियों का लेखा—जोखा उर्दू मे रखते थे। उर्दू बोलने वाली संस्कृति के प्रमुख केन्द्र आगरा, इलाहाबाद, मेरठ, मुरादाबाद, बरेली और लखनऊ थे, क्योंकि इन शहरों में ही मुसलमानो की अच्छी जनसंख्या थी साथ ही ये सरकार के केन्द्र भी थे।[11]

उन्नीसवीं शताब्दी का जो प्रभावी वर्ग था, वह जमींदारों और सरकारी नौकरशाहों का वर्ग था, क्योंकि मुख्यतः वे उर्दू भाषा के जानकार थे और इसलिए उनको उर्दू अभिजात वर्ग में रखा जा सकता है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विभिन्न कारणों से इनका प्रभाव धीरे—धीरे कम होता जा रहा था। इनमें से अधिकांश कारण ब्रिटिश शासन के कुप्रभाव में निहित थे। राजनीतिक कारणों के चलते औपनिवेशिक शक्ति ने जमींदारो की शक्ति का निर्माण किया था। लेकिन जैसे ही सरकारी नौकरशाहों ने स्थानीय डाक, सड़क और पुलिस के ऊपर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया, औपनिवेशिक शासन ने जमींदारों की शक्ति को कम करना शुरू किया। इस सन्दर्भ मे उल्लेख है कि संयुक्त प्रान्त में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुसलमान जमीदार के रूप में और सरकारी नौकरियों मे भी अच्छी संख्या मे थे।[12] इसीलिये ब्रिटिश सरकार का यह कदम मुसलमानों के लिये अधिक हानिकारक था।

कुछ क्षेत्रों में यातायात और सचार व्यवस्था के विकास के साथ ही व्यवसाय एव व्यापार से जुड़े लोगों ने न केवल जमींदारों की तरह महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था, अपितु कुछ स्थानों पर उनकी जमीनो को भी खरीदना शुरू कर दिया था। इस तरह की गतिविधि ने उर्दू भाषी विशेषतः मुसलमानों के ऊपर हानिकारक प्रभाव डाला। सरकार के कुछ कदमो जैसे शिक्षा का विकास, पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था को भारत में लागू करना और क्षेत्रीय भाषाओ को प्रोत्साहन देने की नीति ने भी उर्दू भाषा—भाषियों के धार्मिक विश्वासो, सामाजिक रीतियो एव राजनीतिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इसी प्रकार नौकरशाही मे सुधार ने भी नौकरशाहो की शक्तियों में काफी कमी थी। स्थानीय स्वशासन मे निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण भी उनके (उर्दू भाषा—भाषियो) ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पडा। इस सन्दर्भ मे ध्यान देने की बात है कि इस तरह की सरकारी गतिविधियाँ उर्दू भाषा के खिलाफ जा रही थीं, वहीं दूसरी ओर हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन मजबूती से आगे बढ रहा था। इससे भी उर्दू भाषा—भाषियो की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सर्वोच्चता प्रभावित हुई।

हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप मे हिन्दी भाषा ओर देवनागरी लिपि को न्यायालय की भाषा एव सरकारी काम—काज की भाषा के रूप में स्थापित करने का प्रयास चल रहा था। हिन्दुओ एव मुसलमानो के लिये भाषा एवं लिपि का प्रश्न असाधारण महत्व का था। हिन्दुओ के लिये हिन्दी भाषा में अरबी एवं फारसी शब्दों का प्रयोग मुसलमानो की सर्वोच्चता को सिद्ध करता था। इसलिये हिन्दी भाषा के समर्थक देवनागरी लिपि में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक थे और उनके लिये इसका धार्मिक महत्व भी था। दूसरी और मुसलमानों के लिये हिन्दी एक गन्दी भाषा थी, जिसको सीखना अपने सम्मान को नीचा करना था।[13]

प्रारम्भ में मुसलमानो में उर्दू भाषा के लिये बहुत अधिक लगाव नहीं था, जिसमे कि हिन्दी, अरबी और फारसी के शब्द निहित थे। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुसलमानों में उर्दू और फारसी लिपि के लिये लगाव पैदा हो गया और वे लोग इसे मुस्लिम सत्ता के प्रभाव एव प्रतीक के रूप मे देखने लगे। साथ ही उन्होने उर्दू भाषा को धार्मिक महत्व की दृष्टि से भी देखा क्योंकि उस समय तक यह एक प्रभावकारी भाषा बन चुकी थी। जब 1837 में इस भाषा (उर्दू) ने फारसी को स्थानान्तरित कर दिया तबसे इसका विकास निरन्तर होता गया और 1863 तक प्रकाशित होने वाले 23 अखबारो मे 17 उर्दू मे प्रकाशित हो रहे थे, जबकि हिन्दी भाषा में मात्र चार अखबार ही प्रकाशित हो रहे थे। यहॉ तक कि एक हिन्दू पुनरुद्धारवादी स्कूल निरीक्षक को यह मानना पडा था कि उर्दू हमारी मातृभाषा बनती जा रही थी।[14]

बहुसंख्यक हिन्दू ऐसी प्रवृत्ति को स्वीकार करने को तैयार नही थे। 1860 के दशक मे वे महसूस करने लगे थे कि फारसी लिपि की मजबूत स्थिति ने उर्दू को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है जो कि उनके हित से मेल नहीं खाता है। उनके अनुसार उर्दू भाषा के विकास ने प्राथमिक शिक्षा के विकास को अवरूद्ध किया है क्योकि ऐसे स्कूलों के शिक्षक क्षेत्र विशेष की भाषाओ में पढाते थे। क्षेत्र विशेष की भाषा आमतौर पर हिन्दी या उससे मिलती—जुलती बोलचाल की भाषा हुआ करती थी, जिसकी लिपि भी देवनागरी होती थी। इसलिये ग्रामीण जनता को बाद में यह महसूस होता था कि उनकी भाषा का ज्ञान बेकार है, क्योकि जब वे सरकारी कार्यालयो एवं न्यायालयो में जाते थे, तो वहॉ उनकी भाषा मे कार्य नहीं होता था। 1882 में शिक्षा आयोग के समक्ष जितने लोग साक्ष्य देने को उपस्थित हुये उन लोगो ने बनारस के एक गणित प्रोफेसर उमेश चन्द्र सान्याल की बात को ही दोहराया कि— 'प्राथमिक शिक्षा के

प्रचार ने जनता के बीच अवरोध का काम किया। वे देखते है कि हिन्दी का उपयोग व्यवहार मे नही के बराबर है, जबकि उर्दू इतनी कठिन है कि वे उसको सीखने का भी प्रयास नही करते।'[15]

फारसी लिपि और उर्दू भाषा मुसलमानो के लिये सरकारी नौकरी पाने मे सहायक सिद्ध हो रही थी। इसलिये हिन्दुओ के बीच यह असन्तोष का कारण बनता जा रहा था। वे चाहते थे कि सरकारी नौकरियों से उर्दू जानने वाले अभिजात्य वर्ग का प्रभुत्व समाप्त हो। इस तरह की मनोवृत्ति का पता उस समय के उग्र हिन्दी समर्थक अखबार 'कवि वचन सुधा' से मिलता है। जिसने एक बार लिखा कि– 'यह सत्य है कि मुसलमान फारसी लिपि की जगह यदि देवनागरी का प्रयोग किया जाता है तो मुसलमान इससे अधिक प्रभावित होगे, किन्तु उनकी जनसंख्या कम है, इसलिये बहुसंख्यक के हितों को ध्यान मे रखा जाना चाहिए और देवनागरी लिपि को आगे बढाना चाहिए।'[16]

प्रायः हिन्दू यह समझते थे कि फारसी लिपि का उपयोग हिन्दी के अस्तित्व के लिये खतरनाक है। जिसे बाद में इन लोगो ने न केवल हिन्दी भाषा अपितु हिन्दुओं और राष्ट्रीयता के लिए खतरे की घण्टी माना। जैसा कि एक हिन्दू नागरिक ने 1868 मे लिखा– 'यह एक आकलन मात्र नही है कि हिन्दी के अन्त के बाद हिन्दू राष्ट्रीयता का अवसान शुरु हो जायेगा।[17] इससे स्पष्ट होता है कि जनमानस में यह भावना व्याप्त थी कि उर्दू के विकास से हिन्दू राष्ट्रीयता खतरे में थी।

हिन्दी–उर्दू विवाद अपने चरम पर तब पहुँचा जब सर सैयद अहमद खान ने एक प्रस्ताव दिया कि देश में एक क्षेत्रीय भाषा का विश्वविद्यालय होना चाहिए, जिसमें कि उर्दू भाषा को प्रमुख रूप से स्थापित किया जाय। यद्यपि कि सरकार ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, किन्तु साथ ही कई सस्थाओं और प्रमुख लोगो से इस सन्दर्भ मे उनके विचार एव सुझाव मॉगे। इस प्रकार पहली बार संयुक्त प्रान्त मे लोग यह सोचने के लिये विवश हुये कि उनकी भाषा की उन्नति कैसे हो।

एक बार जब हिन्दू जनमानस इस ढर्रे पर सोचने लगा तो उन लोगो मे यह भावना आ गयी कि हिन्दी ही उनकी वास्तविक भाषा है न कि उर्दू। लोग इस सन्दर्भ मे कार्य करने के लिये प्ररित होने लगे। उदाहरण के लिये इलाहाबाद इन्स्टीट्यूट अपने कार्य–कलापो का लेखा जोखा देवनागरी लिपि मे रखने लगा, जहॉ कि अब तक फारसी का प्रचलन था। इसी तरह बनारस के महाराजा ने ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया कि उन्हे भी इस तरह का

परिवर्तन लाने की अनुमति दी जाय। सैयद अहमद के अलीगढ साइन्टिफिक सोसाइटी के सहयोगी और मित्र राजा जयकिशन दास ने भी हिन्दी एवं देवनागरी लिपि के पक्ष मे जोरदार पैरवी की। उन्होंने यहॉ तक कहा कि सरकारी कार्यालयो से उर्दू भाषा को समाप्त किया जाना चाहिए। बाद मे वे संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये भी प्रयत्नशील हुये।

इस तरह जब हिन्दी और देवनागरी लिपि की बात आयी तो बहुत से शिक्षित हिन्दू जो उर्दू भाषा के अच्छे जानकार थे, ने भी हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रबल समर्थन किया। 1868 से 1900 के बीच इसके समर्थन मे परचे बॉटे गये। हिन्दी आन्दोलन की उत्पत्ति 1860 के बनारस आन्दोलन से मानी जा सकती है, जिसे बाद में 1868 में एक कोर्ट मेमोरंडम में बाबू शिवप्रसाद ने यह तर्क दिया कि उर्दू और फारसी के प्रयोग से पश्चिम प्रान्त एवं अवध मे हिन्दी के विकास और प्रारम्भिक शिक्षा का ह्रास हो रहा है। इस पर्चे मे हिन्दी का प्रयोग देवनागरी के पर्याय के रूप में हुआ था। अन्त मे शिवप्रसाद ने यह अपील की थी कि फारसी शब्दों को कोर्ट से निकालकर हिन्दी का प्रयोग हो।[18] 1873 मे इसी प्रकार का ज्ञापन उत्तर पश्चिम प्रान्त के लेफ्टीनेट गवर्नर सर विलियम म्योर को दिया गया। इसमें तर्क दिया गया था कि फारसी इस देश के लिये विदेशी भाषा है और इसे सामान्य जन नहीं पढ सकते। इसलिये हिन्दी या देवनागरी का प्रयोग हो जो जनसामान्य की भाषा है। इस ज्ञापन मे यह कहा गया कि मुसलमान जनसंख्या शायद इसे पसन्द न करे, पर यह परिवर्तन बहुसंख्यक हिन्दुओं के हित मे होगा।[19]

हिन्दी आन्दोलन को 1881 में उत्तर प्रान्तो में तब बल मिला जब देवनागरी लिपि को बिहार में सरकारी कामकाज की भाषा के रूप मे मान्यता देनी पडी।[20] 1882 मे जब विलियम हन्टर की अध्यक्षता में शिक्षा के विकास की समीक्षा के लिये आयोग गठित हुआ तथा जिसे यह भी अधिकार था कि भाषा सम्बन्धी नीति में परिवर्तन की सिफारिश कर सके। इस आयोग के सम्मुख तमाम सम्मानित लोग गवाही के लिये उपस्थित हुये, जिनमे राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सर सैयद अहमद खान प्रमुख थे देवनागरी लिपि एवं हिन्दी समर्थकों द्वारा इसके पक्ष मे एक प्रभावी अभियान चलाया गया। आयोग के समक्ष 76 स्मृति पत्र (Memorial) पत्र प्रस्तुत किये गये जिसमें सम्पूर्ण प्रान्त से 58289 लोगो ने हस्ताक्षर किये थे।[21] इन पत्रों मे पुराने पर्चों के तर्क को दुहराते हुये शिक्षा आयोग से यह अनुरोध किया गया कि यह जनसमुदाय के हित मे प्रान्त मे देवनागरी सही एवं उचित भाषा होगी।

इस आन्दोलन का केन्द्र प्रमुख रूप से बनारस था, जहॉ के महाराजा हिन्दी के प्रचार प्रसार के प्रबल समर्थक थे। जहॉ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समर्थको ने हिन्दी भाषा और इसके साहित्य को आगे बढाने का कार्य किया। हरिश्चन्द्र के 'कवि वचन सुधा' बालकृष्ण भट्ट की 'हिन्दी प्रदीप' और 'भारत जीवन' 'भारत बन्धु' आदि ने उर्दू भाषा और सरकार के प्रति आक्रमक रुख अख्तियार किया और साधारण हिन्दू जनमानस में हिन्दी भाषा के प्रति रुचि जाग्रत की। भारतेन्दु का यह मानना था कि यदि उर्दू भाषा न्यायालय की भाषा के रूप में समाप्त कर दी जाय तो मुसलमानों के लिये पेशकार, सरिस्तादार और मुहर्रिर आदि जैसी सरकारी नौकरियां प्राप्त करना आसान नहीं होगा, जिसमें कि उनका एकाधिकार है।[22] इस सन्दर्भ में भारतेन्दु का यह कथन उद्धृत करना समीचीन है— 'मैंने हमेशा शिक्षा के सन्दर्भ में रुचि ली है, मैं एक सस्कृत हिन्दी एवं उर्दू कवि हूँ।' लेकिन उन्होंने इस बिन्दु पर गवाही दी कि 'मै सैयद अहमद खान के शिक्षा आयोग के समक्ष दिये इस बयान पर दुखी हूँ जिसमें उन्होंने कहा कि उर्दू सभ्य लोगो की भाषा है जबकि हिन्दी असभ्यों की, यह बयान न केवल गलत है बल्कि हिन्दुओ के साथ अन्याय है।''[23] यद्यपि कि शिक्षा कमीशन आयोग द्वारा हिन्दी एव देवनागरी के पक्ष में निर्णय नही किया गया, जिस पर प्रताप नारायण मिश्र की टिप्पणी 'हन्टर ने जो हन्टर मारा / बस टूट गया दिल टुकडे हुआ हमारा'[24] से जनमानस की पीडा को अभिव्यक्ति मिलती है। साथ ही बनारस की एक हिन्दी साप्ताहिक कि यह चेतावनी, 'यदि सरकार हमारी बात को नही सुनती है तो हम जोरदार आवाज मे चिल्लायेगे जिससे कि उसके कानो तक हमारी बात पहुँचे।'[25] उस समय के जनमानस के भाषा के सन्दर्भ में असन्तोष को आवाज देती है।

आयोग के इस दृष्टिकोण पर हिन्दी के समर्थको ने अभियान चलाया। जिसे सयोग से हिन्दी के प्रति सहानुभूति रखने वाले नये लेफ्टीनेट गवर्नर सर एन्थनी मैकडॉनेल (1895) का समर्थन मिला। आन्दोलन को गति देने के लिये 1897 मे मदन मोहन मालवीय ने हिन्दी उर्दू विवाद के सन्दर्भ में 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन इन नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज एण्ड अवध' नामक मेमोरन्डम तैयार किया। मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व मे 17 प्रमुख नागरिको का प्रतिनिधिमडल 2 मार्च 1898 को दोपहर मे इलाहाबाद मे गवर्नर के राजकीय आवास मे मैकडॉनेल से मिला।[26] इसमें उन्होनें इस बात पर बल दिया कि प्राथमिक शिक्षा के विकास मे उर्दू के द्वारा अधिकाधिक रुकावट पैदा की गयी। उन्होने यह तर्क दिया कि उर्दू का न्यायालय मे प्रयोग फारसी से थोडा ही

अलग है। न्यायालय के अधिकारी जिनमे अधिकांश मुसलमान एवं कायस्थ थे, पर आरोप लगाया कि उन्होने अबुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से उर्दू फारसी का प्रयोग किया।[27] इसमे कहा गया कि उर्दू न सिर्फ शहरी उच्च वर्ग के शिक्षित लोगो को अलग करती है बल्कि यह निम्नवर्ग के लोगो को अधिकारिक तौर पर न्यायालय एवं सरकार में सहभागिता से वंचित करती है।[28]

इस समय हिन्दी–उर्दू विवाद में उर्दू समर्थकों द्वारा आन्दोलन हिन्दी आन्दोलन की अपेक्षा बाद में आया। 1900 मे इनके द्वारा एक पैम्फलेट 'ए डिफेन्स ऑफ द उर्दू लैंग्वेज एण्ड कैरेक्टर' प्रकाशित किया गया। इस परचे में तकनीकी रूप से फारसी लिपि की देवनागरी लिपि पर वरीयता प्रदर्शित की गयी थी। इसमें महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि लिपि के सवाल के अलावा उर्दू –हिन्दी से अलग भाषा नहीं थी बल्कि इस परचे में इसे 'अधिक विकसित हिन्दी' के रूप में बताया गया था।[29]

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यदि भाषायी या बातचीत में अन्तर ही करना हो तो लिपि को महत्व देना चाहिये न कि हिन्दू–मुसलमान साक्षर या निरक्षर में इस विवाद में उर्दू को शहरी भाषा माना गया जबकि हिन्दी को ग्रामीण या निरक्षरो की भाषा। जहाँ तक नागरी के प्रयोग का प्रश्न था तो यह कुछ उच्च साक्षर लोगों द्वारा ही प्रयुक्त होती थी जिनके हित इसके सरकारी भाषा के रूप मे प्रयुक्त होने पर सधते थे। इसीलिये हिन्दी आन्दोलन पर यह आरोप लगा कि यह थोडे से उच्च वर्ग के विकास के लिये है। उर्दू पर यह आरोप लगा कि यह भी एक परिष्कृत सभ्य उच्च वर्ग की भाषा है। अत· भारत सरकार की नीतियॉ जन समुदाय के रुचि व झुकाव के अनुसार होनी चाहिये। नागरी के प्रयोग के विरोध में उर्दू के पक्ष में यह तर्क था कि हिन्दू जिसमे सभी वर्ग आते है, बहुसंख्यक हैं, परन्तु उन्हे उतना ही राजनैतिक एव सामाजिक महत्व न दिया जाय जितना कि मुसलमानो को। इसीलिये हिन्दू मुसलमानो को न केवल उनकी सख्या के हिसाब से गिना जाय बल्कि विशेषता के आधार पर महत्व दिया जाय।

परिणामस्वरूप हिन्दी देवनागरी लिपि और उर्दू फारसी लिपि के विवाद के पीछे एक तकनीकी विवाद यह था कि जनमानस के लिए कौन सी भाषा उपयुक्त है। साक्षर हिन्दू देवनागरी को प्रशासनिक भाषा बनाना चाहते थे ताकि व्यावसायिक एव सांस्कृतिक प्रभुता स्थापित कर सके। साक्षर मुसलमान उर्दू को प्रभावी बनाना चाहते थे जिससे कि वे संस्कृति के साथ ही अपने व्यवसायिक हितो की पूर्ति कर सकें। भाषायी आधार पर हिन्दी जो देवनागरी

लिपि मे लिखी जाती थी भाषा के संस्कृतीकरण का माध्यम बनी तथा यही स्थिति फारसी मे लिखी जाने वाली उर्दू की थी। इस प्रकार सास्कृतिक तौर पर हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा बनी। इस विवाद के परिणाम के रूप मे दासगुप्ता एव गुम्फ्रेज की टिप्पणी महत्वपूर्ण है – "दोनों समूहों (पाश्चात्य प्रभावित मुस्लिम कुलीन एवं प्रतिद्वन्दी हिन्दू विद्वान) ने भाषा को समुदाय से सम्बद्ध कर इसे इतिहास और संस्कृति से जोड़कर महिमामंडित किया जिससे हिन्दू–मुस्लिम विवाद बढ़ा तथा इससे सामाजिक एंव राजनैतिक गतिशीलता में वृद्धि हुई जिससे दोनो समुदायों के बीच खाई बढ़ी।"[30]

हिन्दी–उर्दू विवाद चूँकि भाषा से जुड़ा प्रश्न था। अतः स्वाभाविक है कि तत्कालीन साहित्यकारों ने भी अपनी रचनाओं में इसे स्थान दिया। मैकडॉनेल द्वारा जब 1900 में हिन्दी के पक्ष में निर्णय दिया गया तो कवि श्रीधर पाठक ने अपनी भावनायें इस प्रकार व्यक्त की – 'हानि असंख्यन होत है नित उर्दू करतूत / श्री म्यकडानेल जानि यह कियो बात अनुभूत।'[31] किन्तु अकबर इलाहाबादी ने इसे ब्रिटिश चाल के रूप में देखा 'योरप वाले चाहे दिल में भर दे / जिसके सर पर जो चाहे तोहमत धर दें / बचते रहो इनकी तेजियो से अकबर / तुम क्या हो खुदा के तीन टुकडे कर दें।"[32] महावीर प्रसाद द्विवेदी की कायस्थो पर की गयी टिप्पणी उर्दू की शक्तिशाली स्थिति को तो बताती ही है साथ ही उसके प्रति हिन्दू मानस के विरोध को भी स्पष्ट करती है – "कायस्थ वर्ग हिन्दी का नाम सुन नाक–भौ सिकोडने लगता है . ..... यही लोग औरो की अपेक्षा प्रायः पढे–लिखे और सभ्य होते है, पर मातृभाषा हिन्दी के परम शत्रु है ...... हिन्दी का नाम तक नहीं जानते न उर्दू का सा मजा इन्हे मिल सकता है। उर्दू हट जाय तो गौरमेन्ट को अन्धा बनाकर स्वदेशी भाइयो का गला रेतने का सुभीता कैसे मिलेगा।"[33]

बाबू रत्न चन्द लिखित 'हिन्दू–उर्दू का नाटक' जो 1890 मे प्रकाशित हुआ, इसी विवाद को लक्ष्य करके लिखा गया था। जिसमें न्यायालय के एक दृश्य मे अंग्रेज जज उर्दू एव हिन्दी के वादकारियों के बीच बैठा है तथा दोनो पक्षों से समझौते का प्रस्ताव करता है। जिसपर हिन्दी के वकील प बुद्धि प्रकाश का मत है – 'हमारी मुवक्किला उर्दू बीबी से कदापि सुलह करके अपने कुल मे दाग न लगायेगी।"[34] तो दूसरी ओर सर सैयद अहमद के एक पत्र मे (1869) मे इसे 'फारसी लिपि मे लिखी उर्दू मुसलमानों की निशानी है'[35] तथा इसके साथ ही उर्दू समर्थको का यह दृष्टिकोण, 'उर्दू हमारे लिये सिर्फ जबान नही बल्कि यह हमारी तहजीब का नाम है ... उर्दू हमारे लिये हमारी तहजीब

है, हमारा मजहब है, हमारी माजी है, हमारी तारीख है ....।'[36] इसे साम्प्रदायिक रंग देता है।

हिन्दी–उर्दू विवाद मे हिन्दी साहित्यकारों का रुख काफी उग्र था। श्रीधर पाठक के अनुसार – 'जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सचेत रहेगें तो उर्दू का ताव क्या जो चौखट के भीतर पॉव रख दे।'[37] इसी प्रकार सोहन प्रसाद 'हिन्दी–उर्दू की लड़ाई' (1886) में उर्दू के प्रति काफी आक्रामक रुख रखते हैं – 'कभी न बदलों रूप रंग सादी सीधी चाल/अभी काल्ह की छोकरी करो बराबरी मोर/हमसे मत बड बात कर तोर मोर बड बीच/ गाल फारि मुँह मारि कै लैहों जिह्वा खींच।'[38] प्रताप नारायण मिश्र का स्वर यद्यपि कि सयत है, किन्तु हिन्दी के अलावा वे कुछ सुनना नहीं चाहते 'चहहुं जुसॉचों निज कल्यान/तो सब मिलि भारत सन्तान !/जपो निरन्तर एक जबान/हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।'[39] स्पष्ट है कि इस विवाद (हिन्दी–उर्दू) ने हिन्दू एवं मुसलमानो में विभेद की खाई को और चौड़ा किया। चूँकि इस आन्दोलन का केन्द्र पूर्वी उत्तर प्रदेश का बनारस और इलाहाबाद शहर था साथ ही राजनीतिक नेतृत्व एव बहुसंख्यक साहित्यकार भी इसी हिस्से से सम्बन्धित थे। अतः इस क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता के विकास मे इस आन्दोलन ने पृष्ठभूमि के रूप मे आधार दिया।

पूर्वी उत्तर प्रदेश मे अलगाववाद की प्रवृत्तियों के निर्माण में गोरक्षा आन्दोलन का सर्वाधिक योगदान था। इसने न केवल हिन्दुओं को लामबन्द किया, अपितु साम्प्रदायिकता की विकृत परिणति दंगों की पृष्ठभूमि भी निर्मित की। यद्यपि कि यह आन्दोलन जानवरों की संख्या को आर्थिक कारण से बरकरार रखने के लिये किया गया था। लेकिन शीघ्र ही इसने सामाजिक राजनीतिक एव धार्मिक आयाम ग्रहण कर लिया।[40] गोहत्या का प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों मे केन्द्र मे रहा। ऐसा इसलिये नहीं हुआ कि मुसलमानो को गोहत्या से कोई विशेष प्रेम था, बल्कि इसलिये हुआ कि उग्र हिन्दुओ ने इसे एक मुद्‌दा बना दिया था तथा यह कि जो धार्मिक क्रियायें पहले शान्तिपूर्ण ढग से सम्पन्न की जाती थीं उन्हें अब मुसलमानो द्वारा भव्य प्रदर्शन के साथ किया जाने लगा। इसके पीछे उनकी यह भावनाकाम करती थी कि हमे हिन्दुओ की ललकार स्वीकार है।[41]

यह आन्दोलन अर्द्धराष्ट्रवाद का जातीय रूप था जिसने समुदाय को विशेष रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया। जिसमे हिन्दुओ के रीति–रिवाज को वरीयता दी जाती थी और इस तरह से यह मुस्लिमों को प्राथमिक समुदाय से वचित करना था। इस आन्दोलन का यह भी प्रभाव हुआ कि इसने ग्रामीण एव शहरी हिन्दुओं तथा अभिजात एवं सामान्य हिन्दू सम्प्रदाय को एक स्तर पर ला दिया। इस तरह गोरक्षा आन्दोलन ने हिन्दुओं को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अखिल भारतीय स्तर पर संगठित गोरक्षिणी सभा ने इस आन्दोलन के लिये मुख्य अभिकरण का काम किया।

आर्य समाज एवं कूका आन्दोलन के प्रयास से गोरक्षा आन्दोलन उत्तरी भारत मे उद्भूत हुआ, जिसकी प्रेरणा स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखन एवं इस सन्दर्भ में की गयी, उनकी गतिविधियों से प्राप्त हुई। शीघ्र ही इस आन्दोलन ने गोरक्षिणी सभा के रूप में अपना सांगठनिक स्वरूप प्राप्त किया। 1880 के दशक में पंजाब मे और शीघ्र ही उत्तरी एवं मध्य भारत में अनेक केन्द्र स्थापित हो गये। इसमे एक निर्णायक मोड़ तब आया जब इलाहाबाद नगर पालिका मे गाय एव भैंस को मारने पर विवाद उत्पन्न हुआ। जिसमे इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह निर्देशित किया कि गाय एक धार्मिक पूजा की वस्तु (Object) नही है। परिणामस्वरूप गोरक्षा के प्रश्न को लेकर लोगो मे एक नया वाद–विवाद उत्पन्न हुआ जो पूर्वी उत्तर प्रदेश मे 1887–88 मे बडी तेजी से उभरा। इसे प्रचारित प्रसारित करने मे नगरीय हिन्दुओ, अधिकारियो जमीदारो एव साधू–सन्यासियो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन गतिविधियो से न केवल गोरक्षिणी सभा का जाल विस्तृत हुआ, बल्कि आन्दोलन पूर्वी उत्तर प्रदेश एव पश्चिमी बिहार मे तेजी के साथ फैला। मैकलेन एक अधिकारी के हवाले से इसे सम्पूर्ण भारत के लिये डरावने खतरे के रूप मे देखते हैं।[42]

पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ बलिया एवं गाजीपुर जिलो तथा बिहार के सारन एव शाहाबाद जिलों मे इस आन्दोलन को विस्तार देने में पहले के उत्तेजक विवादो को माध्यम बनाया गया। इस क्षेत्र के धार्मिक एव पशु मेलो मे फैलायी गयी अफवाहो द्वारा शीघ्र ही अप्रत्याशित रूप से यह आन्दोलन समाज मे काफी गहराई तक उग्ररूप मे फैला और इस क्षेत्र के हिन्दू एवं मुस्लिम सम्बन्धो को काफी तीव्रता से प्रभावित किया। सॉन्ड्रिया फ्रिताग के अनुसार – यह आन्दोलन अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक लोगो के हाथ मे (शहर से गॉव) चला गया, परिणामस्वरूप गोरक्षा आन्दोलन धर्म के आदर्शो एव जरूरतो की अच्छी जानकारी रखने वालों के हाथ मे चला गया।'[43] स्पष्ट है कि इसका

परिणाम नकारात्मक होना था, परिणामस्वरूप आपसी कटुता बढी तथा स्थानीय सघर्षो का परिणाम दंगों के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

इस अवधि में गोरक्षा आन्दोलन के विस्तार के साथ सामाजिक आधार भी विस्तृत हुआ तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी बिहार में गंभीर तनाव का कारण हुआ। इस क्षेत्र की मनः स्थिति के सन्दर्भ में ज्ञान पाण्डेय का विचार है कि, 'यह कहना जल्दबाजी होगी कि साम्प्रदायिकता या विश्वास की एकात्मकता' हिन्दू और मुसलमानो के साम्प्रदायिक मॉगों के सन्दर्भ में भोजपुरी क्षेत्र में पहले से तैयार थी।"[44] यहॉ तक कि इस क्षेत्र के अलग–थलग पडे मुस्लिम समुदाय का दृष्टिकोण बीसवीं सदी के आते–आते कुछ ज्यादा ही जटिल था। जैसा कि मुबारकपुर के अब्दुल माजिद (स्थानीय बुनकर) के बयान से सिद्ध होता है।[45]

अब्दुल माजिद ने 1904 के साम्प्रदायिक दंगे के सम्बन्ध में अपनी डायरी मे लिखा था– 'मुबारकपुर का दंगा एक विचित्र समस्या थी। यह क्षेत्र के बडे लोगो के कारण जटिल हुई, जबकि निम्न वर्गीय लोगों की यह समझ थी कि सरकारी पूर्वोपाय (Precaution) के कारण उनके साथ कुछ भी नही होगा। उन लोगो को यदि यह पता होता कि जल्दबाजी के कारण उनको इसमें अपनी सहभागिता देनी होगी और इसके लिये उन्हें सजा भी दी जायेगी, तो कदापि इस तरह की कार्यवाही नही करते। सुअर का सिर मस्जिद के पास के एक तालाब मे, जो सिकती जमींदारी इकाई के अन्तर्गत पड़ता था मे पाया गया था। मुसलमानों मे इसकी कडी प्रतिक्रिया हुई। वे इस बात को सोचने के लिए तैयार नही थे कि इसके लिये कौन उत्तरदायी है ? सुअर के सिर को मस्जिद के अन्दर रखने का काम मुस्तफाबाद (मुबारकपुर के पास एक टोला) के खुदाबख्श ने किया था। उसने यह शर्मनाक काम बाबू रामबली सिंह (गूजरपार) के साथ अपनी शत्रुता के कारण किया था। रामबली सिह हिन्दू बहुल गूजरपार के जमीदार थे, जोकि मुबारकपुर के उत्तर मे है। उसने मस्जिद को अपवित्र करने का निश्चय किया और उसके बाद मुबारकपुर के मुसलमानो में यह भ्रान्ति फैलाने को सोचा कि यह काम रामबली सिह ने किया था। उसके बाद वह पीछे हट जायेगा और रामबली से अपना बदला ले लेगा। लेकिन घटनायें कुछ इस तरह घटीं कि मुबारकपुर के मुसलमान उसी दिन पॉच बजे शाम से गिरफ्तार किये जाने लगे। सर्वत्र पुलिस बल तैनात कर दिया गया। वैसे लोगों के घरो पर छापे मारे गये जो घरों में छिप गये थे। इन्स्पेक्टर मोहन सिह, दरोगा दोस्त मोहम्मद खॉ और दस से बारह कांस्टेबल एवं चौकीदारों ने

पूरादीवान के मौलवी रफीउद्दीन साहब के घर की तलाशी ली। उन लोगो ने कुरान की एक प्रति को आँगन मे फेंक दिया, जिसे मोहन सिंह ने अपने पैरो से कुचला। हम लोग वहॉ पर उपस्थित थे और इस दृश्य से काफी आहत थे।[46]

इससे स्पष्ट पता चलता है कि लोगो में धार्मिक भावनाओ का कितना प्रभाव था। औद्योगिक प्रगति एव वैज्ञानिक शिक्षा ने लागों के धार्मिक विश्वास पर तनिक प्रभाव भी नही डाला था। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न हित वाले सुखी सम्पन्न जमींदार और बड़े लोग गरीब तबका या छोटे लोग तथा औपनिवेशिक राज की शक्ति में अच्छा तालमेल था। यह सब गोरक्षा आन्दोलन के प्रभाव के कारण ही हो रहा था।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे गोरक्षा अभियान के दौरान अनेक हिंसक वारदातें हुई। इनसे लोगों में स्पष्ट रूप से हिन्दू एवं मुसलमान होने का विचार और अधिक दृढ हुआ। इस आन्दोलन का दो रूप देखने को मिलता है, एक गॉव और शहर का सम्मिलित आन्दोलन जिसका रुख कम आक्रामक था तथा जिसको उच्च जातीय समर्थन प्राप्त था और दूसरा वह जिसकी प्रवृत्ति अति आक्रामक थी तथा जिसे छोटी जातियो एव कट्टर लोगों का समर्थन प्राप्त था। इस आन्दोलन की समयावधि काफी लम्बी थी और इस दौरान इसके अनेक केन्द्र बने, जिनमे अनेक सगठन सक्रिय थे। सॉन्ड्रिया फ्रिताग के अनुसार, 'आन्दोलन के प्रारम्भिक काल मे शहरी क्षेत्र में स्पष्ट रूप से जिन आदर्शों के तहत लोग एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे, वह धर्म पर आधारित था। ऐसा देखने में आया कि गोरक्षा की भावना से गॉव के लोग अधिक प्रेरित थे। उनकी मानसिकता अत्यन्त संकीर्ण थी। जिसका उपयोग दुष्ट प्रकृति के लोगों ने गोरक्षा अभियान प्रचार के दौरान स्थानीय जातियो, हिन्दू एवं मुसलमानो दोनो को समान रूप से उत्तेजित करने मे किया।[47]

मुसलमानों के त्योहार बकरीद पर 25 जून 1893 को एक विचित्र तरह का साम्प्रदायिक दंगा उत्तर प्रदेश एव अन्य भोजपुरी क्षेत्र मे भडका, जिसका चरित्र पहले के स्थानीय झगडों से काफी भिन्न था। सरकारी अभिलेख में इसे लडाई के मुख्य केन्द्र आजमगढ़ जिले पर दूसरे जिलो के लोगो ने आक्रमण किया, के रूप मे व्यक्त किया गया। पैत्तीस गैर कानूनी सभाये एव दगे जो आजमगढ मे हुये वे सभी उग्र हिन्दुओ के कार्यो का प्रतिफल था, जो कि दूरस्थ गॉवो (बलिया एव गाजीपुर जिलों) से आकर एकत्र हुये थे। जिनका मुख्य उद्देश्य मुसलमानो द्वारा की जाने वाली पारम्परिक

बलि (कुर्बानी) को रोकना था। ईद के दिन उग्र हिन्दुओ ने जिले भर में भ्रमण किया तथा यह मॉग की कि जो जानवर बलि के लिये रखे गये हैं, उनका समर्पण किया जाय। ऐसा नही करने पर यह धमकी भी दी गयी कि लोगों को शारीरिक क्षति पहुॅचायी जायेगी तथा सम्पत्ति को लूटा जायेगा। उन लोगो ने यह भी मॉग की कि वे एक समझौता करें जिसके अनुसार वे इस तरह की बलि नहीं करेगे। ईद के बीत जाने के बाद उन मुसलमानों की फसल नष्ट कर दी गयी, जिनके सन्दर्भ में यह विश्वास था कि उन्होंने कुर्बानी दी है।[48]

सबसे भयानक दंगा आजमगढ़ के मऊ क्षेत्र में हुआ, जो कि अकबर के जमाने से ही वस्त्र उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था। जिसका उल्लेख आइने अकबरी मे हुआ है।[49] उन्नीसवीं शताब्दी तक यहॉ की जनसंख्या मे मुख्यतः मुसलमान बुनकर और हिन्दुओ की विभिन्न जातियो के ऐसे लोग सम्मिलित थे जो कि सूत कातने, व्यापार एव व्यवसाय मे सलग्न थे। बहुत से हिन्दुओं को मुगलशाही सत्ता ने वहॉ पर स्थापित किया था। तब से यहॉ सूती कपड़ा उद्योग का महत्व बढता गया था तथा बाद में एक चुंगी वसूली केन्द्र स्थापित किया गया था, जो कि इस बात की ओर संकेत करता है कि उस समय व्यापारिक आवाजाही कितनी अधिक थी।

पूर्वी उत्तर प्रदेश मे 1801 के आस–पास जब ब्रिटिश शासन की स्थापना हुई, उस समय तक हिन्दुओ एवं मुसलमानो के बीच सघर्ष की सभावना बढ गयी थी, क्योकि मुसलमानो ने मऊ के धुनवार राजपूत भूस्वामियो को विस्थापित कर अपनी समृद्धि की थी। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक हिन्दू जमीदार व्यापारी एव महाजन उस क्षेत्र मे फिर से अपनी स्थिति को मजबूत कर रहे थे, जो कि मुस्लिम बहुल क्षेत्र था। इस पृष्ठभूमि मे गोहत्या के प्रश्न पर सघर्ष मऊ मे कोई नयी बात नही थी, क्योकि इस मुद्दे पर गोरक्षिणी सभा की स्थापना के पहले भी कई बार तनाव हो चुका था। लेकिन 1893 मे जो दगा हुआ, वह पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत था।

आजमगढ का मऊ शहर ही नहीं बल्कि दक्षिण–पूर्वी हिस्सा जो कि गाजीपुर और बलिया से सटा हुआ था, भी गोरक्षा आन्दोलन एव दगे की चपेट मे आ गया। इन परगना क्षेत्रो मे गोरक्षिणी प्रचार–प्रसार बलिया एवं गाजीपुर जिले मे किये जा रहे प्रयास के कारण काफी अधिक था। जिसका प्रमाण 1893 के शुरू मे ही मिलता है, जब 9 जनवरी 1893 को कोपागज (जो कि आजमगढ जिले का तीसरा बडा बुनकर केन्द्र था और मऊ से 6 मील उत्तर मे स्थित) से कुछ मील पहले कुछ ग्रामीणो ने मुसलमान कसाइयों द्वारा गाजीपुर ले जाये

जा रहे मवेशियों को बचाया। दूसरे दिन पुलिस ने इन मवेशियो को कसार गॉव से बरामद किया, लेकिन आस–पास के गॉवो से आयी दो सौ हिन्दुओ की भीड ने बलपूर्वक मवेशियों को अपने कब्जे में ले लिया तथा अपने विभिन्न सहधर्मियो के यहाँ बलिया जिले में भेज दिया।[50]

इस तरह के प्रदर्शनों में आने वाले दिनों में अत्यधिक वृद्धि तब हुई, जब गोरक्षिणी सभाओं का गठन करने का प्रयास मई 1893 से किया गया। आजमगढ और जहानागंज में इसी महीने दो बड़ी सभाओं से इसकी शुरुआत हुई। इन सभाओं में कई हजार हिन्दू सम्मिलित हुये, जिन्हें बलिया से आये गोरक्षिणी नेताओं ने सम्बोधित किया। दूसरी सभा में यह मॉग की गयी कि मुसलमान कुर्बानी छोड दे नही तो उनके विरुद्ध इस प्रथा का अन्त करने के लिए सीधी कार्यवाही की जायेगी।

जहानागंज सभा के तीन दिन बाद 22 मई को महाराजगंज के समीप सिकन्दरपुर गॉव मे कई सौ हिन्दुओ ने एक मुसलमान से एक भैस छीन ली, जिसे वह शादी के भोज के लिये ले जा रहा था। एक सप्ताह बाद भैसो को ले जा रहे कुछ कसाइयों को गॉव के हिन्दुओ ने रोका और धमकी भी दी। इसी अवधि मे वलीदपुर के मुसलमान जमीदारों के यहॉ काम करने वाले कृषक और मुहम्मदाबाद के कुछ मुसलमानो ने गोरक्षिणी गतिविधियो को लेकर मुकदमे चलाये। इनमे कुछ कपोलकल्पित थे, जैसाकि हिन्दू पुलिस इन्सपेक्टर ने रिपोर्ट दर्ज की। जहानागज सभा के बाद हिन्दुओ ने मुसलमानों को मवेशी खरीदने से रोका। इस तरह हिन्दुओ एवं मुसलमानों के बीच खाई काफी बढ गयी। इसी समय गोरक्षा सघ की कई शाखायें जिले के विभिन्न क्षेत्रो मे स्थापित की जा चुकी थी, जो कि तुरन्त ही काफी शक्तिशाली हो गयी थी, जैसे की सगडी और मुहम्मदाबाद परगना मे। इसका विस्तार बाद मे निजामाबाद एव देवगॉव परगना के कुछ हिस्सो में हुआ। देवगॉव परगना मुहम्मदाबाद एवं निजामाबाद परगने की सीमाओं से सटा हुआ था।

गोरक्षिणी सभा ने निधि एकत्र करने के लिये जो पद्धति अपनायी, उसे चुटकी के नाम से जाना जाता है। जिसमें एक चुटकी खाने को (घर के प्रत्येक सदस्य के खाने से) अलग कर दिया जाता था और बाद में पूरे गॉव से एकत्र किया जाता था। अंत में यह गोरक्षिणी सभा के अधिकारियो के पास जमा कर दिया जाता था। आजमगढ के मजिस्ट्रेट ने इस पर अपनी टिप्पणी की थी कि जहॉ कही भी चुटकी एकत्र की जाती है, वहॉ पर निश्चित तौर पर गोरक्षा संघ अवस्थित था। आन्दोलन आजमगढ के सगडी, नत्थूपुर, मुहम्मदाबाद, मऊ जैसे

क्षेत्रो में काफी प्रभावशाली था। शुरू में इसका उद्देश्य गोशालाओ का निर्माण करना था, लेकिन जब यह आन्दोलन आजमगढ जिले मे पहुँचा तो इन लोगों ने सडको पर घूमने वाले सदिग्ध मवेशियो को अपने कब्जे मे लेकर उनकी सेवा शुरू की, जिसके लिये वे शुल्क एकत्र करते थे।

इसी समय आजमगढ में गोरक्षिणी सभा द्वारा मुसलमानों से यह इकरारनामा माँगना शुरू किया गया कि वे किसी भी सूरत में भविष्य में गोहत्या नहीं करेंगे। इस तरह की माँग के साथ प्रायः धमकी भी दी जाती थी जैसे, मुस्लिम बुनकरों का बहिष्कार कर दिया जायेगा तथा मुस्लिम भूस्वामियों की सम्पत्ति लूट ली जायेगी। ऐसे दो मामले दर्ज किये गये, जिसमें मुस्लिम भूस्वामियों ने यह शिकायत की कि उन लोगों से यह कहा जाता था कि यदि वे गोरक्षिणी निधि में अपना अंशदान देंगे तो उन्हें बख्श दिया जायेगा।

इस तरह 25 जून 1893 की बकरीद के आने के पहले ही हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्ध कटुतापूर्ण हो गये थे। इसी समय 24 जून को गार्स्टिन आजमगढ जिले का पुलिस अधीक्षक और जानकी प्रसाद उप जिलाधिकारी होकर आया। उसी दिन उपजिलाधिकारी ने स्थानीय हिन्दू एव मुस्लिम नेताओं के बीच समझौता कराया, लेकिन 24 जून की रात एवं दूसरे दिन सुबह बलिया एव गाजीपुर से हिन्दुओ की उग्र भीड मऊ आ गयी जो किसी भी कुर्बानी के विरुद्ध प्रदर्शन करने को आमादा थी। दिन ढलने के पूर्व ही 700 से 1200 आदमियो की एक भीड ने चॉदपुरा के जुलाहा क्वार्टर के नजदीक मुसलमानों की एक भीड पर आक्रमण कर दिया। मौके पर उपस्थित सरकारी अधिकारियो की अपील की अवहेलना कर दी गयी। दोनो के बीच खुली लडाई पुलिस फायरिंग एवं बरसात की वजह से ही रोकी जा सकी। पुलिस फायरिंग में दो हिन्दुओ की मृत्यु हो गयी। आक्रमणकारियों का उद्देश्य शुरू से ही स्पष्ट था कि कुर्बानी के लिये ले जायी जा रही गायों को मुसलमानो से ले लिया जाय। मुसलमानों से बलपूर्वक यह इकरारनामा लिया जाय कि वे भविष्य मे कभी गायो की बलि नही चढायेंगे। हिन्दुओ ने वैसे मुसलमानो से जो कि 6 या अधिक गायों के साथ थे, ऐसे इकरारनामे पर हस्ताक्षर के लिये बाध्य किया। इस पर उपजिलाधिकारी और तहसीलदार के हस्ताक्षर बलपूर्वक ले लिये गये। कुछ हिन्दू इस पर भी सतुष्ट नही थे और जब एकत्रित भीड तितर–बितर हो रही थी, हिन्दुओं की एक भीड ने मऊ के एक मुस्लिम के घर को क्षतिग्रस्त कर दिया।[51]

1893 की बकरीद के अवसर पर हिन्दुओं के प्रदर्शन के दौरान सर्वाधिक भयंकर एव निर्मम दंगा मऊ में ही हुआ। जबकि अन्य स्थानो पर भी

हिन्दुओ द्वारा प्रदर्शन किया गया किन्तु अन्यत्र कहीं ऐसी स्थिति नहीं हुई। इस दौरान छोटे–मोटे दगे आजमगढ बलिया शाहाबाद और गया मे हुये। इसके पश्चात गोरक्षिणी सभायें प्रायः समाप्त हो गयी या भूमिगत हो गयीं और ऐसा प्रतीत होता है कि यह आन्दोलन स्थानीय लोगो के भय और पुलिस सक्रियता के चलते दबा दिया गया। किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से इसका महत्व कम नहीं हुआ और यह पुनः 1910 में पश्चिमी बिहार में उभरा 1910 के पश्चात गोरक्षिणी कार्यक्रम अहीर ग्वाला अभियान के साथ जुड़ गया।[52]

1893 के दंगे के कारण, व्यापकता एवं प्रभाव पर सुमित सरकार की टिप्पणी महत्वपूर्ण है, "1892–93 में गोरक्षिणी सभायें अधिक जुझारू बनने लगीं थी .... चूँकि उसी समय इस्लामी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ बकरीद पर गोकुशी की अनिवार्यता पर बल दे रही थी, इसलिये जून–जुलाई 1893 में बड़े स्तर पर होने वाले दगो का आधार यहाँ तैयार था। ये दगे आरंभ हुये आजमगढ के मऊ कस्बे मे जहाँ बडी संख्या मे मुसलमानो पर गाजीपुर और बलिया जिले से आयी भीड ने आक्रमण कर दिया था। बलिया में दंगे अधिक संगठित थे, जहाँ एक राजपूत जमीदार अधिक सक्रिय था । इनका सबसे अधिक विस्तार (कुल मिलाकर 22) सारन, गया, और पटना मे था जहाँ बड़े–बड़े पशु मेले लगते थे। इनका सबसे अधिक हिसक रूप बम्बई शहर मे देखा गया, जहाँ 80 लोग मारे गये, वहाँ गडबडी की शुरूआत इस बात को लेकर हुई थी कि हिन्दुओ के जुलूस मस्जिदो के आगे बाजे बजाते हुये निकले या नहीं। दंगो के दो अन्य स्थान थे जूनागढ़ और दूरस्थ रगून। ऐसे लगभग देशव्यापी दगे पहले कभी नही हुये थे। यह निश्चय ही आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये बुरा शगुन था, जो अभी गति पकड़ ही रहा था।[53]

प्रमाण यह दर्शाते है कि बलिया एव गाजीपुर के हिन्दुओ ने मऊ, कोपागज घोसी और चिरैयाकोट के मुसलमानो पर सुनियोजित आक्रमण किया, जबकि स्थानीय लोग गाँवो के दूरस्थ इलाकों मे प्रदर्शन करने मे शामिल थे। जैसा कि जीयनपुर अजमतगढ और गैरडीह मे लोग सलग्न पाये गये। मुबारकपुर मे भी संभवतः यही बात थी। सरकारी रिपोर्टों में इन दंगो के लिये अर्द्धशिक्षित, अंग्रेजी बोलने वाले, पुरोहित एवं जमींदारों को उत्तरदायी ठहराया गया। सरकारी अभिलेखों में इस दंगे के मुख्य उत्प्रेरक के रूप में चार प्रमुख व्यक्तियो प. घनश्याम नरायन मिश्र (नीमटाड), नगरा के ठाकुर जगदेव नरायन सिह (बलिया जनपद), ठाकुर सुदिष्ट नारायन सिंह (मऊ) एवं फकीर खाकी बाबा को उत्तरदायी ठहराया गया था। इस क्षेत्र मे खाकी बाबा गोरक्षिणी सभा

के जाने—माने वक्ता थे और आन्दोलन को ठोस रूप देते हुये अपने धर्म के प्रति बहुत कट्टर थे। घनश्याम नारायण मिश्र जाति से पडित तथा आजमगढ और बलिया जनपद मे बडी सम्पत्ति वाले जमींदार थे। अतः इनका प्रभाव धार्मिक एव धनी व्यक्ति दोनों रूप मे था। सगरी परगना की गोरक्षिणी सभा के अध्यक्ष थे। जगदेव नरायन सिंह बलिया गोरक्षिणी सभा के अध्यक्ष एवं एक बडे जमीदार थे। वह पूर्वी आजमगढ मे इस आन्दोलन के अति सक्रिय व्यक्ति थे। जैसा कि 1893 के दंगे के ठीक एक सप्ताह पहले आजमगढ़ के कई गॉवों के मुसलमानो की ओर से एक प्रार्थना पत्र भेजा गया था जिसमें कहा गया था कि जगदेवनरायन सिह की ओर से उन मुसलमानों को जान से मारने की धमकी दी गयी है, जो कुर्बानी करेगे।[54] इस तरह के प्रार्थना पत्र जनपद के अन्य भागो कोपागज, चिरैयाकोट, निजामाबाद से भी भेजे गये थे। जिसमें मुख्य आरोपी स्थानीय जमीदार एवं प्रभावी लोग थे।

1893 के इस दगे में एक तथ्य यह उल्लेखनीय है कि इसमें हिन्दू समाज के प्रायः सभी स्तर के लोग शामिल थे। जहॉ धनी एवं जमींदार वर्ग की सक्रियता नेतृत्व करने वाले लोगो के भीतर उत्तेजना पैदा करने की थी वही निम्न स्तर के लोग घटनाओ को अंजाम देने में सक्रिय थे। जैसाकि निजामाबाद मुहम्मदाबाद एवं सगरी क्षेत्र की गतिविधियो से पुष्ट होता है। निजामाबाद मे चौकी का सारा पैसा स्थानीय जमींदार के यहॉ जमा होता था। अत्यधिक प्रभावित क्षेत्र मुहम्मदाबाद में गतिविधियो को सक्रियता देने मे एक फकीर दो गोसाई तथा बहुत से छोटे राजपूत भूमिहार एवं ब्राह्मण सम्मिलित थे।[55] मुहम्मदाबाद के ठाकुर एव भूमिहार गोरक्षा आन्दोलन मे पहले से ही सक्रिय भूमिका निभा रहे थे।[56]

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी सामने आता है कि इस अवसर का उपयोग पुरानी दुश्मनी निकालने के लिये भी किया गया। मुबारकपुर के आस—पास के राजपूत भी इसी प्रकार सक्रिय थे। उनकी मुसलमानो से पुरानी दुश्मनी होने के कारण राजपूत काफी पहले से इस सभा मे सक्रिय योगदान दे रहे थे। इसके पीछे धार्मिक भावना भी कार्य कर रही थी। सगरी परगना के सूरजपुर के बाबू लोग जो सूरजपुर तालुके तथा गाजीपुर के सारनपुर स्टेट के मालिक थे, जाति से भूमिहार तथा बनारस के महाराजा के सम्बन्धी थे। इन लोगो के द्वारा गोरक्षा आन्दोलन को काफी बढावा मिला। 25 जून 1893 को घोसी मे हुये प्रदर्शन मे 3000 प्रदर्शनकारी सूरजपुर के निर्देश पर एकत्र हुये थे। आजमगढ के जिलाधिकारी के अनुसार इतनी बडी सख्या मे घोसी मे

हिन्दुओं का एकत्रित होना सूरजपुर के बाबुओं की मदद के बिना संभव नही था।[57] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 1893 की बकरीद के अवसर पर आजमगढ जनपद मे मुस्लिम बस्तियो पर जो आक्रमण हुये उनमे राजपूत ब्राह्मण एवं भूमिहार जाति के जमीदारो ने सक्रिय हिस्सा लिया। वे लोग अपने साथ कृषक नौकर एवं अन्य असामियो को भी ले आये।[58]

गोरक्षा आन्दोलन मे लोगों को एकत्र करने के लिए पत्रों (जिन्हें पतिया कहा जाता था) का प्रयोग किया गया। इसमें हिन्दुओं को जाग्रत एवं क्रियाशील करने में धार्मिक आह्वान को आधार बनाया जाता था। इन पतियों के सन्दर्भ में ज्ञान पाण्डेय का अध्ययन महत्वपूर्ण है।[59] इन पतियों का स्वरूप एक जैसा होता था जिसमे आह्वान के साथ सहयोग हेतु अपील की जाती थी। उनका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्रतिबद्धतापूर्ण रखा जाता था। जिससे कि इसे बार–बार आसानी से लिखा जा सके और लोगों के बीच वितरित किया जा सके। 1805–11 के बीच बनारस में हिन्दुओ को क्रियाशील करने के लिये इसी प्रकार की धर्मपत्री का प्रयोग किया गया था। इसी आधारपर 1880–90 के दशक मे पतिया को प्रचार का माध्यम बनाया गया। इसका स्वरूप इस प्रकार था, ''गऊमाता की कृपा से तथा हम लोगो के आदेशो के अनुरूप सभी हिन्दुओ को 22 दिसम्बर 1893 को होने वाली सभा मे आमन्त्रित किया जाता है। इसका उद्देश्य एक सभा स्थापित करना है। जो इसमें भाग नहीं लेगा उस पर गोवध का पाप लगेगा और जो लोग इसमे भाग लेगें भगवान उन्हे सुख समृद्धि प्रदान करेगा। सभी लोगो को इस निमंत्रण पत्र पर हस्ताक्षर करना है।''

इसी प्रकार बलिया की सदर सभा से 'पतिया' प्रचारित की गयी जो इस प्रकार थी –

(1) गगा महारानी तथा गऊमाता और भृगुजी बालेश्वर जी के आदेशानुसार यह गोरक्षिणी सभा स्थापित की गयी है।

(2) मुस्लिम सन्त गुलाम हैदर शाह एवं लाकरशाह के आदेशानुसार जिले के सभी मुसलमानों को इस सभा मे उपस्थित होने का निर्देश दिया गया था। जिसका मुसलमानों द्वारा पालन भी किया गया।

(3) पूरे हिन्दुस्तान और बगाल में ऐसी 182 सभायें स्थापित हो चुकी है। राजाओ एव जमीदारो ने अपने क्षेत्रों मे गऊ हत्या प्रतिबन्धित कर दिया है। इन्ही सभाओं के निर्देशानुसार हमने बलिया मे सदर सभा

शुरू कर दी है। हम ऐसा सोचते है कि यह करना हमारा धार्मिक कर्तव्य है।

(4) अपने रियासत एवं गॉव मे आप लोग और लोगों की रक्षा करे तथा यह शपथ दिलायें कि किसी अजनबी को अपने जानवर न बेचे।

(5) कुछ लोग अपने जानवरो को खुला छोड देते हैं, जो एक गॉव से दूसरे गॉव में घूमते रहते है। परिणाम यह होता है कि लोग उसे अपने कब्जे में कर लेते है तथा महीने भर बाद कसाई के हाथ बेंच देते हैं। कोई भी हिन्दू जो इस तरह के कार्यों को करता है उसे कसाई से उत्पन्न समझा जायेगा तथा धर्म से बहिष्कृत कर दिया जायेगा।

(6) इस प्रकार लाखों गायों की हत्या हो रही है। अगर हिन्दुओ के गॉव मे गोहत्या होती है तो उसे फूॅक देना चाहये। ऐसे गॉव कभी सुख शान्ति से नही रह सकेगें। बछडो का नपुंसकीकरण रोका जाना चाहिये। जो भी ऐसा करता है उसे कसाई से उत्पन्न समझना चाहिये तथा जाति से बहिष्कृत कर देना चाहिये।

इनका उद्देश्य लोगों के बीच सक्रियता पैदा करना था इन विभिन्न पत्रो के माध्यम से हिन्दू राजा एवं जमीदारों तथा हिन्दू समाज के अधिक से अधिक लोगो को सगठित करने का आह्वान किया गया। इन पत्रो के अन्त मे उन परिणामो की घोषणा भी की जाती थी जो इसके निर्देशों के न मानने पर घटित होता। इनमें बार–बार हिन्दुओ के मस्तिष्क मे हिन्दुत्व की श्रेष्ठता एवं हिन्दू होने के गौरव को उजागर किया गया। गोरक्षिणी सभायें धर्म पर अधिकाधिक आधारित थी और शहर की अपेक्षा ग्रामीण हिन्दुओ की धार्मिक भावनाओ को उद्वेलित करने मे अधिक सफल रहीं। गाय की रक्षा तथा सेवा करने का आह्वान धार्मिक आदर्शो से अधिक प्रेरित था।[60]

गोरक्षा आन्दोलन का समर्थन उस समय के साहित्य में भी मिलता है प्रताप नारायण मिश्र द्वारा प्रकाशित पत्रिका ब्राह्मण में इस बात का प्रबल समर्थन किया गया था कि गोरक्षा हिन्दुओं का सर्वोच्च धर्म है और यह कि हिन्दुस्तान की आर्थिक सम्पन्नता का यह प्रबल स्रोत है। गोरक्षा के बिना हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू सम्पन्न नही हो सकते हैं। आगे तर्क देते हुये उन्होने लिखा कि गाय हिन्दुओं के लिये मॉ के समान है क्योंकि हिन्दू उसे गो ब्राह्मण के रूप मे देखते हैं और ब्राह्मणो के समक्ष झुकने से पहले उसके समक्ष श्रद्धापूर्वक झुकते हैं।[61]

गोरक्षिणी आन्दोलन एव दंगे के बाद की स्थिति काफी भयपूर्ण थी। तात्कालिक धन—जन की हानि काफी अधिक हुई। सरकारी बयानों मे 26 जून 1893 को मऊ मे दर्जनो लोगो के मारे जाने की बात कही गयी किन्तु इसे हिन्दू एव मुसलमान दोनो मे से कोई स्वीकार नही करता क्योकि डार ने लिखा है कि इसमें कोई संदेह नही कि 250 हिन्दू एवं मुसलमान मारे गये।[62]

दंगों में शामिल मुसलमानों में प्रमुख रूप से निम्न वर्गीय जुलाहों की अधिकता थी। प्रायः यह क्षेत्र मध्यकालीन समय से ही कपड़ा बुनाई का केन्द्र था। अतः अधिकतर आबादी जुलाहों की ही थी और सरकारी अभिलेखों के अनुसार ये धर्म के प्रति अत्यधिक कट्टर होते थे, 1909 में संकलित आजमगढ गजट इसी ओर संकेत करता है। जिले के जुलाहे प्रमुख रूप से मुबारकपुर और कोपागंज के गॉवो में केन्द्रित थे। गजट के अनुसार ये अशान्त प्रवृत्ति के लोग ही समय—समय पर हो रहे हिन्दू—मुस्लिम विवाद एवं जिले की शान्ति व्यवस्था भंग करने के लिये जिम्मेदार थे।[63] बलिया गजट जिसका सकलन कुछ वर्ष पहले हुआ था, जुलाहों की इसी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है— गाजीपुर ओर आजमगढ के अपने रिश्तेदारों की तरह जुलाहे (बलिया के) अशान्त और स्वेच्छाचारी थे। इन्हें ही समय—समय परहोने वाली शांति भंग का श्रेय जाता है।[64] इसी प्रकार गाजीपुर गजट के अनुसार जुलाहे सभी मुसलमानो में अधिक कट्टर एव अशान्त एवं उच्छृंखल हैं। जैसा कि 1893 के हिन्दू—मुस्लिम विवाद एव अन्य अवसरों पर देखा गया।[65]

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट होता है कि जहॉ गोरक्षिणी सभाओं ने सामान्य हिन्दुओ के भीतर धार्मिक सक्रियता पैदा की तथा इस बात के लिये प्रेरित किया कि धर्म के नाम पर संगठित हो धर्म के प्रतीक रूप गायो की रक्षा करे, वही दूसरी ओर अपने धार्मिक रीतियो को बनाये रखने के लिये मुस्लिम भी दृढ थे जिसमें बहुसंख्यक जुलाहो की कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति ने प्रमुख भूमिका निभाई, एवं इस क्षेत्र की स्थिति को साम्प्रदायिक बनाया। यद्यपि 1893 के बाद गोरक्षिणी सभाओ की गतिविधियॉं समाप्त हो गयी थी किन्तु गोरक्षा का विचार दबा नही था जैसा कि बाद में 1911—12 मे अयोध्या एव 1917 मे पश्चिमी बिहार मे इसकी हिसात्मक परिणति हुई।

उन्नीसवी शताब्दी के आखिरी दो दशक एव बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हिन्दुओ एव मुसलमानो के बीच अलगाव काफी स्पष्ट हो गया था। हिन्दुओ के गोरक्षा आन्दोलन एव हिन्दी–उर्दू विवाद तथा मुसलमानो के पुनरुत्थान आन्दोलन ने दोनों की सामुदायिक चेतना जाग्रत की। तात्कालिक परिदृश्य से यह परिलक्षित होता है कि राजनीतिक अलगाव एवं वैमनस्यता की परिस्थितियो ने दोनों समुदायो के बीच अविश्वास की भावना पैदा की जिसका उपयोग उनका राजनैतिक नेतृत्व करने वाले लोगों ने किया और जिससे साम्प्रदायिक स्थिति असहयोग आन्दोलन के बाद और जटिल होती गयी।

उत्तर प्रदेश की स्थितियो पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि असहयोग आन्दोलन के दौरान ब्रिटिश सत्ता ने अलगाववादी सगठनों की गतिविधियो को बढावा दिया जिससे सामुदायिक वैमनस्य की भावना सामान्य हो गयी तथा आपसी भय एव घृणा की भावना काफी तीव्रता से फैली। खिलाफत की स्थापना जो कि असहयोग आन्दोलन का एक अग थी ने हिन्दू प्रतिक्रिया के रूप मे एक विरोधी सगठन को जन्म दिया और शुद्धि तथा सरक्षा को बढवा दिया। 1923 मे स्वामी श्रद्धानन्द ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके मलकाना राजपूतो, गूजरों तथा बनियो को पुनः हिन्दू बनाने के लिये आन्दोलन चलाया। इसी साल हिन्दू महासभा ने आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन को अपनाया और उसे रिक्लमेशन ऑफ अनटचेबल कहा।[66] इन गतिविधियो से साम्प्रदायिक तनाव बढ़ाया गया और जिसके परिणाम के रूप मे 1920 के हिन्दू–मुस्लिम दंगे घटित हुये।

इन गतिविधियो का प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलों पर भी पडा। काग्रेस के क्रियाकलापो ने भी बहुत हद तक इन परिस्थितियो को निर्मित करने मे भी भूमिका निभायी। मदन मोहन मालवीय और अन्य कई प्रमुख राष्ट्रीय नेता हिन्दू महासभा के शुद्धि अभियान मे बहुत पहले से ही भाग ले रहे थे। स्वय मालवीय जी ने महासभा के उस सत्र की अध्यक्षता की थी जिसमे शुद्धि कार्यक्रम स्वीकार किया गया था। यहॉ ध्यातव्य यह है कि 1920 के चुनावी अभियान मे काग्रेस के धर्मनिरपेक्ष घटक भी तात्कालिक चुनावी लाभ के लिये धार्मिक भावनाओ को बढाने मे पीछे नहीं रहे। यह प्रवृत्ति 1925–26 के केन्द्रीय एव प्रान्तीय विधान मडलो के चुनावो में भी देखने को मिलती है।[67]

इन चुनावो मे हिन्दू साम्प्रदायिक भावनाओ का उपयोग मालवीय द्वारा किया गया। इलाहाबाद में मस्जिद के सामने एक धार्मिक जुलूस निकाला गया। जिसने न केवल 1923–26 के दौरान केन्द्रीय विवाद का रूप लिया

अपितु 1924 में इसी प्रश्न पर दशहरा के पहले रामलीला समारोह के दौरान हिन्दू–मुस्लिम दंगे को जन्म दिया।[68] बाद में जिला प्रशासन ने इसमें हस्तक्षेप किया किन्तु कुछ हिन्दू नेताओं द्वारा यह अस्वीकार कर दिया गया कि रामलीला समारोह सूर्यास्त से पहले सम्पन्न किया जाय, जबकि मुसलमानों ने यह बात स्वीकार कर ली कि यदि कार्यक्रम शान्तिपूर्ण ढग से किया जाय तो 17 में से 15 मस्जिदें बन्द कर दी जायेंगी। बाद में यह प्रस्ताव भी अस्वीकृत हो गया। अंततः इसे जिला प्रशासन द्वारा ही रोका जा सका। हिन्दू नेताओं ने यद्यपि अपने उत्सवो को बन्द कर दिया किन्तु दंगों को रोका नहीं जा सका। परिणामस्वरूप हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों में तनाव और बढ़ा।

हिन्दुओं के इस कठोर रुख के पीछे मालवीय समूह का हाथ था। दिल्ली में आयोजित 1924 की एकता कान्फ्रेन्स में मस्जिदो के सामने संगीत के मुद्दे पर हुई सहमति को मालवीय के समर्थकों द्वारा संचालित इलाहाबाद हिन्दू सभा द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया।[69] 1924 के इलाहाबाद दंगों मे जब शहर की सामान्य स्थिति बहाल करने के उद्देश्य से पुरुषोत्तम दास टडन एवं जहूर अहमद द्वारा प्रयास किया गया तो उनके इस प्रयास का स्वागत किया गया किन्तु उन मुहल्लों मे जहॉ मालवीय के समर्थक थे जहूर अहमद को अपमानित किया गया। जिला मजिस्ट्रेट के पत्र से यह भी पता चलता है कि दंगो के बाद की बैठको मे मालवीय का रवैया बहुत हद तक असहयोग पूर्ण था। 1925 के स्थानीय चुनावो में इस समस्या में राजनैतिक दृष्टिकोण दिखायी देता है जैसा कि इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा यह लिखा गया कि, "यह पूरा आन्दोलन पूर्णतया राजनैतिक था क्योकि इसका चुनाव पर प्रभाव स्पष्ट था।"[70]

हिन्दुओं का यह कठोर रुख 1926 के बाद भी बना रहा। सितम्बर के अन्त तक इलाहाबाद प्रशासन हिन्दू एवं मुस्लिम नेताओ को एक साथ लाने मे असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप प्रशासन द्वारा इन समारोहो को प्रतिबन्धित कर दिया गया। बाद मे मालवीय ने दस हजार हिन्दुओ की उस सभा को सबोधित किया जो इस प्रतिबन्ध के विरोध में हुई थी। 1926 मे मालवीय समूह द्वारा प्रान्तीय स्तर पर साम्प्रदायिक हिन्दू अभियान को सांगठनिक रूप दिया गया। अप्रैल 1926 मे हिन्दू सभा की एक बैठक मे मालवीय ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया, जिसमे कहा गया था कि संगठन उन प्रत्याशियों का समर्थन करेगा, जो हिन्दू हितो की रक्षा करेगे। उन्होंने कहा कि हिन्दुओ ने बहुत समय से मुसलमान हितो की रक्षा की है किन्तु अब समय आ गया है कि हिन्दू अपने हितो की बात करें।[71] अगस्त में मालवीय और उनके समूह ने हिन्दू सभा के

प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमे चुनाव बोर्ड के गठन की बात कही गयी थी। जिसमे कहा गया था कि अन्य संगठनों के उन प्रत्याशियो का समर्थन किया जायेगा, जो हिन्दू सभा के परिपत्रो पर हस्ताक्षर करेगे।[72] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि मालवीय समूह द्वारा हिन्दू सभा का प्रयोग खुले तौर पर हो रहा था। अगस्त में मालवीय के भतीजे कृष्णकान्त मालवीय ने एक चुनावी सभा में यह सूचना जारी कि प्रत्याशियों को अपना नाम एवं राजनैतिक विचार हिन्दू सभा के समर्थन में देना होगा।

एक तरफ जहॉ हिन्दू सभा द्वारा साम्प्रदायिक दृष्टि से कार्य किया जा रहा था वहीं अन्य दलों की गतिविधियाँ इसे नियंत्रित करने की रहीं यद्यपि कि वे पूरी तरह सफल नहीं रही तथा कुछ का समर्थन भी हिन्दू सभा को था। जनपदीय चुनावो में स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी ने यह दिखाने का प्रयास किया कि वह हिन्दू सभा से जुडी है। अक्टूबर 1926 को लाजपत राय इलाहाबाद कांग्रेस के प्रमुख नेता गौरीशकर मिश्र तथा राघवदास स्वतत्र कांग्रेस पार्टी के समर्थन मे आजमगढ पहुॅचे। उन्होने पूरे शहर मे म्यूनिस्पल बोर्ड, हिन्दू सभा तथा आर्य समाज को संबोधित किया। वहॉ शाम को एक सार्वजनिक सभा मे स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी के प्रान्तीय विधान मंडल के बनारस एवं गोरखपुर मडल के प्रत्याशी जी.डी. बिडला जिन्हे हिन्दू बहुत पसंद करते थे, के लिये वोट मॉगा।[73] इस सभा मे भारी संख्या मे हिन्दू उपस्थित थे। यहाँ ध्यातत्व यह है कि स्वराज पार्टी का नेतृत्व वर्ग हिन्दू सम्प्रदायवादियों के दबाव मे आ गया। यद्यपि कि उन्होने धर्म निरपेक्ष नीति का समर्थन यह कहते हुये किया कि यह दोनो सम्प्रदायों के हित मे है।

स्वराज पार्टी ने हिन्दू सभा की चुनाव मे भागीदारी का विरोध किया। जैसा कि स्वराजपार्टी के बनारस के प्रत्याशी सम्पूर्णानन्द के दृष्टिकोण से पता चलता है यद्यपि कि वे हिन्दू सभा से भी जुड़े हुये थे। उन्होने कहा, "हिन्दुओ का सामाजिक एवं धार्मिक मामलों में विशेष योगदान है। अत उनके राजनीति मे आने का कोई कारण नही है क्योकि कांग्रेस हिन्दू एव मुसलमानों दोनो के हितों की रक्षा कर सकती है।[74] इसी समय कई स्वराजियो ने अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिये अपने आपको हिन्दू सभा से अलग कर लिया। जैसा कि जून 1926 के अन्त मे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सचिव ज्योतिशंकर दीक्षित, जो कि उत्तर प्रदेश हिन्दू सभा के सचिव भी थे ने हिन्दू सभा का अपना पद त्याग करके किया।

इसके बावजूद साम्प्रदायिक तनाव बढता रहा। जून में कांग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेसी एवं गैर कांग्रेसी सभी हिन्दू–मुस्लिम विधायक यदि इस बात का समर्थन करे तो वह पृथक निर्वाचन मंडल का विरोध करेगी। किन्तु ज्योतिशंकर दीक्षित गौरीशंकर मिश्र एवं प्रान्तीय कांग्रेसी कमेटी के चार अन्य सचिवो ने सदन में ही स्वतत्र कांग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली तथा कुछ अन्य कांग्रेसी नेताओ ने अपने को स्वराजियो के उस कार्यक्रम में शामिल कर लिया जिसमें हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात कही गयी थी।[75] यहाँ एक तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि स्वराजी हिन्दू सभा में मतभेद पैदा करने की कोशिश कर रहे थे जिसके लिये ऐसे स्वराजियों का उपयोग किया गया जो हिन्दू सभा से भी जुड़े हुये थे। इस योजना का उद्देश्य यह था कि हिन्दू सभा के प्रान्तीय वार्षिक सम्मेलन में यह प्रस्ताव लाया जाय कि 20 हिन्दू स्थानीय स्तर पर कान्फ्रेन्स के लिये अपने प्रतिनिधि चुन सके। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि हिन्दू सभा की गतिविधियो को नियंत्रित किया जा सके। इस कार्य के लिये सम्पूर्णानन्द एवं अनादि प्रसाद दुबे जैसे स्वराजी नेताओं को जिम्मेदारी सौपी गयी जो हिन्दू सभा से बहुत नजदीकी तौर पर जुडे थे। लेकिन स्वराजियो की इस कार्यवाही का भेद खुल गया और मालवीय समूह ने हिन्दू सभा को अपने नियंत्रण मे कर लिया और कान्फ्रेस को अपने समर्थको से भर दिया। स्वराजपार्टी के सचिव ने इस बेईमानी के लिये पुराने कार्यकर्ताओं को दोषी ठहराया।[76] इसके बाद मालवीय समर्थको द्वारा एक ऐसा चुनावी बोर्ड बनाया गया जो हिन्दू हितों की रक्षा कर सके।

आने वाले दिनो मे हिन्दू अधिक जागरूक हुये। इसी बीच स्वामी सत्यदेव द्वारा एक आकस्मिक बैठक बुलाई गयी जिसमें बनारस के सन्यासियो द्वारा मालवीय की पार्टी की आलोचना की गयी, जिसका उपयोग मोतीलाल नेहरू द्वारा किया गया। उन्होने 1926 मे प्रतापगढ़ की एक चुनावी सभा मे स्वराजी नीतियों का खुलासा किया। यहॉ उनका रुख हिन्दू समर्थक का था। इलाहाबाद रामलीला प्रकरण के सवाल पर जब सभा में उनसे प्रश्न पूछा गया तो उनका स्पष्टीकरण था कि उन्हें उस समय बहुत बुखार था, इसलिये वे इसमे सम्मिलित नही हो सके। लेकिन उन्होने 5000 स्वयसेवको को रामलीला कमेटी के कार्यक्रम में सहयोग करने के लिये भेजा था। यहॉ मालवीय के प्रति उनका रुख आलोचनात्मक था, "जबकि मालवीय ने मजिस्ट्रेट गवर्नर एव गर्वनर जनरल को मात्र एक प्रार्थना पत्र दिया ताकि रामलीला कार्यक्रम हो

सके और हिन्दुओं के अधिकार की रक्षा की जा सके। मै आपसे पूछता हूँ कि किसके हाथ में यह अधिकार अधिक सुरक्षित है जो आपकी सभी विपदाओ में आपके साथ है या उनके जो कि लम्बी याचिकाये देते हैं।[77] स्वाभाविक था ऐसी स्थिति मे वे उत्साहित हिन्दुओ की प्रशसा के हकदार बने।

यहॉ उल्लेखनीय है कि कांग्रेस की स्थिति काफी दुविधाग्रस्त थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान उन्होंने सभी संगठनों से समर्थन मॉगा। इस तरह का समर्थन हिन्दू सभा द्वारा भी दिया गया और इस समर्थन से कांग्रेस का विकास भी हुआ। यद्यपि कि आन्दोलन के लिये ऐसा समर्थन लाभकारी अवश्य हुआ किन्तु इसकी एक कमजोरी यह रही कि दोनों समुदायों के बीच तनाव एवं विरोध में वृद्धि हुई। स्थानीय स्तर पर काग्रेस एव हिन्दुओं के सम्बन्ध परिस्थिति आधारित थे। गोरखपुर के बॉसगॉव तहसील के भिनसा बाजार का अनुभव इसकी पुष्टि करता है। नवम्बर 1929 मे तहसील कांग्रेस कमेटी के सचिव गणेश प्रसाद पाण्डेय द्वारा लिखा गया कि गाँव मे सगठन का कार्य अच्छा चल रहा है। गॉव मे एक ऐसे सगठन की स्थापना भी हुई है, जो लडकियो के लिये स्कूल भी चलाता है। साथ ही एक प्रकाशन विभाग एवं सगीत समिति भी है। हिन्दू सभा एव कांग्रेस गॉव में कुछ समय से है तथा एक साथ काम कर रहे है। आगामी कार्यक्रमों मे गॉव मे एक खादी भंडार खोलने की योजना है ताकि खादी कार्यक्रम को बढाया जाय एवं ग्राम सेवक पत्रिका की शुरुआत की जाय।[78] इससे स्पष्ट होता है कि कांग्रेस एव हिन्दू सभा आम आदमी के हित के स्तर पर मिलकर काम कर रही थीं।

यद्यपि कि कांग्रेस अपना धर्म निरपेक्ष चरित्र बनाये हुये थी, किन्तु समय—समय पर इसे धर्म आधारित सगठनों का सहयोग मिलता रहा। 1930 के इलाहाबाद कुंभ मेले का प्रयोग सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम के लिये किया गया, जहॉ कई सभाये हुई तथा जिसमें तमाम साधु—सन्यासियो ने भी हिस्सा लिया। इसमे प्रमुख रूप से गोरखपुर के कांग्रेस नेता बाबा राघवदास भी थे। उन्होंने ब्रिटिश शासन की तुलना औरगजेबी शासन से करते हुये देश की गुलामी से मुक्ति करने का आह्वान किया। इसके साथ ही रोजाना वध की जाने वाली पचहत्तर हजार गायों को मुक्त करने की मॉग की[79] इसी प्रकार 1929—30 में आर्य समाज एवं हिन्दू सभा द्वारा जारी किया गया वक्तव्य सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा काग्रेस के समर्थन मे था। कई बार काग्रेस द्वारा भी स्वय पहल करके हिन्दू संगठनों से सहायता मॉगी गयी। जब 1928—29 में काग्रेस पदाधिकारियो द्वारा राष्ट्रीय स्वयंसेवको को सुदृढ करने

की बात कही गयी, तो आगरा की प्रादेशिक हिन्दू सभा ने इसकी हिमायत की। सभा ने कई शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया और 6 स्वयंसेवको को हनुमान व्यायाम प्रचारक मंडल अमरावती मे प्रशिक्षण के लिये भेजा। हिन्दू महासभा द्वारा आगरा प्रादेशिक हिन्दू सभा के प्रशिक्षण कार्यक्रम में सहायता देने के लिये हरिहर राव देशपाण्डे को नियुक्त किया गया। जनवरी 1929 में गोरखपुर में एक शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया। देशपाण्डे ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई जिलो गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, आदि में इस कार्यक्रम को फैलाया। बाद में इन प्रशिक्षण शिविरों में लाठी, चाकू, गड़ासें चलाने का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा। राजा कालाकांकर (प्रतापगढ) ने ऐसे प्रशिक्षण केन्द्रों को मदद दी जो जालौन, गाजीपुर, काशी विद्यापीठ बनारस एवं कुम्भ मेला इलाहाबाद मे चल रहे थे।[80] इन कार्यक्रमों के पीछे इलाहाबाद के नर्मदा प्रसाद सिंह का हाथ था, जो हिन्दूसभा के आगरा प्रदेश शाखा के सचिव के साथ ही प्रमुख काग्रेसी नेता थे।

अगस्त 1929 मे हिन्दू सभा के प्रशिक्षण केन्द्रों के साथ कांग्रेस के सहयोग के प्रमाण उपलब्ध है। यह बात तब स्पष्ट होती है जब प्रदेशीय काग्रेस कमेटी के महासचिव श्री प्रकाश, बनारस मे कांग्रेस के प्रमुख नेता नरेन्द्र देव, उत्तर प्रदेश काग्रेस प्रमुख नेता बीरबल सिंह ने लाजपत प्रशिक्षण केन्द्र गाजीपुर का दौरा किया तथा केन्द्र के प्रशिक्षण कार्यक्रम से प्रभावित होकर न केवल इसका स्वागत किया अपितु एक वक्तव्य मे यह भी कहा कि यदि अन्य जिला समितिया चाहे तो ऐसा केन्द्र स्थापित कर सकती हैं।[81] स्पष्ट है कि इस तरह का कदम सकारात्मक नही कहा जा सकता, यद्यपि कि इस वक्तव्य के समय दो मुसलमान भी उपस्थित थे किन्तु बडे पैमाने पर ऐसी कोई सूचना मुसलमानो को नही दी गयी। अत. स्वाभाविक था कि ऐसे कार्यक्रम को मुसलमानो द्वारा अविश्वास की दृष्टि से देखा गया।

काग्रेस के इस कदम से ब्रिटिश प्रशासन को यह अवसर उपलब्ध हो गया कि वह मुसलमानो का समर्थन कर उन्हें उत्तर प्रदेश काग्रेस से अलग कर सके। अतः आने वाले दिनों में प्रादेशिक सरकार द्वारा मुस्लिम पोषण बढ गया। इसके लिये बुलन्दशहर के जमीदार एवं छत्तरी के नवाब को माध्यम बनाया गया। 1928 में सरकार के गृह विभाग द्वारा प्रान्तीय गवर्नर को यह प्रयास करने के लिये कहा गया कि खिलाफत आन्दोलन के प्रमुख नेता रहे मुहम्मद अली को सविनय अवज्ञा के विरुद्ध तब तक बोलने के लिये सहमत करें जब तक कि गोलमेज परिषद का परिणाम न आ जाय। यह भी प्रयास किया गया

कि उलेमा सविनय अवज्ञा के विरोधी रहें। इस समय जब कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को सफलता मिल रही थी, प्रशासन की लगातार कोशिश थी कि मुसलमानों को अपने पक्ष में करे। इसका अवसर उसे शारदा एक्ट के मुद्दे पर मिला जिसमें एक्ट के परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया गया और मुसलमानों को बता दिया गया कि उनके लिये नियम हिन्दुओं की भाँति नहीं है।[82] सरकार का विचार था कि सभी कानूनी प्रयत्न किये जाने चाहिये, जिससे कि मुसलमान सविनय अवज्ञा को समर्थन न दें। प्रादेशिक सरकार ने कांग्रेस के विरोध में मुस्लिम जन समुदाय को संगठित करने वाले शौकत अली एवं अन्य पारम्परिक मुसलमानों के संगठन उ.प्र. तंजीम कमेटी को वित्तीय मदद भी दी।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन में मुसलमानों की भागीदारी बहुत कम थी। जिसके लिये ब्रिटिश प्रशासन भी प्रयासरत था। ऐसा स्थानीय स्तर पर भी हो रहा था जैसा कि 1930 में इलाहाबाद के मंडलायुक्त ने कहा कि इस प्रकार के कई कार्य शान्तिपूर्ण ढंग से पहले ही किये जा चुके हैं।[83] कानपुर के एक पत्रकार ने भी अपना अनुभव बताया कि कांग्रेस के विरोध में भाषण देने एवं कार्य करने के लिये कानपुर के कलेक्टर द्वारा उसे नौकरी की पेशकश की गयी तथा एक हिन्दू अधिकारी द्वारा 150 रुपये प्रतिमाह तथा साथ में यात्रा भत्तादेने की बात कही गयी।[84]

यद्यपि कि राजनैतिक नेतृत्व वर्ग प्रायः सम्भ्रान्त एवं शहरी वर्ग से सम्बन्धित था, किन्तु इनके क्रियाकलाप हिन्दू एवं मुसलमान दोनों समुदायों को प्रभावित करते थे। अलग पहचान एवं निजी स्वार्थों के कारण होने वाले दंगों से भय एवं घृणा की भावना में और अधिक वृद्धि होती थी। जैसा कि 1931 के कानपुर के दंगों से इसकी पुष्टि होती है। गाँधी–इरविन वार्ता के बाद यद्यपि कि दंगे कुछ समय के लिये रुक गये थे, किन्तु मुसलमान इस बात से परेशान थे कि उन्हें पुलिस तथा अन्य कांग्रेसी जनों से धमकी मिल रही थी। परिणामस्वरूप शहर में तनाव और बढ़ा तथा बाद के आन्दोलन में मुस्लिम भागीदारी और कम हो गयी।

इससे कई अन्य स्थानों पर भी असन्तोष में वृद्धि हुई। बनारस में 11 फरवरी 1931 में साम्प्रदायिक दंगे हुये। इस सन्दर्भ में जिलाधिकारी ने लिखा कि भारतीय कांग्रेस कमेटी के सभी सदस्यों को छोड़ना कांग्रेस की जीत के रूप में मनाया गया।[85] बनारस की कई मुसलमानों की दुकानों में लोगों को जाने से रोका गया। 10 फरवरी को कई ग्राहकों को मारा पीटा गया। बनारस के प्रमुख कपड़ा व्यापारी आगा मोहम्मद जान की दुकान पर धरना दिया गया।

धरना देने वाले सभी हिन्दू थे। यद्यपि कि पुलिस ने तमाम गिरफ्तारियॉ की, किन्तु शाम को हिन्दू—मुस्लिम झगडे भडक उठे, जिसमे दुकान से घर लौटते समय मोहम्मद जान की हत्या भी हो गयी।[86]

गॉधी—इरविन समझौते के बाद 15—17 मार्च के बीच आगरा एव पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर के दो गाँवो में 14—16 मार्च के बीच साम्प्रदायिक दंगे भडक उठे। आगरा में एक मुसलमान मारा गया एवं कई घायल हो गये। यहॉ 15 मार्च को होली उत्सव पर मस्जिद के सामने संगीत कार्यक्रम पर मुसलमानों ने आपत्ति की थी। मिर्जापुर में हिन्दुओं ने मुसलमानों को मार डाला।[87] इस दंगे के पीछे कोई प्रमाण नही है कि इसके पीछे राजनैतिक उद्देश्य था लेकिन यह इस बात का संकेत करता है कि साम्प्रदायिक वैमनस्य की भावना देहातों में भी फैल चुकी थी। इस सम्बन्ध मे यह भी प्रासंगिक है कि इन घटनाओं ने कानपुर को भी प्रभावित किया, जहॉ बडे पैमाने पर दंगे हुये।

मुस्लिम राजनीति की नकारात्मक प्रवृत्तियॉ भी इस दौरान देखने को मिली। 1928—29 में शौकत अली एवं तजीम कमेटी ने कानपुर मे काग्रेस के विरोध में सक्रिय प्रचार किया और 'तौसीह—जमात—उल—उलेमा—ए—हिन्द' का गठन कर जेहाद की भावनाओं को और अधिक समृद्ध किया। यह सगठन काग्रेस समर्थक देवबन्द की 'जमात—उल—उलेमा—ए—हिन्द' के विरोध में था।[88] इसका प्रभाव यह पडा कि मई 1930 मे मुसलमानो ने खुले तौर पर कांग्रेस की विदेशी कपड़ों के बहिष्कार एव मदिरापान निषेध कार्यक्रम का बहिष्कार किया। कांग्रेसी मुस्लिम नेताओ के भाषणो का बहिष्कार किया गया तथा मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओ के भाषाण को ध्यान से सुना गया।[89] दोनो समुदायो के बीच मतभेद इतना गहरा था, कि राष्ट्रीय नेताओ की मृत्यु पर होने वाली शोक सभायें भी प्रभावित हुई। जनवरी 1931 में मोहम्मद अली की मृत्यु पर सयुक्त सभा के आयोजन का काग्रेसी नेताओ का प्रस्ताव मुस्लिम नेताओ द्वारा अस्वीकार कर दिया गया और दोनों ने अलग—अलग शोक सभाये की। इसी तरह मोतीलाल की मृत्यु पर हसरत मोहानी की अध्यक्षता में शोकसभा तो हुई लेकिन अधिकतर मुसलमान कांग्रेस द्वारा आयोजित हडताल मे शामिल नही हुये और जब मुसलमानों से दुकान बन्द करने को कहा गया तो उन्होंने अनिच्छा जतायी, क्योकि मुहम्मद अली की मृत्यु पर हिन्दुओ ने ऐसा ही किया था।[90]

यद्यपि कि 1930 तक साम्प्रदायिक दंगो मे कमी आती गयी, लेकिन साम्प्रदायिक सोच ने मुसलमानो को उत्तर प्रदेश में हिन्दुओ के प्रति अविश्वास

की भावना से भर दिया था। जिसका प्रभाव सविनय अवज्ञा के बाद के वर्षों में दिखाई देता है। यहॉ तक कि अब कांग्रेसी मुसलमान भी काग्रेस टिकट पर चुनाव लडने के अनिच्छुक हो गये। जैसा कि खलीकुज्जमॉ ने व्यक्त किया है, "पृथक निर्वाचन मंडल के आधार पर होने वाले चुनाव में मैं इस बात से सहमत हूॅ कि स्वराज पार्टी से किसी भी मुसलमान को टिकट मिलना मुश्किल है।"[91] भारत शासन अधिनियम 1935 के आने के बाद हुये चुनाव मे खलीकुज्जमॉ ने सलेमपुर के रूढिवादी एवं प्रतिक्रियावादी राजाअली अहमद खान के साथ मिलकर उत्तर प्रदेश मुस्लिम लीग को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इसे रफी अहमद किदवई एवं नेहरू के अन्य समर्थकों द्वारा समर्थन दिया गया, क्योकि वे पहले ही मान चुके थे कि कोई भी मुसलमान अब कांग्रेस के टिकट पर चुनाव नहीं जीत सकता।[92] फरवरी 1933 के चुनाव में उत्तर प्रदेश मे कोई मुस्लिम प्रत्याशी नहीं जीता स्वयं रफी अहमद किदवई मुस्लिम बहुल गोण्डा से चुनाव हार गये। यह स्थिति न केवल कांग्रस के प्रति मुस्लिम दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, बल्कि साम्प्रदायिक अलगाव की ओर भी सकेत करती है।

इस साम्प्रदायिक अलगाव को बढाने में 1930 के दशक के आखिरी वर्षों में खाकसार आन्दोलन के उभार को देखा जा सकता है। 1930 मे इसे प्रारम्भ करने वाला अल्लामा मशरीकी था जिसने पजाब तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की थी। उसकी विभिन्न विषयों में रुचि एव विद्वता थी, जिसमें प्रमुख विषय गणित भौतिकी एव धर्मशास्त्र थे। इसने उसे कुरान एवं मुस्लिम रीति–रिवाजो एवं सिद्धांतो को अपनी तरह से व्याख्या करने के लिये प्रेरित किया।[93] भारतीय शिक्षा सेवा मे उसने उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रान्त में कुछ वर्षो तक कार्य किया ...... शिक्षा सेवा के दौरान मशरीकी ने सरकार के विरोध के बावजूद स्कूलो में इस्लाम की धार्मिक शिक्षा का प्रचार करने में सफलता प्राप्त की।[94] उसका सबसे महत्वपूर्ण प्रयास खाकसार पार्टी के उदय के रूप मे सामने आया। मशरीकी ने पाया कि समकालीन मुल्ला एवं मौलवी अपने कर्तव्यो का पूर्णतया ईमानदारी से पालन नही कर रहे हैं। उसने खाकसार पार्टी का उद्देश्य 'पुन· अल्लाह के इस्लाम की स्थापना' रखा।[95]

स्पष्ट है कि यह सगठन धार्मिक भावनाओ पर आधारित था। प्रारम्भ मे इसकी गतिविधियां उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त मे केन्द्रित थी किन्तु मुस्लिम लीग के साथ सम्बन्धो मे बढ़ती प्रगाढता से इसका क्षेत्र विस्तार हुआ। उत्तर प्रदेश मे खाकसार एवं मुस्लिम लीग का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से लखनऊ के शिया–सुन्नी विवाद मे उभरकर सामने आया। यह एक पुराना विवाद था तथा मुस्लिम लीग पहले से ही इस मामलें मे रुचि ले रही थी।[96] यह विवाद 1939

मे जब पुन उभरा तो काग्रेस एव मुस्लिम लीग दोनो ने समान रूप से इसमे रुचि ली। मामला इतना जटिल था कि निकट भविष्य में उसके समाधान का कोई रास्ता नही था। किन्तु लीग ने यह महसूस किया कि कांग्रेस जान–बूझकर मुस्लिमो को बॉटकर इस विवाद को हवा दे रही है ताकि वह मुसलमानों पर आसानी से शासन कर सके। अतः काग्रेस शासन पर लीग द्वारा तीव्र प्रहार होने लगा। कोई भी मंत्री इस तरह के आरोपों का सामना करने के लये तैयार नहीं था। अतः कांग्रेसियों ने भी लीग के नेताओं पर जवाबी हमला प्रारम्भ किर दिया।[97]

लखनऊ के इस विवाद से अपनी परिस्थितियों में खाकसारों ने हस्तक्षेप किया। मशरीकी के सिद्धात में मुसलमानों की एकता एक महत्वपूर्ण कारक थी। मुस्लिम लीग ने खाकसारो के इस हस्तक्षेप को बढा चढाकर प्रचारित करना शुरू किया। उसके अनुसार खाकसार मुसलमानो की ओर से लडने आये है। दूसरी तरफ सेना और पुलिस जिन्होने खाकसारो को चुनौती दी के विषय मे यह प्रचारित किया गया कि वास्तव मे वे मुस्लिम विरोधी हैं। जब खाकसारों एवं काग्रेसियो तथा अहरार स्वयं सेवको के बीच झडप हुई तो लीग ने यह प्रचारित किया कि ऐसा हिन्दू कांग्रेस का मुस्लिम विरोधी होने के कारण है।[98]

इससे स्पष्ट होता है कि मुस्लिम लीग ने सामान्य मुसलमानो से खाकसारों का सम्पर्क कायम करा दिया और बाद में मुस्लिम लीग की तरफ से खाकसार मुसलमानों के बीच ध्रुवीकरण के साधन बन गये। उत्तर प्रदेश मे खाकसारो का विस्तार जारी रहा। सरकारी तौर पर इनकी शक्ति का आकलन किया गया जो 1938 मे 3000 थी अगस्त 1940 में बढकर यह सख्या चौदह हजार हो गयी।[99] इसके साथ ही लीग का स्वयं का अपना आधारभूत सगठन एव विस्तार तथा इसके नेतृत्व द्वारा कठोर साम्प्रदायिक प्रचार जैसा कि खाकसार भी करते थे, ने लीग को काफी मजबूत स्थिति प्रदान कर दी।[100]

इस प्रकार मुस्लिम लीग के अत्यधिक धार्मिक झुकाव ने उसे मुसलमानो के बीच काफी लोकप्रिय बना दिया। जैसा कि 1936 के चुनावो मे कांग्रेस को मुस्लिम क्षेत्रों में मिली विफलता से पता चलता है। साथ ही साम्प्रदायिक प्रश्नो पर उसका कमजोर रवैया भी मुसलमानों को कोई आश्वासन नहीं दे सका जब कि प्रतिद्वन्दी मुस्लिम लीग अति कट्टर खाकसारो के साथ मिलकर मुसलमानो मे अपनी पैठ बना रही थी। ऐसी स्थितियों मे साम्प्रदायिक समस्या इतनी उलझ गयी कि उसका कोई समाधान नहीं निकाला जा सका।

सन्दर्भ

1. ब्रास पाल आर., लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इडिया, (विस्तृत व्याख्या के लिये) कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1974.
2. राबिन्सन एफ., सेप्रेटिज्म एमग इंडियन मुस्लिम्सः, द पालिटिक्स आफ यूनाइटेड प्राविन्सेज मुस्लिम्स 1860—1923 (विस्तृत व्याख्या के लिये), कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1994.
3. ब्रेनेन लास, द इल्यूशन आफ सिक्योरिटीः, द बैक ग्राउण्ड टु मुस्लिम सेप्रेटिज्म इन द यूनाइटेड प्राविन्सेज, मुशीरुल हसन द्वारा सम्पादित इडियाज पार्टीशन . प्रासेस, स्ट्रैट्जी एण्ड मोबिलाइजेशन, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1994, पृ. 328.
4. वही, पृ. 329.
5. नील वाल्टर सी., लैण्ड इज टू रूल, राबर्ट फाइकेन द्वारा सम्पादित लैण्ड कन्ट्रोल एण्ड सोशल स्ट्रक्चर मे, मेडिसन 1969, पृ. 9, उद्धृत मुशीरुल की सम्पादित वही पुस्तक, लास ब्रेनेन द्वारा, पृ. 330.
6. खॉ अहमद शफात, व्हाट आर द राइट्स आफ द मुस्लिम माइनारिटीज इन इडिया, इलाहाबाद, 1928, पृ. 65—67.
7. पाण्डेय ज्ञान, रैलिग राउण्ड द काऊ, : सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन 1888—1917, सब अल्टर्न स्टडीज खण्ड—2, पृ. 65—67
8. वही, पृ. 68.
9. सेना गुप्ता एस., कास्ट एज एन एग्रेरियन फेनामेनान इन ट्वेन्टियथ सेन्चुरी बिहार, ए.दास और वी, नीलकण्ठ द्वारा सम्पादित एग्रेरियन रिलेशन इन इंडिया मे उद्धृत, दिल्ली, 1979, पृ. 85—89.
10. सान्याल हितेश रंजन, सोशल मोबिलटी इन बंगाल, कलकत्ता, 1981
11. राबिन्सन एफ, वही पुस्तक, पृ. 32.
12. वही, पृ. 18—23.
13. शिक्षा आयोग के समक्ष बाबू शिवप्रसाद का साक्ष्य (ई.सी.एन.डब्ल्यू.पी. एण्ड ओ.) एजूकेशन कमीशन, इविडेन्स टेकेन इन नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज एण्ड अवध, पृ. 314 फ्रांसिस राबिन्सन की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 70.
14. नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज प्रशासनिक रिपोर्ट 1862—63, पृ. 91.
15. राबिन्सन एफ. की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 71.

16. कवि वचन सुधा, 8 अगस्त 1873 का सस्करण.
17. राबिन्सन एफ. की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 73.
18. बाबू शिवप्रसाद द्वारा यह मेमोरडम 'कोर्ट कैरेक्टर्स इन द अपर प्राविन्सेज आफ इडिया' नाम से 1868 मे प्रस्तुत, (मालवीय के कोर्ट कैरेक्टर में उद्धृत, परिशिष्ट, पृ. 72–74) पाल आर ब्रास की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 130.
19. ब्रास पाल आर. की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 130.
20. वही, पृ. 130.
21. राय आलोक, हिन्दी नेशनलिज्म, ओरियन्ट लांगमैन, दिल्ली, 2000 मे उद्धृत, पृ. 41.
22. शिक्षा आयोग के समक्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का साक्ष्य, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1054–60.
23. राय आलोक की पुस्तक हिन्दी नेशनलिज्म मे उद्धृत, पृ. 41, भारतेन्दु समग्र, पृ. 1054–60.
24. राय आलोक की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 42.
25. वही, पृ. 42.
26. सरस्वती हीरक जयन्ती अंक, सपा. श्री नारायण चतुर्वेदी, इडियन प्रेस, इलाहाबाद 1961, आलोक राय की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 42.
27. मालवीय, कोर्ट कैरेक्टर, पृ. 24–63, उद्धृत पाल ब्रास की वही पुस्तक, पृ. 131.
28. वही
29. ए डिफेन्स आफ उर्दू लैग्वेज एण्ड कैरेक्टर (कोर्टकैरेक्टर एव प्राइमरी एजूकेशन के प्रत्युत्तर मे) पाल ब्रास की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 132.
30. गुप्त ज्योतीन्द्र दास एव गुम्प्रेज जे., लैग्वेज कम्यूनिकेशन एण्ड कन्ट्रोल इन नार्थ इडिया, पाल ब्रास की पुस्तक मे उद्धृत, पृ. 135.
31. हिन्दी प्रदीप, मई–जुलाई, 1901.
32. शर्मा पद्मसिह द्वारा उद्धृत 'सभापतियो के भाषण' खण्ड 2 मे पृ. 130.
33. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1879.
34. रत्न चन्द्र बाबू, हिन्दी उर्दू का नाटक, (1890) उद्धृत आलोक राय की पुस्तक मे पृ. 57.
35. राय आलोक, हिन्दी नेशनलिज्म में उद्धृत, पृ. 61.

36. वही.

37. मिश्र सिद्धिनाथ, खडी बोली का आन्दोलन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1956 में उद्धृत.

38. राय आलोक की पुस्तक में उद्धृत, पृ. 94.

39. वही, पृ. 90.

40. तिर्मिजी एस.ए.ए., द काऊ प्रोटेक्शन मूवमेंट एण्ड मास मोबिलाइजेशन इन नादर्न इंडिया, 1882—1893, प्रोसीडिंग्स इन द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस वाल्टेयर, 1979, पृ. 575.

41. अहमद रफी उद्दीन, बगाल मुस्लिम, कलकत्ता, 1980, पृ. 170.

42. मैकलेन जान, इंडियन नेशनलिज्म एण्ड द अर्ली काग्रेस, प्रिन्सटन, 1977, पृ. 275.

43. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ कम्यूनलिज्म, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990, में उद्धृत, पृ. 77—78.

44. पाण्डेय ज्ञान, वही रैलिग राउण्ड द काऊ, पृ. 77.

45. वही.

46. अब्दुल माजिद द्वारा डायरी में दर्ज (29 मई 1904) ज्ञान पाण्डेय की रैलिग राउण्ड द काऊ मे उद्धृत, पृ. 77—78.

47. फ्रितॉग, एस., रिलीजियस राइट्स : फ्राम कम्यूनिटी आइडेन्टिटी टू कम्यूनलिज्म इन नार्थइडिया 1870—1940, यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया ब्रेकले, पी—एच.डी. शोध प्रबन्ध 1980, पृ. 127) ज्ञान पाण्डेय की पुस्तक कन्स्ट्रकशन आफ .... मे उद्धृत, पृ. 176.

48. ईस्ट इडिया रिलीजियस डिस्टर्बेंस, एन.डब्ल्यू. पी. एण्ड ओ. के मुख्य सचिव द्वारा भारत सरकार के गृह सचिव को लिख पत्र, 28 अगस्त 1893, ज्ञान पाण्डेय के रैलिग राउण्ड ..... में पृ. 78—79.

49. नकवी एच. के., अर्बन सेन्टर्स एण्ड इन्ट्रस्ट्रीज इन अपर इण्डिया, 1556—1803 बम्बई, 1968, पृ. 140.

50. आजमगढ कलेक्ट्रेट इंग्लिश रिकार्ड रूप, विभाग (XIII), फाइल न. 146 / 1894, पत्रांक 45 / (XIII), 146, आजमगढ के मजिस्ट्रेट द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को लिखा पत्र (29 जनवरी, 1893).

51. पाण्डेय ज्ञान, वही पुस्तक कन्स्ट्रक्शन आफ ...., पृ. 165.

52. वही, पृ. 166.

53. सरकार सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,

1992, पृ. 104.

54. गोरखपुर कमिश्नर रिकार्ड रूम विभाग (XVI), फाइल सख्या 37/1898–1900, यह प्रार्थनापत्र आजमगढ के कुछ गॉवो के मुसलमानो की ओर से भारत के गृह सचिव का, 18 जून 1893.

55. आजमगढ के मजिस्ट्रेट द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को भेजी रिपोर्ट 7 जुलाई 1893, उस समय डुपरनेक्स डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट था। एल/पी.एण्ड जे/6/357.

56. आजमगढ, कलेक्ट्रेट, विभाग XIII फाइल संख्या 146/1894.

57. आजमगढ, के मजिस्ट्रेट डुपरनेक्स की रिपोर्ट.

58. पाण्डेय ज्ञान, रैलिंग राउण्ड द काऊ .... पृ. 100.

59. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ .... पृ. 182–83.

60. वही, पृ. 186.

61. मल्ल विजयशंकर (सपा) प्रताप नारायण ग्रन्थावली, पृ. 178, 563.

62. पाण्डेय ज्ञान, द कन्स्ट्रक्शन आफ .... मे उद्धृत पृ. 174.

63. आजगमढ गजेटियर 1911, पृ. 91.

64. बलिया, गजेटियर, 1907, पृ. 80.

65. गाजीपुर गजेटियर, 1909, पृ. 90.

66. गोर्डान आर. ए., द हिन्दू महासभा एण्ड द इण्यिन नेशनल कांग्रेस 1915–26, माडर्न एशियन स्टडीज 9, 2 (1975) ज्ञान पाण्डेय के द एसेडेन्सी आफ द कांग्रेस इन उत्तर प्रदेश में पृ. 115.

67. पाण्डेय ज्ञान, द एसेडेन्सी आफ द काग्रेस इन उत्तर प्रदेश 1926–34, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978, पृ. 117.

68. यू.पी. जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेट, फाइल संख्या 246/1926.

69. यू.पी. जी.ए.डी. फाइल स. 246/1926.

70. यू.पी. जी.ए.डी. फाइल स. 680/1925 इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा उ.प्र. के मुख्य सचिव को 14 सितम्बर, 1925 को लिखा पत्र.

71. पुलिस एब्सट्रैक्ट आफ इंटेलीजन्स रिपोर्ट, 1 मई 1926.

72. लीडर समाचार पत्र, इलाहाबाद, 11 एव 25 अगस्त 1926.

73. आज, 4 एव 8 अक्टूबर 1926.

74. अभ्युदय, 13 एव 20 मार्च, 1926.

75. अभ्युदय, 21 अगस्त, 1926.

76. अभ्युदय, 31 जुलाई, 1926 एव लीडर 11 अगस्त 1926.

77. पाण्डेय ज्ञान, द एसेडेन्सी आफ .... में उद्धृत, पृ. 124.

78. अभ्युदय, 23 नवम्बर 1929.

79. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इटेलीजेन्स, फरवरी 1930.

80. अभ्युदय, 19 जनवरी, 9 फरवरी, 1929.

81. अभ्युदय, 31 अगस्त एवं 14 सितम्बर, 1929.

82. यू. पी. जी.ए.डी. फाइल सं. 241/1930.

83. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इटेलीजेन्स रिपोर्ट, 6 सितम्बर, 1930.

84. कानपुर इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट पृ. 180.

85. आज, 12 फरवरी, 1931.

86. आज, 12 फरवरी, 1931.

87. लीडर 21 मार्च 1931 एवं अभ्युदय 25 मार्च 1931.

88. अभ्युदय, 2 नवम्बर 1929.

89. यू.पी. जी.ए.डी. 241/1930, इलाहाबाद के कमिश्नर द्वारा उ.प्र. के मुख्य सचिव को लिखा पत्र 9 मई, 1930.

90. पुलिस एब्स्ट्रैक्ट आफ इटेलीजेन्स, 17 जनवरी एव 14 फरवरी, 1931.

91. खलीकुज्जमॉ चौधरी, पाथवे टु पाकिस्तान, लाहौर, 1961, पृ. 129.

92. आज, 22 नवम्बर 1934.

93. शान मोहम्मद, खाकसार मूवमेट इन इंडिया, दिल्ली, 1973, पृ. 18.

94. वही, पृ. 4.

95. वही, पृ. 5.

96. वही, पृ. 31.

97. वही, पृ. 49—52.

98. वही.

99. चन्दर सुनील, काग्रेस राज कन्फ्लिक्ट एण्ड राइज आफ द मुस्लिम लीग इन द मिनिस्ट्री पीरियड 1937—39, माडर्न एशियन स्टडीज, 21.2, 1987, पृ. 303—328 में उद्धृत.

100. वही.

विभाजन एवं उसकी स्मृति

साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक राजनीति की अंतिम परिणति देश विभाजन के रूप में मूर्तिमान हुई, जिसकी त्रासद परिस्थितियों से हिन्दू एवं मुसलमानों दोनो को गुजरना पड़ा क्योंकि दोनों ही समुदायों की जनसंख्या का स्थानान्तरण इधर–उधर हुआ। आर्थिक हानि के साथ–साथ व्यापक पैमाने पर जनहानि भी हुई। यद्यपि कि यह त्रासदी सीमावर्ती पंजाब एवं बंगाल मे अधिक थी क्योकि बडे पैमाने पर दंगे यहीं भडके और आने–जाने वालों को हिसा का निशाना बनाया गया किन्तु इसका प्रभाव व्यापक रूप से सम्पूर्ण देश पर पडा। चूँकि उत्तर प्रदेश राजनीति के केन्द्र में था, अतः स्वाभाविक था कि यह त्रासदी यहॉ भी झेलनी पड़ी। यहॉ उन स्थितियो की चर्चा होगी कि सामान्य जन के मन मे विभाजन की पीडा कैसे बसी हुई थी और उनका सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन कैसे प्रभावित हुआ था। इसके साथ ही तत्कालीन साहित्यकारो की दृष्टि एवं स्मृतियो मे इसका क्या स्वरूप था, इसे विवेचित करने का प्रयास होगा।

सबसे पहले यहॉ यह विवेचित करने का प्रयास होगा कि उत्तर प्रदेश के लोगों की जनसख्या एवं स्थिति को विभाजन ने कैसे प्रभावित किया। इसके लिये राष्ट्रीय स्तर के ऑकडों पर दृष्टिपात किया जाय तो प्रदेश मे यह संख्या अधिक नही बैठती है। विभाजन के बाद भारी सख्या में लोगो ने स्थानान्तरण किया। यह सख्या लगभग 6–7 लाख के बीच थी, जिन्होंने भारत छोडकर पाकिस्तान पलायन किया। इसी तरह हिन्दुओं और सिखों ने भारत आने के के लिये पाकिस्तान छोडा। इसमें यह संख्या अतिरिक्त है जिसमे लाखो लोग स्थानान्तरण की प्रक्रिया मे रोग, भुखमरी एवं दंगे के शिकार हुये।[1] ऐसा अनुमान है कि पजाब से करीब 80 प्रतिशत लोग भारत से पाकिस्तान गये। पूर्वी भाग में प. बंगाल, बिहार, उडीसा से करीब 55 प्रतिशत मुसलमान पाकिस्तान गये, करीब 10 प्रतिशत उत्तर प्रदेश से और 6.4 प्रतिशत लोग दिल्ली से पश्चिमी पाकिस्तान के करॉची सिन्ध एवं पंजाब गये।[2] जनसख्या 1951 के आकडों के अनुसार उत्तर प्रदेश से स्थानान्तरण करने वालो की संख्या भारत से कुल स्थानान्तरण करने वाली सख्या का केवल 6 प्रतिशत थी। यह भी मुख्यत शहरी क्षेत्रो से गये लोग थे।[3] यदि पजाब को छोड दिया जाय

तो 20 प्रतिशत कुल स्थानान्तरण मे से 60 प्रतिशत संख्या शहरियो की थी। इस समय उत्तर प्रदेश की शहरी मुस्लिम जनसंख्या मे तेजी से गिरावट हुई थी।[4]

यह तस्वीर और अधिक स्पष्ट होती है जब पाल ब्रास के अध्ययन से इसकी तुलना की जाय। उनका मत है कि उत्तर प्रदेश में मुसलमान हिन्दुओं की तुलना में अधिक शहरी थे, ऐसा वे 1881 की जनगणना के आधार पर कहते हैं जो कि धर्म के आधार पर हुई थी। 1931 के अन्त में संयुक्त प्रान्त के शहरों में 29 प्रतिशत मुसलमान रहते थे, जबकि हिन्दुओं की संख्या मात्र 8 प्रतिशत थी। 1931 में संयुक्त प्रान्त के 29 शहरो में मुसलमानों की सख्या 50 प्रतिशत थी, जबकि अन्य 31 शहरों जिनमे लखनऊ एवं आगरा भी थे, मुसलमानों की सख्या आधा एवं तिहाई थी। 1881 से 1930–31 के बीच मुसलमानों का शहरीकरण 1881 मे 34.6 प्रतिशत 1891 में 33.8 प्रतिशत तथा 1931 मे 38 23 प्रतिशत था जबकि हिन्दुओ की संख्या आनुपातिक रूप से घट रही थी। यह संख्या क्रमशः इन्हीं वर्षो में 64.51 प्रतिशत, 64.27 प्रतिशत एवं 59.52 प्रतिशत थी।[5] यहाँ इन ऑकडो का उल्लेख यह दिखाने के लिये किया गया कि पलायन करने वालो मे शहरी अधिक थे, क्योकि प्रायः शहर ही राजनीति के केन्द्र थे और वही प्रथमतः प्रभावित भी होते थे। यह बात विभाजन की प्रक्रिया पर भी लागू हुई। यह इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि विभाजन के बाद रामपुर और मुरादाबाद ही दो ऐसे शहर थे, जहाँ मुसलमानो की संख्या अधिक थी।

इस स्थानान्तरण का सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्र मे व्यापक प्रभाव पडा। उत्तर प्रदेश में स्वतन्त्रता से पूर्व मुसलमानो का प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्रो में तो था ही, साथ ही सरकारी नौकरियों, सेना, पुलिस, विधि, चिकित्सा, उद्योग, व्यापार एवं परिवहन के क्षेत्र मे प्रभावी भागीदारी थी।[6] इनमे से अधिसंख्य मुसलमान शहरी व्यवसायो मे लगे थे, यद्यपि कि ये आंकडे ब्यौरेवार उपलब्ध नही है कि किस व्यवसाय से कितने लोगो ने स्थानान्तरण किया, किन्तु सामान्यतया स्थानान्तरण करने वालो मे सरकारी नौकरी पेशा एवं व्यवसायी ही अधिक थे।[7] लखनऊ से प्रकाशित नेशनल हेराल्ड के अनुसार 4.4 लाख सरकारी कर्मचारी एवं उनके परिवार पिछले दो माह से पाकिस्तान गये, उनमे से तीन लाख से अधिक उत्तर प्रदेश के थे।[8] इस स्थानान्तरण ने न केवल मुस्लिम आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया, अपितु बौद्धिक एवं राजनीतिक नेतृत्व की भी कमी हुई।

उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को पाकिस्तान जाने की प्रेरणा मुस्लिम लीग के बडे नेताओ द्वारा दिये गये आश्वासन से मिली थी। तत्कालीन स्थितियो पर दृष्टिपात किया जाय तो यह बात उभरकर सामने आती है कि बिना निश्चित रूप रेखा एवं आधार के पाकिस्तान की मॉग के सन्दर्भ मे उत्तर प्रदेश के मुसलमानो को दिग्भ्रमित किया गया। उत्तर प्रदेश के मुसलमानो में इससे कई भ्रम पैदा हुये और अन्ततः उन्हें उनके भाग्य पर छोड दिया गया। इस प्रकार देखा जाय तो यह पूरी प्रक्रिया विश्वासघात की कहानी है। तमाम मुसलमानों का विचार है कि वे अन्त तक अनिश्चितता की स्थिति में थे किन्तु साथ के लोग उन्हें सान्त्वना देते थे। जैसाकि अलीगढ़ के हेरात बिन हमीद का मानना है – "यह मुस्लिम लीग के सर्वोच्च नेताओ का दायित्व था कि वे हमारी पीड़ा बॉटते और हमे मार्गदर्शन देते क्योकि हमने उनके लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया था।"[9] ये भावनायें न केवल हमीद की है बल्कि उन तमाम मुसलमानो की हैं, जिन्होने मुस्लिम लीग का समर्थन किया था लेकिन विभाजन के बाद पाकिस्तान की जगह भारत मे ही रहना स्वीकार किया था।

यह सही है कि मुस्लिम लीग की दूसरी पक्ति के तमाम नेता जैसे इस्माइल खान, मुफ्ती फकरुल इस्लाम, नवाब एजाज रसूल, बेगम एजाज रसूल देश मे ही रह गये थे, जबकि बडे नेता पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाबजादा लियाकत अली खॉ, पाकिस्तान मे मुस्लिम लीग के चेयरमैन चौधरी खलीकुज्जमॉ, अमीर हैदरखॉ राजा महमूदाबाद जो उत्तर प्रदेश के बड़े ताल्लुकेदार थे, पाकिस्तान चले गये थे।[10] ऐसे नेता जो पाकिस्तान नही गये उन्होने स्थितियो से समझौता कर लिया था। मुफ्ती फकरुल इस्लाम का विचार था कि यदि उत्तर प्रदेश के उच्च नेताओ ने पाकिस्तान जाने का निर्णय न लिया होता तो बडी संख्या में बौद्धिक मुसलमान और आर्थिक उच्च वर्ग भारत मे रह जाता। उनके अनुसार भागे हुये मुसलमानो ने यहॉ के मुसलमानो मे भय पैदा कर दिया, जिसकी वजह से बाद मे और मुसलमान देश छोडकर चले गये।[11]

इसी तरह का विचार बेगम एजाज रसूल का भी है, जिन्होने विभाजन के बाद मुस्लिम लीग छोडकर कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली थी एव राजनीतिक रूप से सक्रिय थीं। उनका विचार था कि खलीकुज्जमॉ एव लियाकत अली खॉ जैसे लोग यदि रह जाते तो उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा मे प्रभावी भूमिका निभाते और विभाजन के बाद जो असुरक्षा एवं अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी थी वैसी स्थिति में उनके (मुसलमानो) अन्दर विश्वास पैदा करते। उनके अनुसार लीग के दिग्भ्रमित

करने के कारण ही विभाजन हुआ और अब उन्हे (मुसलमानो को) इसकी कीमत देने के लिये तैयार रहना चाहिये, क्योकि हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियो के सामने उनकी शक्ति क्षीण हो गयी थी। बेगम रसूल मुफ्ती फकरुल इस्लाम के विचार से सहमत थीं कि यदि लीग के बडे नेता पाकिस्तान न गये होते तो वे उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के पलायन को रोक सकते थे। उनके अनुसार खलीकुज्जमाँ, लियाकतअली एवं राजा महमूदाबाद का मुस्लिम अभिजन एवं बौद्विक वर्ग मे काफी प्रभाव था। यह उनकी नैतिक जिम्मेदारी थी कि उत्तर प्रदेश के मुसलमानो के साथ रहकर उनमें विश्वास पैदा करते।[12]

यहॉ यह तथ्य उल्लेखनीय है जैसा कि स्थानान्तरण के ऑकडों से भी पुष्ट होता है कि तुलनात्मक रूप से उत्तर प्रदेश से मुसलमानों का स्थानान्तरण कम हुआ यह उन शिक्षित अभिजनो तक सीमित था जो इकबाल के इस्लामी पुनर्जागरण की पवित्र भूमि की भावना से प्रभावित थे तथा इसका एक हिस्सा उन व्यवसायियों एवं सरकारी नौकरों का था जो पाकिस्तान मे अपनी बेहतरी की उम्मीद करते थे तथा जिनकी दृष्टि में भारत में उनके लिये अनिश्चितता थी। जैसा कि इलाहाबाद के प्रख्यात साहित्यकार अकील रिजवी भी उन स्थितियो की चर्चा करते है – "जो लोग पाकिस्तान पहुॅच गये थे वे अपने अज़ीजों को खत लिखते कि फौरन चले आओ, यहॉ बहुत मजा है, मुलाजमते भी खूब है और हिन्दुओ की छोडी हुई जायदादें भी। चुनॉचे वह लोग जो यहॉ भी किराये के मकानों मे रहते थे और रोज मारते खाते थे, सब पाकिस्तान जाने के लिये तैयार हो गये।"[13] इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि कि स्थानान्तरण मे अभिजन की संख्या अधिक थी, किन्तु सामान्य लोग भी जाने की तैयारी मे थे।

मुस्लिम लीग जो कि विभाजन के पहले उत्तर प्रदेश के मुसलमानो का प्रभावी संगठन था, विभाजन के बाद उसके बडे नेताओं के पलायन कर जाने से मुसलमानो मे भ्रम, असुरक्षा एवं अलगाव की भावना पैदा हुई और कुछ समय के लिये उनका आत्मविश्वास डिग गया और वे दिशाहीन हो गये। यद्यपि कि इन परिस्थितियों में कांग्रेस के कुछ मुस्लिम नेताओं द्वारा उनके लिये काम किया गया किन्तु इस समय स्थिति यह थी कि मुसलमानों को विश्वासघाती समझा जाता था, क्योंकि उन्होंने देश का विभाजन कराया था। इसमे यह तथ्य भी काम कर रहा था कि विगत कई चुनावो से मुस्लिम मतदाताओं ने कांग्रेस की अपेक्षा मुस्लिम लीग के पक्ष में मतदान किया था। ऐसी स्थिति में न केवल राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू महासभा जैसे उग्रवादी सगठनो ने ही मुसलमानों पर अविश्वास किया अपितु कुछ बडे

नेताओ की सोच भी ऐसी थी। यहाँ तक कि धर्मनिरपेक्ष और अति सम्मानित उत्तर प्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्री प. गोविन्द बल्लभ पन्त ने भी एक बार मुस्लिम क्षेत्र के उपचुनाव मे कांग्रेस प्रत्याशी मुजफ्फर हुसेन को वोट देकर अपनी विश्वसनीयता प्रदर्शित करने को कहा – "कांग्रेस ने केवल मुसलमानों का परीक्षण करने के लिये ही मुस्लिम प्रत्याशी खडा किया है और उन्होने चेतावनी दी की यदि वे अपने पुराने रास्ते पर ही रहते है तो हिन्दू राज्य की स्थापना अनिवार्य है।"[14]

इन परिस्थितियों में भी ऐसा नहीं था कि सभी राजनेता मुसलमानों पर अविश्वास करते थे बल्कि गाँधी और नेहरू ने मुसलमानों पर अविश्वास की बात से इन्कार किया।[15] यही नहीं गाँधी का रुख तो चेतावनी पूर्ण था कि यदि हिन्दू और सिखो द्वारा किसी भी प्रकार से मुसलमानों का बहिष्कार किया जाता है तो यह भारत की प्रगति में बाधक होगा।[16] उस तनावपूर्ण दगे की स्थिति मे शांति स्थापना की उनकी तमाम कोशिशो के अलावा 13–18 जनवरी तक दिल्ली मे उपवास भी किया गया। जो हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना के लिये किया गया था। इसके अतिरिक्त यह भारत में मुसलमानों के विरुद्ध एवं पाकिस्तान मे हिन्दुओ के विरुद्ध हो रही हिंसक गतिविधियो को रोकने के लिये किया गया था। ऐसा करके गाँधी मुसलमानो के भीतर विश्वास बढाना चाहते थे। इसने न केवल हिंसा को कम किया बल्कि विभाजन के बाद मुसलमानो को यह अवसर दिया कि वे अपने घरों से बाहर निकलकर गाँधी को उपवास करने से रोकें। उत्तर प्रदेश के मुसलमानों द्वारा अनेक सभायें की गयी और इनमें उनसे उपवास तोडने का अनुरोध किया गया। जो यह दर्शाता है कि मुसलमान उनके साथ काम करने को इच्छुक थे। इतना ही नही विभाजित पाकिस्तान में भी उनके इस कदम की प्रशंसा की गयी। जैसा कि 13 जनवरी 1948 की एक सभा मे पाकिस्तान के वित्तमत्री जिया मुहम्मद मुमताज खान द्वारा व्यक्त किया गया – "महात्मा गाँधी के अनशन ने मुसलमानो के प्रति उनकी जिस सहानुभूति को प्रकट किया है, उसे यथोचित उपलब्धि मानना हमारा फर्ज है। इससे इतना समझा जाता है कि भारत मे कम से कम एक आदमी है जो हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए अपनी जान तक न्योछावर करने को तैयार है। हम सर्वशक्तिमान ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह अनशन चलाने की जरूरत नही होगी। इस सभा मे खडे होकर मैं महात्मा गाँधी को यह आश्वासन देता हूँ कि अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए उनके आग्रह के प्रति हम सम्पूर्ण रूप से समर्थन व्यक्त करते है।"[17]

परिवर्तित परिस्थितियो मे अब मुस्लिम समाज मे भी साम्प्रदायिकता के प्रति घृणा की भावना देखने को मिली। बहुत से लोग जो विभाजन से पूर्व मुस्लिम लीग में कार्य कर रहे थे, अब उससे खुद को अलग करने लगे। मुस्लिम लीग के गाजीपुर के अध्यक्ष हसन खॉ ने अपने पद से त्याग पत्र देते हुये उसे साम्प्रदायिक पार्टी कहा और उन्होने ने मुसलमानो से अपील की कि वे गॉधी जी की इच्छा के अनुरूप साम्प्रदायिक सौहार्द की स्थापना के लिये कार्य करें।[18] इलाहाबाद जिले के मुस्लिम लीग के अध्यक्ष तुफेल ने अध्यक्ष पद छोड न केवल कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली बल्कि मुसलमानों से कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करने की अपील की।[19] एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि 14 फरवरी 1948 को उत्तर प्रदेश मुस्लिम लीग विधायक दल ने मुस्लिम लीग को भगकर जनता पार्टी नाम से नया दल बना लिया।[20] इससे स्पष्ट होता है कि लोग विभाजन की वास्तविकता को समझ चुके थे और हकीकत से साक्षात्कार कर नये ढंग से सोचने लगे थे।

विभाजन से उपजी परिस्थितियों मे लोगों की मानसिकता मे मुसलमानों के प्रति पूर्वाग्रह दिखायी देता है। यह पूर्वाग्रह सरकारी नीति में भी देखने को मिला। उत्तर प्रदेश के पहले मुख्यमंत्री गोविन्द बल्लभ पन्त ने राजकीय सेवाओं विशेषकर पुलिस सेवा मे उत्तर प्रदेश के मुसलमानों की भर्ती का विरोध किया।[21] जब पन्त दिल्ली चले गये तो उनके उत्तराधिकारी ने भी यह नीति जारी रखी तथा इस बात को निश्चित किया कि अखिल भारतीय एवं प्रादेशिक सेवाओ में अल्पसंख्यको का चयन बन्द रहेगा।[22] इसके कारण मुस्लिम मध्यवर्ग मे पलायन की प्रवृत्ति दृष्टिगत हुई और सरकारी सेवाओं मे मुसलमानो का प्रतिशत तेजी से घटा जो कभी हिन्दुओ के बराबर था।[23] इस समय मुस्लिम मानसिकता मे परिवर्तन देखने को मिला। यह परिवर्तन वैसे तो सभी क्षेत्रो मे देखने को मिला किन्तु पुलिस व्यवस्था के प्रति यह विशेष रूप से था क्योकि अब दगो में पुलिस का रवैया निर्मम हो गया था। बहुत से मुसलमान इस बात को लेकर दुखी थे तथा 1947 के पहले कि स्थिति के बारे में सोचने लगे थे कि जब प्रत्येक थाने पर एक मुस्लिम दरोगा रहता था तथा ब्रिटिश अधिकारियों की उपस्थिति मे उन्हे बेहतर संरक्षा एव न्याय मिलता था।

उत्तर प्रदेश के मुसलमानो की राजनीतिक स्थिति मे भी साफ परिवर्तन देखने को मिलता है। 1946 के विधान सभा चुनावो में 66 मुस्लिम सीटो मे से मुस्लिम लीग को 53 सीटें मिली थीं तथा 73.29 प्रतिशत शहरी एव 62 39 प्रतिशत ग्रामीण मुस्लिम मतदाताओं का मत प्राप्त हुआ था।[24] यद्यपि कि चुनाव बहुत सीमित थे, लेकिन उत्तर प्रदेश के चुनाव मे मुस्लिम लीग प्रमुख

पार्टी बनकर उभरी थी विभाजन के बाद इसके बिखराव एव नेताओ के पलायन से मुसलमान नेतृत्व विहीन हो गये। कुछ समय तक तो ऐसा लगा कि 1947 के बाद नेतृत्व रह ही नही गया। बाद मे मुस्लिम नेता समझौते करने लगे। इसका एक पहलू यह था कि पृथक निर्वाचन मडल समाप्त हो जाने से उत्तर प्रदेश मे मुस्लिम समाज अपने आपको संगठित नही कर सका, लेकिन जब ससदीय व्यवस्था मे सार्वभौमिक मताधिकार मिल गया तो निम्नवर्गीय मुसलमान जो कभी भी राजनीतिक आधार पर संगठित नहीं हुये थे, अब ससदीय व्यवस्था के भाग बन गये। इस परिवर्तन ने 1947 के बाद मुस्लिम राजनीति को परिवर्तित कर दिया।

विभाजन के पहले उत्तर प्रदेश के मुसलमानों का राजनीतिक नेतृत्व तीन भागो में विभाजित दिखायी देता है। पहले वर्ग में मध्यमवर्गीय ऐसे वकील, डाक्टर, अध्यापक एवं पत्रकार थे जो धर्म निरपेक्ष एवं मार्क्सवादी थे, यह संख्या अत्यन्त सीमित थी। ये कांग्रेस के साथ काम कर रहे थे, किन्तु बाद मे अन्य दलो में भी गये। दूसरे वर्ग में ऐसे मध्यमवर्गीय लोग थे जो पुरातनपथी एव रूढिवादी थे। इनका राजनीतिक प्रभाव अत्यन्त सीमित था।[25] तीसरे वर्ग में जमायत उल उलेमा जो देवबद के उलेमाओं का समूह था, जिसने काग्रेस के साथ काम करते हुए पाकिस्तान बनने का विरोध किया था। विभाजन से पहले इनका एक गुट मुस्लिम हितो पर बोलता था। यह समूह पिछडे वर्ग के मुसलमान बुनकरो (मोमिन) का था जो उत्तर प्रदेश एवं बिहार से सम्बन्धित थे। मोमिन आन्दोलन काग्रेस का सहयोगी था क्योंकि काग्रेस ने हथकरघा एवं खादी को लोकप्रिय बनाया था। मोमिन नेताओं ने उच्च जाति प्रभावित मुस्लिम लीग का विरोध किया था। विभाजन के बाद जमायत और मोमिन नेता मुसलमानो की आवाज थे। अब्दुल कयूम अंसारी जो आल इडिया मोमिन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष थे ने हमेशा मुसलमानो को मुस्लिम लीग से सबक लेने को कहा तथा अपील की कि वे कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करे तभी उनका विकास होगा।[26] जनवरी 1949 मे मोमिन काफ्रेन्स की वर्किंग कमेटी की बैठक मे उन्होने सरकार से मॉग की कि मोमिन को पिछडी जाति घोषित किया जाय तथा धागो के मूल्य आदि मे रियायत दी जाय।[27] अंसारी ने उन पाकिस्तानी नेताओ के खिलाफ भी आवाज उठायी जो भारत मे मुस्लिम अभियान के विरुद्ध बोल रहे थे। उन्होंने कहा कि पहले पाकिस्तान अपना घर देखे तब भारतीय मुसलमानो के बारे मे बात करे।[28]

जमायत उल उलेमा के अन्दर दो प्रवृत्तियॉ देखने को मिली, एक तो वह मुसलमानो को राजनीतिक नेतृत्व देना चाहती थी तथा दूसरे यह कि

मुसलमानो का धार्मिक एव सास्कृतिक सगठन भी बना रहे। विभाजन एव गॉधी की हत्या के बाद धर्म एव राजनीति मे भेद करना मुश्किल हो गया था। इसलिये जमायत को रक्षात्मक रुख अपनाना पडा क्योकि अब उसके ऊपर साम्प्रदायिक होने का आरोप लग रहा था।[29] 27 अप्रैल 1948 को बम्बई की एक सभा मे मौलाना आजाद एवं जवाहर लाल नेहरू ने जमायत के बारे मे यह मत प्रकट किया था कि यह एक सास्कृतिक एवं धार्मिक संगठन है न कि राजनीतिक।[30] यहॉ यह उल्लिखित करना समीचीन है कि खिलाफत आन्दोलन के समय से ही जमायत का राजनीति में दखल था। उसने कई राजनेता तैयार किये जो कांग्रेस राजनीति के साथ जुडे। इनमें प्रमुख थे मौलाना अबुल कलाम आजाद, हफीजुर्रहमान, निसार अहमद शेरवानी हफीज मुहम्मद इब्राहिम जिन्होंने न केवल मुसलमानो का रुख काग्रेस की ओर किया बल्कि मुसलमानो को प्रभावी बनाने के लिये जमायत का प्रयोग किया।[31] विभाजन के बाद मुस्लिम लीग के परिदृश्य से हट जाने के बाद जबकि काग्रेस को मुसलमानो का समर्थन अनिश्चित हो गया था, मोमिन कान्फ्रेन्स एवं जमायत जैसे संगठनो ने कांग्रेस का सहयोग किया।

काग्रेस ने अपने हित साधन एवं राजनीतिक आधार के लिये जमायत का उपयोग किया। थोडे बहुत अन्तरो के बावजूद जमायत काग्रेस को सहयोग करती रही। मुसलमानो का धार्मिक सगठन होने के कारण इस पर उलेमाओ का बोलबाला था। यह मुसलमानो के धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक हितों की रक्षा करती थी। इसके धर्म को राजनीति के साथ जोड़ने पर जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि वे ईमानदारी से बाहर आये और सामाजिक आर्थिक आन्दोलन मे भाग ले – "एक स्वाधीन राष्ट्र मे कोई अल्पसंख्यक समुदाय यदि अपने आपको अलग करता है, तो देश का नुकसान तो करता ही है, इससे अधिक वह अपना नुकसान करता है क्योकि ऐसा प्रतिबन्ध केवल धार्मिक नही होता बल्कि राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्र तक विस्तृत होता है और उन लोगो को प्रभावित नही करता जो औरो को ऐसा करने के लिये प्रेरित करते है।"[32]

तत्कालीन राजनीतिक स्थितियो पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि विभाजन के बाद कांग्रेस को मुसलमानो का समर्थन मिलने लगा था। पृथक निर्वाचन की समाप्ति के बाद मुसलमान काग्रेस के सहयोगी हो गये थे। इसका प्रभाव उत्तर प्रदेश पर भी पडा। कई क्षेत्रों मे मुस्लिम प्रत्याशी काग्रेस समर्थन के कारण जीते थे और वे इस स्थिति को आगे भी बनाये रखता चाहते थे। इनमे से बहुत से लोगो का मत था कि वे उन मुद्दो से दूर रहना चाहते थे, जो केवल मुसलमानो से सम्बन्धित थे।[33] इससे यह पता चलता है कि मुस्लिम

मानसिकता मे परिवर्तन आ रहा था क्योंकि पूर्व की स्मृतियाँ काफी भयावह थी और उन स्थितियो की गवाह थी जिससे देश का विभाजन हुआ और परिवर्तित परिस्थितियो मे कोई भी इसकी पुनरावृत्ति नही चाहता था।

यहाँ उन सामान्य लोगो की स्थितियों एवं भावनाओं की चर्चा भी समीचीन है, जिन्हे विभाजन की त्रासदी झेलनी पड़ी थी। 1946 से 1950 के मध्य ग्रामीण मुसलमानों का शहरों की ओर पलायन भी एक महत्वपर्ण पहलू था। कुछ साक्ष्यों के अनुसार यह तीन लाख से ऊपर था।[34] इसका एक महत्वपूर्ण कारण विशेषतः उत्तर प्रदेश और बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में साम्प्रदायिक दंगो का फैलना था, जहाँ मुस्लिम आबादी छोटे–छोटे समूहों में बिखरी हुई थी। यह एक सामान्य दृश्य था कि 1946–47 मे मुस्लिम शरणार्थी घर छोडकर उत्तर प्रदेश के शहरों एवं मुहल्लों मे शरण ले रहे थे। उनमे से सभी पाकिस्तान नही गये और न ही सबको पाकिस्तान जाने वाली ट्रेन में जगह मिली थी।[35]

इनमे से बहुत से शहरो मे रह गये और जो गाँव गये भी उन्हें निराश होकर शहर लौटना पडा क्योकि उनकी सम्पत्ति पर दूसरो ने कब्जा कर लिया था। ऐसे तमाम लोगो मे से एक उस्मान भी था जो इलाहाबाद के एक गाँव मसूराबाद से अपनी माँ एवं पत्नी के साथ 1947 मे गाँव छोड़कर इलाहाबाद आ गया था। उसे अटाला मे एक मुस्लिम होटल मालिक ने काम दिया जहाँ उस्मान बेयरे का काम करता था और उसकी पत्नी बर्तन माँजती थी।[36] बाद मे 1950 मे मालिक से झगडा हो जाने पर वह नौकरी गवाँ बैठा, वह जब गाँव लौटा तो वहाँ उसका घर भी नहीं था और उसकी एक–दो एकड जमीन पर गाँव के ही धुन्नी सिंह ने कब्जा कर लिया था। उसने (धुन्नी सिह) यह मामला उठाने के लिये उस्मान को मना किया। उस्मान शहर लौट आया और रिक्शा चलाने लगा। बाद मे वह गाँव फिर गया और सौ रूपये के बदले स्थानीय पटवारी की मध्यस्थता से विवाद मे समझौता कर लिया और इलाहाबाद आकर चाय की दुकान खोली। .... वह अपने को उन लोगो की तुलना मे भाग्यवान समझता है जिन्होने विभाजन मे अपना सब कुछ गवाँ दिया था।[37]

विभाजन के बाद उत्तर प्रदेश के मुसलमानों का वह भ्रम भी टूटा जो उन्होने मुस्लिम लीग एवं पाकिस्तान को लेकर पाल रखे थे। अधिक संख्या मे उत्तर प्रदेश के अभिजनों के पलायन ने प्रदेश मे मुसलमानों के आर्थिक एव राजनैतिक प्रभाव को कम किया। हिन्दुओ द्वारा उन्हे विश्वासघाती भी कहा गया क्योकि मुस्लिम लीग के माध्यम से वे पाकिस्तान की माँग कर रहे थे किन्तु अब उन्हे इसके लिए मानसिक तौर पर अपराध बोध हो रहा था।

बनारस का बुनकर शम्सुद्दीन असारी स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय 14 वर्ष का था, वह घटना को इस प्रकार याद करता है — "गलियो में बहुत ही प्रसन्नता एव उत्सव का वातावरण था, लेकिन हम उसमें भाग ले सकने मे असमर्थ थे। हमारे हिन्दू भाइयों ने इस अवसर का स्वागत पटाखे छोडकर किया और हम अपने घरों मे संशय एव भय के बीच बैठे थे। हम अनुभव करते थे कि हमारी आजादी पाकिस्तान ने छीन ली है।"[38] इसी प्रकार का अनुभव जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर का भी था जो 1947 में अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्र थे। वे उस समय की स्थिति को इस प्रकार याद करते है — "अलीगढ में लोगो की स्थिति सदमें और अविश्वास की थी। वे भावशून्य थे और चारों ओर दुख और शोक का माहौल था, जैसे कोई मर गया हो। वे अपने छात्रावास के रसोइये निजामुद्दीन के चेहरे के भाव को याद करते हैं जो उनके कमरे के अन्दर जाने से घबरा रहा था। उसने दबी जुबान से कहा— सर! वे कहते हैं कि पाकिस्तान बन गया है, लेकिन अलीगढ उसका भाग नहीं होगा।"[39] स्पष्ट है कि निजामुद्दीन की यह किकर्तव्यविभूढ़ता केवल उसकी अपनी ही नहीं थी बल्कि उन तमाम मुसलमानों की थी, जो सोचते थे कि पाकिस्तान बनने पर गली एवं मुहल्लों का भी विभाजन होगा।

तमाम साधारण मुसलमानो के दिमाग मे मुस्लिम लीग के प्रचारको द्वारा यह बात बैठा दी गयी थी कि जब पाकिस्तान का निर्माण होगा, तो उनका मुहल्ला पाकिस्तान का अग होगा। बनारस के बुनकर रहमत उल्ला असारी जिन्होंने मुस्लिम लीग का विरोध किया था, के अनुसार बनारस की आम जनता कभी भी जिन्ना एव मुस्लिम लीग के सम्पर्क में नही आयी। अधिकांशत. उनका मन परिवर्तन अलीगढ विश्वविद्यालय के उन छात्रो द्वारा किया गया जो बनारस आते रहते थे तथा समय—समय पर मुस्लिम मुहल्लो के पाकिस्तान का भाग होने की बात कहते थे। वे कहते थे कि तब भारत और पाकिस्तान के बीच खुला गलियारा होगा, जहॉ लोग आसानी से आ जा सकेगें।[40] स्पष्ट है कि विभाजन लागू होने के बाद जो हकीकत सामने आयी उससे मुसलमानो का भ्रम टूटा जो कि विभाजन के पक्षधर नहीं थे, तथा विभाजन के बाद पाकिस्तान की क्या तस्वीर होगी उसको लेकर आशंकाग्रस्त भी थे, फिर भी उनके मन मे यह बात भरी जाती रही कि विभाजन से उनको भी लाभ होगा, जो कि बाद मे मिथ्या साबित हुई।

यहॉ कुछ सरकारी कदमो की चर्चा भी समीचीन है जिससे विभाजन के बाद की प्रतिक्रिया को समझा जा सकता है। सरकार के सम्पत्ति सरक्षा विभाग द्वारा शहरी मुसलमानो की सम्पत्ति जब्त करने का प्रयास किया गया।

शरणार्थी सम्पत्ति अधिनियम के अन्तर्गत जो मुस्लिम पाकिस्तान चल गय थ, उन्होने भारत मे सम्पत्ति का अधिकार खो दिया था। ऐसी स्थिति मे ऐसे समस्त मुस्लिम परिवार मुश्किल मे थे, जो पलायन कर गये थे। सामान्यतया एक या दो ही सदस्य बेहतर भविष्य की खोज मे पाकिस्तान गये थे किन्तु यदि सम्पत्ति उसी व्यक्ति के नाम थी जो पाकिस्तान चला गया था तो यह स्थिति पूरे परिवार के लिये त्रासद थी। सम्पत्ति विभाग के लोग मुस्लिम क्षेत्रों में जाकर पलायन कर गये लोगों की सूची बना रहे थे। नेतृत्व के अभाव में मुस्लिम दिग्भ्रमित थे और अपनी जायदाद को बचाने में असमर्थ थे। जिन अधिकारियों ने ऐसे मकानों को खाली कराया उनकी कई पीढियॉ इन मकानों में रही। कई ऐसी घटनाओं में सम्पत्ति तब बच सकी जब उन्होने अधिकारियों को घूस दी। जैसा कि नेहरू जी के मन्तव्य से भी पता चलता है – उन्हे तब अधिक दुख पहुॅचा जब यह पता चला कि स्वतन्त्रता संग्राम के दौर के उनके मित्रों को इसलिये कष्ट झेलना पड़ रहा था कि उनके सम्बन्धी पाकिस्तान चले गये थे।[41] नेहरू जी की भावनाओ का पता इससे भी चलता है जब उन्होने पुनर्वास मत्री मोहन लाल सक्सेना को 1949 में पत्र लिखा था – "वास्तव मे उत्तर प्रदेश मेरे लिये विदेशी भूमि हो गयी है मैं इसमें उपयुक्त नही बैठता। उत्तर प्रदेश की काग्रेस जिससे मै पैंतीस वर्ष जुडा रहा, उसके कार्य अब चकित करते है। इसकी आवाज काग्रेस की आवाज नही रही जिसे मै जानता हूॅ।[42] इससे स्पष्ट है कि विभाजन से उपजी परिस्थितियों ने लोगों के दिमाग मे परिवर्तन कर दिया था। यह इसलिये भी स्वाभाविक था कि लोग तुरन्त ही विभाजन की पीडा से गुजरे थे।

शरणार्थी सम्पत्ति अधिनियम के अन्तर्गत यदि कोई मुस्लिम पाकिस्तान चला गया तो उसका कोई सम्बन्धी न तो जमीन बेच सकता था और न ही उसके बदले ऋण ले सकता था। सितम्बर 1949 मे उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा ऐसे चालीस जिलो को चिह्नित किया गया था जहॉ कोई भी अचल सम्पत्ति स्थानान्तरित नहीं की जा सकती थी, जब तक कि जिलाधिकारी इसके लिये सहमति न दे।[43] इससे मुसलमानो के अन्दर असुरक्षा का भाव आया। यहॉ यह भी ध्यातव्य है कि पाकिस्तान मे हिन्दुओं एव सिखों का जीवन भी कठिन हो गया था।

इसी परिप्रेक्ष्य मे उर्दू के प्रति सरकारी नीति को भी देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक उत्तर प्रदेश में उर्दू हिन्दी के साथ सरकारी भाषा के रूप में प्रयुक्त हो रही थी। 1951 में हिन्दी राज्य की अकेली राजभाषा बनी लेकिन इसके भी पूर्व उर्दू को हटाने का प्रयास किया गया। नेशनल हेराल्ड

के अनुसार जनवरी 1948 में हिन्दी की खोज प्रारम्भ हुई। फारसी से लिये गये कुछ शब्द जो सरकारी भाषा में प्रयुक्त हो रहे थे अब उन्हे निकाला जाने लगा। इसके लिये कहा जा रहा था कि उर्दू अनुवादको को सचिवालय के अन्य विभागों मे भेजा जाय और बहुभाषी अनुवादको को पुराने उर्दू शब्दो का हिन्दी मे अनुवाद करने के लिये नियुक्त किया जाय।[44] अप्रैल 1948 में सभी थानों मे प्रथम सूचना रिपोर्ट केवल हिन्दी मे लिखी जाने लगी। एक हजार लोग हिन्दी में हेड कांस्टेबिल पद पर कार्य करने के लिये प्रशिक्षित किये गये और बहुत से लोग इसलिये हटा दिये गये कि वे केवल उर्दू में ही काम कर सकते थे।[45] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि उत्तर प्रदेश के बहुत से शिक्षित मुसलमान जिन्होने उर्दू को अपनी मातृभाषा माना था और जिसने उन्हे सास्कृतिक एवं धार्मिक एका में बॉधा था, 1947 के बाद उसे अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करना पड रहा था।

उर्दू को न केवल सरकारी कार्यालयो एवं अदालतों से ही हटाने का प्रयास हो रहा था बल्कि शैक्षिक क्षेत्र से भी हटाया जा रहा था और इसके लिये प्राथमिक स्तर को ही चुना गया। उत्तर प्रदेश विधान सभा मे विपक्ष के नेता जेड.एच. लारी ने सरकार का ध्यान 29 मई 1948 के गजट की ओर आकृष्ट किया जिसमे उर्दू को स्कूलों से निकाल दिया गया था। सूचना निदेशक के आदेश मे कहा गया था– निम्न पुस्तकों का उर्दू अनुवाद अब जुलाई 1948 से नहीं होगा– बेसिक रीडर भाग एक, दो, तीन एवं चार तथा बेसिक अंकगणित भाग एक, दो, तीन एवं चार।[46] साम्प्रदायिक सौहार्द कायम करने के लिये उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष पुरुषोत्तम दास टण्डन का मत था कि– ''मुसलमानो को विदेशी संस्कृति और सभ्यता को रोकना चाहिये। उन्हे भारतीय सस्कृति अपनानी चाहिये। एक भाषा और एक सस्कृति एकता का मार्ग बताती है। उर्दू से विदेशी संस्कृति का एहसास होता है। हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो देश में विभिन्न शक्तियो को एक कर सकती है।''[47] ऐसे ही विचार उत्तर प्रदेश सरकार के संसदीय सचिव चरण सिह के भी थे – फारस एवं अन्य मुस्लिम देशों की भाषा, संस्कृति, वेशभूषा पर निर्भर रह कर मुसलमान भारत के लोगों से अलग प्रतीत होते है। उन्होने भारत के मुसलमानों को चीन के मुसलमानों से उदाहरण लेने की बात कही जो भाषा, सस्कृति यहॉ तक कि नाम भी अपने देश की भाषा के अनुरूप ही रखते है।[48]

इससे यह स्पष्ट होता है कि विभाजन के बाद कतिपय ऐसी स्थितियो का निर्माण हुआ जिसे हम तात्कालिक प्रतिक्रिया कह सकते है क्योंकि बाद की स्थितियो मे साम्प्रदायिक सौहार्द एवं समन्वय के लिये प्रयास सरकारी एव गैर

सरकारी दोनो ही स्तरो पर किया गया, लेकिन यह भी ध्यातव्य है कि जो विश्वास टूटा था उसको पूरी तरह कायम नही किया जा सका।

✠ ✠ ✠ ✠ ✠

देश–विभाजन भारतीय इतिहास का एक ऐसा क्षण है, जिसने न केवल तत्कालीन स्थितियो को गहराई तक प्रभावित किया बल्कि यह प्रभाव आज तक बना हुआ है। विभाजन की प्रक्रिया से उपजी तमाम परिस्थितियों की याद लोगों के जेहन में घर गयी थी और आज भी बसी हुई है। यहॉ साहित्यिक स्रोतो के माध्यम से उन स्थितियो की तलाश की जायेगी जो विभाजन के बाद पैदा हुई। साहित्य की दृष्टि से इतिहास को देखने का प्रयास होगा इस आशय के साथ कि विभाजन लोगों को कैसे प्रभावित कर रहा था, उत्तेजित कर रहा था और प्रतिक्रिया मे किस हद तक लोग भावना में बहे जा रहे थे। तत्कालीन साहित्य पर दृष्टिपात करे तो प्रतिक्रिया दोनो तरफ से हो रही थी चाहे वह हिंसक रही हो या समन्वय एव सौहार्द स्थापना के लिए।

यहॉ सर्वप्रथम हिन्दू–उर्दू विवाद को विवेचित करने का प्रयास होगा क्योकि यह एक ऐसा मुद्दा था जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन के शुरुआती दौर को ही साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रभावित किया था। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण था कि यह आन्दोलन उत्तर प्रदेश मे बडी तीव्रता के साथ सचालित किया गया था। ध्यातव्य यह भी है कि इस आन्दोलन का केन्द्र पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रमुख शहर बनारस एव इलाहाबाद थे। साम्प्रदायिक स्थितियो के निर्माण मे इस आन्दोलन का बहुत बडा हिस्सा था। यही कारण था कि विभाजन के बाद भी यह प्रश्न लोगों को मथ रहा था। सरकारी तौर पर उठाये गये कदमो की चर्चा की जा चुकी है। यहॉ चर्चा का बिन्दु है साहित्यकारो की दृष्टि मे हिन्दी और उर्दू की क्या स्थिति थी और वे क्या चाहते थे। यहॉ 1948 मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति राहुल साकृत्यायन के भाषण का यह अश उल्लेखनीय है जिसमे हिन्दी–उर्दू विवाद की ओर सकेत किया है– "यह कुफ्र का फतवा आगे इतना बढा कि जो भी छॅटी मूँछ और बढी दाढी से विहीन शब्द उर्दू कविता या साहित्य मे दिखलाई पडा उसे चुन–चुनकर रेल के डिब्बो से बाहर गिराया गया।"[44] यहॉ राहुल जी ने उर्दू वालो द्वारा हिन्दी शब्दो के बहिष्कार की ओर सकेत किया है लेकिन जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह निहायत प्रतिक्रियात्मक तो है ही साथ ही उस समय की साम्प्रदायिक मारकाट की ओर भी इशारा करती है। जैसा कि हस के सम्पादक द्वारा टिप्पणी की जाती है –

का स्वप्न देखते है और जो लोग हिसाब लगाते रहते है कि अगर मुसलमानो ने इतनी स्त्रियो को मौत के घाट उतारा तो हम इतनों का खून बहायेंगे। उन्होंने अगर इतनों को गाडी के डिब्बों से बाहर फेंका तो हम........ ।''[50]

राहुल जी का कथन और उस पर सपादक द्वारा की गयी टिप्पणी हिन्दू–उर्दू विवाद की तीव्रता का स्पष्ट निदर्शन करते है। लेकिन यदि वास्तव मे देखा जाय तो क्या दोनो भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार संभव था जैसा कि इसी सपादकीय में लिखा गया है – ''भाषा साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र में भी क्या इस बदले की भावना को स्वीकार किया जायेगा। रेल के डिब्बों में से जिस प्रकार हिन्दू मुसलमानों को और मुसलमान हिन्दुओं को बाहर फेंक रह थे, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी क्या हिन्दी वाले उर्दू के शब्दों को और उर्दू वाले हिन्दी के शब्दों को चुन–चुनकर फेंकना शुरू करेंगे ?'' साथ ही खतरे की ओर संकेत भी किया गया है – ''खतरा काल्पनिक नही वास्तविक है। प्रतिगामी शक्तियॉ दोनों ही ओर हैं– हिन्दुओं में भी और मुसलमानों मे भी। इन शक्तियों के अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता, न ही उनके खतरे की ओर से ऑखे बन्द की जा सकती है।''[51] लेकिन यहॉ सम्पादक ने खुद स्पष्ट किया है कि राहुल जी ने उन मुसलमानों की निन्दा की है जिन्होने छॅटी मूँछे और बढी दाढी से विहीन शब्दों को चुन–चुनकर गाड़ी के डिब्बे से फेका था। उन हिन्दुओ के पक्ष में भी राहुल जी नही है जो तिलक और चोटियाधारी शब्दो से हिन्दी को भरना चाहते हैं।

निश्चित रूप से विवाद के बाद भी एक ऐसा सकेत है जिसमें रास्ता निकालने की गुजाइश है क्योकि दूसरी ओर उर्दू लेखकों का दावा है कि– 'सिर्फ उर्दू की नज्मो अफसानो और मजामीन के इन्तखाब से पिछले नब्बे बरस की कौमी लडाई की पूरी तारीख मुरत्तब की जा सकती है।''[52] यद्यपि कि उन परिस्थितियो मे पूरी मुस्लिम कौम को ही विश्वासघाती समझा जा रहा था लेकिन पूर्व मे किये गये उनके बलिदान को नकारा भी नही जा सकता। इसीलिये कैफी आजमी बडे विश्वास के साथ कहते हैं–

हमने पूजा है तुझे, हमने सॅवारा है तुझे

हर मिटे नक्श को चमकाके उभारा है तुझे

अपनी गर्दन का लहू देके निखारा है तुझे

दार पर चढके कई बार पुकारा है तुझे।

इस विश्वास के पीछे कवि को कौम के बलिदानो का एहसास भी है तभी बडे विश्वास के साथ कहते है – तू जिस अंजाम पे मगरूर है भी, शाद भी है/उसका आगाज हमीं थे तुझे कुछ याद भी है।[53] कवि का यह कथन इस बात का भी आग्रह है कि इस विषय पर विचार करते समय सभी स्थितियो पर दृष्टिपात किया जाय।

हिन्दी–उर्दू को लेकर चल रहे विवाद में साम्प्रदायिकता का प्रश्न अन्तर्निहित था। जैसा कि राम विलास शर्मा उल्लेख करते हैं – "अभी हाल में ही नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने रविशंकर शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी वालों सावधान !' प्रकाशित की है, इसमें पचीसों ऐसे शब्दों की सूचना दी गयी है जो रोज के व्यवहार में आते हैं, लेकिन जिनसे हिन्दी को शुद्ध करने का तकाजा किया गया है। श्री रविशंकर प्रचलित भाषा को कसौटी नहीं मानते। उनकी कसौटी हिन्दुत्व है।"[54] शर्मा जी ने इस बात का विरोध किया, क्योकि उनका मानना था कि – "जनता शब्दों को हिन्दू मुसलमान समझकर नही अपनाती, जो उसकी अपनी जातीयता के निकट होते है, उन्हीं को वह अपनाती है और अक्सर उन्हे अपने रग मे रग लेती है।"[55] लेकिन राहुल सांकृत्यायन का मत था कि – "अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य के पढने के साथ–साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा से ज्यादा लादना व्यवहार एवं बुद्धिमानी की बात है।"[56] इस पर राम विलास शर्मा का मत है कि– राहुल जी ने अपने भाषण में हिन्दी और उर्दू के भेद को हिन्दू धर्म और इस्लाम का भेद बना दिया है। इसीलिये उन्होने 'इस्लाम को भारतीय बनाना चाहिये'– यह मॉग पेश की है।"[57] शर्मा का यह भी मत है कि– "हिन्दू धर्म को शुद्ध भारतीय कहने वाले और इस्लाम को भारत ही नही विश्वव्यापी बताने वाले कुछ मनचले सज्जन हिन्दी और उर्दू को अपने–अपने धर्म की ध्वजा बनाकर हिन्दू–मुसलमान, मजदूर–किसान मे भी फूट डालने की कोशिश कर रहे है।"[58] इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि कुछ हिन्दू साहित्यकार उर्दू को लेकर पूर्वाग्रह ग्रस्त थे, तो ऐसे भी लोग थे जो उर्दू की वकालत भी कर रहे थे।

लेकिन यह तथ्यतः सही है कि साम्प्रदायिक भावनाओं ने लोगो के मन मे इस तरह घर कर लिया था कि जो उर्दू फारसी हिन्दू भी पढते थे अब उससे लोगो का दुराव होने लगा था। जैसा कि अगस्त 1947 के हंस के सम्पादकीय से पता चलता है – "मेरी पीढी आते–आते 'उर्दू मुसलमानों की भाषा है' यह भाव इतना काफी प्रबल हो गया था कि मेरी शिक्षा–दीक्षा हिन्दी मे हुई। उर्दू–फारसी हमारे घर मे बुरी तरह घर कर गयी थी वह जाती तो भला कैसे, मगर हिन्दी के प्रति पक्षपात का भाव हमारे यहाँ भी आने लगा था,

मुशी प्रेमचन्द का लेखन कार्य ही उर्दू से शुरू हुआ था। इससे सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उर्दू के प्रति हिन्दुओ का क्या भाव था। इतना ही नही स्कूलो की स्थिति के बारे मे भी वे सकेत करते है – "आप किसी स्कूल की उर्दू कक्षाओ के पिछले कई साल के रजिस्टर निकलवा कर देखिये आप पायेंगे कि उर्दू पढने वाले हिन्दू लडको की संख्या प्रतिवर्ष कम होती जा रही है, और अभी उस रोज एक स्थानीय हाईस्कूल के एक अध्यापक मित्र कह रहे थे कि अब स्वयं लडको की ओर से यह आन्दोलन उठाया जा रहा है कि हम सेकेन्ड फार्म के रूप मे भी उर्दू नही पढना चाहते।"[60] इससे स्थितियों का सहज आकलन किया जा सकता है।

इसी तरह की स्थितियो की चर्चा इलाहाबाद के सैयद अकील रिजवी भी करते हैं और साथ ही सरकारी दृष्टिकोण के प्रति भी संकेत करते है– उस साल अजब इत्तेफाक हुआ कि उर्दू के एम.ए. क्लास में कोई दाखला नही हुआ। उर्दू पढने वाले सब पाकिस्तान चले जा रहे थे और जो बच रहे थे वह यह समझकर उर्दू से कनाराकश हो गये कि अब उर्दू का क्या मुस्तकबिल रह गया है। पडित पन्त और सम्पूरनानन्द (सम्पूर्णानन्द) की हुकूमतो ने उर्दू के तमाम रास्ते उत्तर प्रदेश मे बन्द कर दिये थे, जिससे उर्दू तालीम–ओ–तअल्लुम (शिक्षा और शिक्षण) को काफी धक्का पहुँचा था। उर्दू पढने वालो और पढाने वालो दोनो का तालीमी समाज मे कोई दर खुर (हैसियत) न रह गया था।"[61] इतना ही नही रिजवी ने मुसलमान होने के नाते हो रहे भेदभाव की भी चर्चा बडे बेबाक ढग से की है – "मुल्क के हालात ऐसे बदल गये थे, तास्सुब का ऐसा जहेर फैल चुका था कि अगर मेरा फर्स्ट डिवीजन भी अग्रेजी मे आता तब भी मुझे अंग्रेजी विभाग मे जगह न मिलती। इलाहाबाद युनिवर्सिटी इस मामले मे सख्त मुतास्सिब युनिवर्सिटी है और हमेशा से रही है .. फिर अग्रेजी का शोबा और मुसलमान ? यह बात कहते ही लोग हॅसने लगते थे। मुसलमानो के लिये सिर्फ अरबी, फारसी और उर्दू ही मखसूस कर दिये गये है। हॉ तारीख के शोबे (इतिहास विभाग) मे एक मुसलमान जरूर हमेशा रखा गया। सबब इसका यह कि तारीख और खुसूसन अहदे वुस्ता (मध्यकालीन इतिहास) यानी मुसलमानो के दौर की तारीख के तकरीबन तमाम अस्लमल (Original Text) फारसी मे है।"[62] इससे स्पष्ट होता है कि मुसलमानों के प्रति भेदभाव की भावना व्याप्त हो रही थी।

इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि उर्दू साहित्यकारो का रुख सकारात्मक रहा– 'उर्दू के प्रगतिशील लेखको की कान्फ्रेन्स मे उन लोगो का विरोध किया

गया जो भौगोलिक विभाजन की दुहाई देकर सांस्कृतिक विभाजन का राग अलापते है .. .. उन्होने सुझाव रखा कि उर्दू के साहित्य को नागरी लिपि मे प्रकाशित किया जाय। ऐसा करने से यह हौवा अपने आप गायब हो जायेगा जिसे प्रतिगामी शक्तियो ने उर्दू के विरुद्ध खड़ा किया है। इस प्रकार फिराक के शब्दो में, 'एक ही पखवारे में उर्दू को एक करोड़ से अधिक नये समर्थक मिल जायेगे।'[63] उर्दू कान्फ्रेन्स के इस प्रस्ताव के पीछे उर्दू के प्रमुख साहित्यकारों जोश, सागर, कृष्णचन्द्र कैफी आजमी, मज़ाज, सरदार जाफरी आदि की भावना काम कर रही थी – "जो उन्होंने हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों को लिखे एक पत्र में व्यक्त की थी। हम हिन्दी और उर्दू के तरक्की पसन्द अदीब जो इत्तेहाद के अलमबर्दार है और हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की तरह अलग–अलग करके अपने जख्मों पर नमक नहीं छिडकना चाहते। हम अपनी तहजीब तमद्दन और जुबान को तक्सीम नही कर सकते। अगर मुल्क की तकसीम के साथ–साथ हमारी जुबान और तहजीब भी तकसीम हो गयी तो हमारे दुख बढ जायेगे और हमारे अदब तहजीब और जिन्दगी को बे–इन्तिहा नुकसान पहुॅचेगा।[64]

हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारो की ओर से भी सद्भाव का प्रयास हो रहा था – जिसे बोलचाल की भाषा को कवि और लेखक साहित्य मे सॅवारते है, उस बुनियादी भाषा को हिन्दू–मुस्लिम जनता ने मिलजुलकर बनाया है। हमारी सस्कृति की तरह भाषा भी धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर नहीं बनी बल्कि सभी सम्प्रदाय और धर्मो के लोगों ने मिलजुलकर उसे बनाया है। इसीलिये रामविलास शर्मा का मत है – "आज तो फारसी और संस्कृत को हिन्दू धर्म और इस्लाम से जोड दिया गया है .... साहित्य का वह अग जो आम जनता की सम्पत्ति बन गया है इस छूत–पाक को स्वीकार नही करता ... . दोनो ही लिपियों मे ऐसी सैकडों कहानियॉ और गीत लिखे गये है जो हिन्दू–मुस्लिम जनता की मिली जुली सम्पत्ति है।"[65] इसीलिये हस के सपादक का भी मत है – "सरकारी फरमानो के भुलावे मे हमे नही पड़ना है ...... हिन्दी और उर्दू लेखकों को अभी बहुत दूर तक मिलकर चलना है और अपने सयुक्त मोर्चे को कायम रखना है– उसमे किसी भी प्रकार की दरार नही पडने देनी है।[66] इससे यह स्पष्ट होता है कि विभाजन के बाद हिन्दी–उर्दू को लेकर कुछ साहित्यकारों एवं सरकारी नीतियों मे पूर्वाग्रह था किन्तु ऐसे भी लोग थे जो सद्भाव कायम करने की कोशिश कर रहे थे क्योकि वास्तविकता यही थी कि दोनों ही भाषाओ के शब्द काफी व्यापक रूप से आपस मे प्रयुक्त होते थे।

विभाजन के समय लोगो की क्या मनःस्थिति थी, उसमे यह देखने को मिलता है कि पहले तो सब कुछ सामान्य था लोग आसानी से यहाँ से जा रहे थे किन्तु बाद में स्थिति भयावह हो गयी। इन्तेकाले मकानी (स्थानान्तरण) शुरू हो चुका था। बहुत से लोग जो पहले से जेहन बना चुके थे कि पाकिस्तान चले जायेगे वह पहले ही हफ्ते मे पाकिस्तान रवाना हो गये ..... न अभी तक इलाहाबाद जैसे शहर में या यू.पी. के किसी शहर में पंजाब की मारकाट की खबरे आ रही थी। इसके मानी यह भी हुआ कि ऐन तक़सीम के वक़्त अवाम के जेहन में और शायद हुकूमत के जेहन मे भी किसी भी तरह के खलफ़ेशार का तसव्वुर नही था, शायद इसलिये भी कि पाकिस्तान ही निज़ाई मसला था और जब पाकिस्तान बन गया तो अब सब लोग अमन चैन से रहेगे। .... मेरा ख्याल है कि माहौल मे तनाव उस वक्त पैदा हुआ जब पजाब से लुटे–पिटे काफिले हिन्दुस्तान आना शुरू हुये और हिन्दुस्तान खुसूसन पंजाब की सरहद पार करते हुये महाजरीन और शरणार्थियो की गाडियो पर हमले शुरू हुये।''[67] इससे यह पता चलता है कि देश–विभाजन को लोग प्रक्रिया के रूप मे स्वीकार कर रहे थे क्योकि जो मॉग की जा रही थी वह पूरी हो गयी थी लेकिन जो निहित स्वार्थी तत्व थे उन्होने माहौल को तनावपूर्ण बनाना शुरू किया क्योकि ऐसी ही स्थिति मे उनके स्वार्थो की पूर्ति होती और परिणामस्वरूप धीरे–धीरे हिसा का दौर शुरू हो गया।

धीरे–धीरे बढते तनाव की प्रक्रिया पर अकील रिजवी ने बडी सूक्ष्म दृष्टि डाली है। इलाहाबाद से भी लोगो का स्थानान्तरण सामान्य ढंग से ही हो रहा था किन्तु बाद में स्टेशन पर जाने वालो की तलाशी ली जाने लगी पहले यह कार्य काग्रेस के स्वयसेवी कर रहे थे किन्तु जब तलाशी के नाम पर स्थिति यह हो गयी कि –'वालंटियरों ने उसे भी छीनना शुरू किया कि हमारे मुल्क का आटा, दाल, चावल पाकिस्तान क्यूँ लिये जा रहे हो।''[68] तो इस पर पुलिस की व्यवस्था कर दी गयी लेकिन अब – ''पुलिस के सिपाही जाने वालो के सामान मे अपने कारतूस रख देते और फिर जाने वालो को पकड कर उनसे रूपये वसूल करते ..... रास्ते में गाडियो में झगडे और झड़पे होने लगी . हर ट्रेन के आखिर में दो तीन डिब्बे अलग से लगा दिये जाते जिस पर लिखा होता 'सिर्फ मुसलमानो के लिये।'' इस स्थिति पर इलाहाबाद के शायर मुजफ्फर शाहजहाँ पूरी ने एक नज्म (कविता) 'शऊरे आजादी' लिखी जिसमे एक पक्ति थी–

अब रेल भी हिन्दू होती है, डिब्बे भी मुसलमाँ होते है
ए दोस्त अभी आराम न कर है खाम शऊरे आजादी।[69]

इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि पहले तो लोगो ने विभाजन को स्वीकार कर लिया था लेकिन जैसे–जैसे बाहर से खबरें आ रही थी लोगो का रुख प्रतिक्रियावादी होता जा रहा था।

यहॉ एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि सारे के सारे मुसलमान न तो विभाजन के पक्ष में थे और न ही विभाजन के बाद सभी पाकिस्तान जाने की सोच रहे थे, क्योकि भारतीय नेताओं ने स्पष्ट कर दिया था कि देश के बॅटवारे के आधार रूप में धर्म को मुद्दा बनाया गया है लेकिन भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य रहेगा और किसी को भी उसकी इच्छा के विपरीत पाकिस्तान जाने के लिये नही कहा जायेगा। बावजूद इसके मुसलमानो का एक बडा हिस्सा इस असमंजश में था कि पाकिस्तान जॉय या हिन्दुस्तान ही रहें। इस तरह की भावनाओं की अभिव्यक्ति कैफी आजमी की कविताओं से मिलती है– इक तरफ जोर है हुकूमत है/माल है मिल्क है, रियासत है/ इक तरफ बलबले है मेहनत है/शोर है, जोश है, बगाबत है/ मेरे अल्लाह मै किधर जाऊॅ.........जब उधर की हवाये आती है/ दिल के हर तार को बजाती हैं/इस तरफ जब निगाहे जाती हैं/ बिजलियॉ सर में कडकडाती है/मेरे अल्लाह मै किधर जाऊॅ।......... उनको रहम का वोट हासिल है/इनमे फितरत का जोर शामिल है/ बीच मे हूॅ अजीब मुश्किल है/इक तरफ ऑख इक तरफ दिल है/ मेरे अल्लाह मै किधर जाऊॅ।[70]

इसी तरह की असमजश की स्थिति कहानी 'पॉच दिन पहले' मे भी मिलती है। इसमे एक मुस्लिम लडके शौकत की स्थिति के माध्यम से पूरे परिवेश को मनोवैज्ञानिक ढंग से देखने की कोशिश की गयी है– 'दुनिया के आगे हिन्दोस्तान और पाकिस्तान का नगा हाल खुलकर दिखायी देने लगा . .... शौकत ने ॲगली पर गिना– बारह–तेरह– चौदह, पन्द्रह, सोलह, ठीक पॉच दिन बाद यह नगरी छूट जायगी। ... .शौकत ने सामने बनी मसजिद की ओर देखा, जो मुसलमानो की तरह अपना भी आत्म गौरव खोये, लुटी सी खडी थी। हफ्तो से, जब से पाकिस्तान बना, साम्प्रदायिक झगडे चले, इमाम ने अजान लगानी बन्द कर दी, खुदा को पुकारना जैसे मौत को बुलावा देना हो। .... उसे लगा, कोई उसे भी बुला रहा है आ जा शौकत, भाग आ, चला आ !' यह आवाज पाकिस्तान से आ रही है। उसने अपने दोनो कानो मे ॲगलियॉ दे लीं। मगर आवाज आती ही जा रही है। हजारो मुसलमान, रावी के उस पार खडे उसे बुला रहे है – आ जा शौकत, भाग आ ...। .. सत्रह तारीख को यहॉ से चल पडेगे। ये झण्डे, ये दुकाने, यह सब कुछ यहॉ ही रह जायेगा।[71]

यह स्थिति केवल मुसलमानो के साथ ही नही थी बल्कि वतन छोडने का दर्द हिन्दुओ को भी उतना ही था। जैसा कि कहानी 'मॉ और माटी नही छोडेगे ! मे मिलता है इसमे पूर्वी पाकिस्तान के हिन्दू परिवार के अन्तर्द्वन्द का चित्रण है जिसमे अन्ततः परिवार का मुखिया अपना देश न छोडने का निर्णय करता है, यद्यपि परिवार के अन्य सदस्य कुछ समय के लिये कलकत्ता चले गये। 'आखिर उसने पूछा– तो अब आपकी क्या राय है ? .... धीरेन बाबू ने कहा – मैं अपनी राय दे चुका हूॅ। अब तुम जैसा ठीक समझो करो ! कायर की तरह भाग जाना आसान है, पर मनुष्य की तरह साहस और संयम के साथ डटे रहना जीवट वालो का ही काम है। तुममे साहस नहीं, जीवन नहीं तो भाग सकते हो। तुम्हारी रक्षा भगवान भी नहीं कर सकता । ... आपको मालूम है, रास्ते चलते गुण्डे ललकार–ललकार कर कहते है कि या तो उन्हें *(माँ बहनों)* सीधी तौर से हमारे हवाले कर दो, वर्ना दो दिन बाद मुसलमान बनना ही पडेगा। .. अब तुम लोग जाना ही चाहते हो, तो जाओ। ..... मातृभूमि को छोडकर कायर की तरह मै भागूॅगा नहीं।[72]

विभाजन से उपजी हिसक गतिविधियों पर काफी लिखा गया। यहॉ साहित्यकारो की कलम से दर्ज किये गये इतिहास के उस वीभत्स पहलू पर दृष्टि डाली जायेगी। यह एक ऐसा मजर था जो लोगों को बुरी तरह प्रतिक्रियावादी बना रहा था। इनमे शामिल बलवाइयो एव दगाइयों पर साम्प्रदायिक जुनून इतना हावी था कि वे हैवानियत के साक्षात प्रतिरूप प्रतीत होते थे। ऐतिहासिक दस्तावेजों एव ऑकडों मे सरकारी भाषा मे घटना की आकिक जानकारी दी जाती है। किन्तु जब साहित्यिक प्रमाण से इनकी पुष्टि होती है तो पूरे परिदृश्य की मानसिकता एव भावना की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

कहानी 'पेशावर एक्सप्रेस' मे इस पूरे परिदृश्य को पूरी सवेदना के साथ रूपायित किया गया है – जब मैं पेशावर से चली तो मैने एकाएक इत्मीनान की सॉस ली। मेरे डिब्बों मे ज्यादातर हिन्दू लोग बैठे थे .... और पाकिस्तान में अपनी जान और माल को सुरक्षित न पाकर हिन्दुस्तान का रुख कर रहे थे ..... लम्बे चौडे बलोची सिपाही .... इन हिन्दू– पठानो और उनके बीबी बच्चों की तरफ मुस्करा–मुस्कराकर देखते थे, जो भय के कारण उस धरती से भागे जा रहे थे, जहॉ वह हजारो साल से रहते चले आये थे .... आज यह मातृभूमि सरासर बेगाना हो गयी थी और उसने अपने मेहरबान सीने के किवाड उन पर बन्द कर लिये थे। .... तक्षशिला के स्टेशन पर मुझे बहुत अरसे तक खडा रहना पडा ... शरणार्थियो का जत्था आ रहा था शायद। . गॉव के

मुसलमान लोग उसे अपनी हिफाजत मे ला रहे थे। चुनॉचे हर एक मुसलमान ने एक काफिर की लाश अपने कन्धे पर उठा रखी थी।[73] इससे सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है कि बर्बरता किस सीमा तक पहुॅच गयी थी। इतना ही नही – ''मजमे के सरगने ने हिन्दू शरणार्थियों से कहा कि दो सौ आदमियो के चले जाने से उनके गॉव वीरान हो जायेगे। इसलिये वह गाडी मे दो सौ आदमी उतारकर अपने गॉव ले जायेंगे।'' इन उतारे हुये यात्रियो का भी वही हश्र हुआ – दो सौ जिन्दा लाशे, चेहरे उतरे हुये ... सब मर गये। अल्लाहो अकबर ! फर्श खून से लाल था।[74]

यहॉ यह ध्यातव्य है कि इस स्थानान्तरण की प्रक्रिया मे सुरक्षा के लिये जो सिपाही तैनात होते थे उनका भी रुख साम्प्रदायिक था और वे शरणार्थियो की सुरक्षा के बदले दंगाइयों के साथ हो जाते थे– 'लालमूसा के करीब लाशों से इतनी घृणित सडॉध निकलने लगी कि बलोची सिपाही उन्हे बाहर फेंकने को मजबूर हो गये ... थोडी देर में सब लाशें एक–एक हमराही के साथ बाहर फेक दी गयीं।[75] इसी तरह की स्थिति भारत से पाकिस्तान जाने वाले शरणार्थियो की थी – ''मुस्लिम मुसाफिरों को चलती गाडी मे डिब्बों से फेक दिया जाता।''[76] यही नही सरकार का रुख भी इस ओर से नकारात्मक ही था – 'यू.पी. मे उस वक्त प. गोविन्द वल्लभ पन्त की हुकूमत थी, वह इन वाकयात की रोकथाम की कोई फिक्र नहीं करते थे।'[77]

इस हादसे का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि महिलाओ पर किया गया अत्याचार नितान्त अमानुषिक था, जो बर्बर युग की याद दिलाता है। इसके पीछे सभवत महिलाओं को लेकर तमाम पूर्वाग्रह भी काम कर रहे थे कि इनकी अस्मिता एव सम्मान लूट लेने पर पूरी जाति के ऊपर धब्बा लगेगा ही साथ ही पीढियों तक इसकी छाया प्रभावित करेगी – 'बुर्कापोश औरतो ने शोर मचाना शुरू किया। हम हिन्दू है। हम सिख हैं। हमे जबरदस्ती लिये जा रहे है' . ... मुसलमान नौजवान हिन्दू औरतों को घसीट कर जगल मे ले गये और मै मुॅह छिपाकर वहॉ से भागी।'' किन्तु आगे की स्थिति और भी क्रूरतम हैवानियत की ओर सकेत करती है – 'चन्द मिनटो मे हुजूम स्टेशन पर आ गया आगे–आगे देहाती नाचते और गाते आ रहे थे और उनके पीछे नंगी औरतो का हुजूम था। मादरजाद नगी औरते। बूढी, नौजवान, बच्चियॉ, दादियॉ और पोतियॉ, मॉयें और बहुयें और बेटियॉ, क्वारियॉ और गर्भवती स्त्रियॉ नाचते और गाते हुये आदमियों के जत्थे मे थी। औरते हिन्दू और सिख थी और मर्द मुसलमान।' यह चित्रण पाशविकता को तो दर्शाता ही है लेकिन जब गाडी मे एक बच्चा एक बूढी औरत से पूछता है – मॉ तुम नहा के आयी हो ? और

उत्तर मे दादी ने अपने ऑसुओं को रोकते हुये कहा, हॉ नन्हें, आज मुझे वतन के बेटो ने नहलाया है।''[78] तो पूरे परिदृश्य को सवेदनशील बना देता है, इस साक्ष्य के साथ कि लोगो के अन्दर कितनी संवेदनशून्यता पैदा हो गयी थी।

यह दृश्य ऐसा नहीं था कि केवल मुस्लिम क्षेत्र मे ही देखने को मिल रहा था, कमोवेश वही स्थिति इधर भी थी। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें वे लोग भी सम्मिलित थे जो ऐसी ही स्थितियों से गुजर कर आये थे– 'कुछ खास जोशीले शरणार्थी नौजवानों के एक गिरोह ने आज शिकार किया। .... बन्नो ने देखा चार पॉच आदमियों ने एक नौजवान लड़की को जमीन पर दाब रखा है, लडकी चित लेटी है या लिटाई हुई है। उसके तन पर एक भी कपडा नहीं है। दो तीन जवान उसके हाथ पॉव कसे हुये हैं और वह मादरजाद नंगी लडकी छटपटा रही है।' लेकिन यहॉ गौर करने की बात यह है कि इसी कहानी की मुख्य पात्र बन्नों जो स्वयं पाकिस्तान मे इसी स्थिति से गुजर चुकी होती है, इस पूरे दृश्य को देखकर पहले तो 'बन्नों के भीतर बैठे हुये पशु की आत्मा को गभीर सतोष मिला, इसे ऐसे ही चीर डालना चाहिए .... इसी का खुदा उन जानवरो का भी खुदा है।' लेकिन अगले ही पल वह निर्णय ले लेती है – 'बन्नो ने बिजली की तेजी से दौडकर उस लडकी के पेट मे खंजर भोक दिया था और वही खंजर अपने सीने मे चुभा लिया था। उस मुसलमान लडकी को खंजर बहुत गहरा लगा था और वह फौरन मर गयी। बन्नो को हल्का घाव लगा था .... वह खुद नहीं मरी तो उसके उदास चेहरे पर उदासी का एक और गहरा लेप चढ गया।''[79] इससे यह स्पष्ट होता है कि ऐसे पाशविक कुकृत्य दोनो ही ओर से हो रहे थे लेकिन जो स्वय इस यन्त्रणा के दौर से गुजरे हुये थे, वे इसे रोकना भी चाहते थे।

दोनो ही तरफ के इन्सान (शायद) जो इस प्रकार की असामाजिक गतिविधियो मे लगे थे, उनकी दृष्टि में उनका यह कार्य कौम और अपने धर्म की सेवा थी– 'उनका खून भी खून है पानी नही, उन्हे बदला लेने आता है, वह अपनी जिल्लत का बदला लेगे अपने धर्म की किसी लडकी की लुटी हुई अस्मत का बदला वह दुश्मन की लडकी की अस्मत लूटकर चुकायेंगे। ... पास के एक गॉव से पॉच छः नौजवान .... एक लडकी को उठा लाये थे . ... उसकी अस्मत लूटकर न सिर्फ अपनी वहशत को खुराक पहुॅचा रहे थे बल्कि उसके साथ ही अपने कौम की खिदमत के बोझ से भी दबे जा रहे थे।''[80] धार्मिक भावना का रूप यह भी था – ''सत श्री अकाल ! और हिन्दू धर्म की जय !'' के नारो की गूॅज से जगल कॉप उठा और मुसलमान किसान घेर लिये गये' तो दूसरी ओर के दगाइयो के भीतर भी मजहब का जज्बा था– 'लाइन लगाओ काफिरो।'[81]

इन दगों से आर्थिक पक्ष बुरी तरह प्रभावित हुआ इसका भी चित्रण तत्कालीन साहित्य मे मिलता है– शहर के बहुत से मुसलमान जो आजिमे पाकिस्तान (पाकिस्तान जाने को तैयार) थे, सडको पर लाकर अपना सारा सामान जमा कर देते और उसे ठठेरी औने पौने खरीद लेते खास तौर पर तॉबे पीतल के बरतन''[82] तो पाकिस्तान से आये शरणार्थियों की आर्थिक दशा कुछ ऐसी थी – ''टीन के बड़े बक्स, मॅझोले बक्स, छोटे बक्स, खाटों के पाये, पाटियॉ, सुतली या बाध सब अलग–अलग। .... इसी गिरस्ती से घिरे बॅधे वे इस नयी दुनिया में अपने लिये जगह बना रहे थे .... बच्चे धूप में सने कुछ सहमे–सहमे से खेल रहे थे। लोहता की खाक का मिलान हजारा की खाक से कर रहे थे।''[83]

इस साम्प्रदायिक हिंसा का मर्मान्तक परिणाम महात्मा गाधी की हत्या के रूप मे आया जब एक हिन्दू सम्प्रदायवादी ने उनकी हत्या कर दी। साहित्यकारों ने इस पर लिखते हुये साम्प्रदायिकता पर कडा प्रहार किया। 'गोडसे के नाम खुली चिट्ठी' में अमृत राय इस पर व्यंगात्मक प्रहार करते हैं – ''हिन्दुओ की रगो मे खून नहीं पानी बहता है, जो लाखों की तादात मे मौत के घाट उतारे जाकर, लाखों बहू बेटियों की इज्जत गवॉकर, अपनी ऑखो के आगे मुसलमान गुण्डो के हाथो, उनका सतीत्व लुटता देखकर .. वे इस खूसट बुड्ढे की बात सुनते है– ... पजाब के हिन्दुओ और सिखों की बरबादी का बदला गॉधी जी से लेकर आपने दिखा दिया कि भारत अभी भी भौगोलिक और ऐतिहासिक और सास्कृतिक दृष्टि से एक है .... हिन्दुओ और मुसलमानों को मिलकर रहना चाहिए ..... साठ पर ही अक्ल सठिया जाती है, बुड्ढा तो अब अस्सी का था ... हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है। हम हिन्दुस्तान मे हिन्दू राज बनायेगे।''[84] गोडसे के बहाने किया गया यह व्यग्य उन साम्प्रदायिक शक्तियो की मानसिकता को उजागर करता है जिनका कि देश के विभाजन एव साम्प्रदायिकता के विकास में महत्वपूर्ण हाथ रहा था।

इलाहाबाद के प्रख्यात शायर वामिक अहमद मुजतबा ने गांधी के प्रति लिखी अपनी कविता 'यह किसका खून बह गया मे' गाधी को इस तरह याद किया कि जिस सद्भावना एव सौहार्द की स्थापना के लिये उन्होने जीवन भर कार्य किया आखिर उसके कारण ही उनकी हत्या हो गयी– तमाम उम्र दर्से अमनो, आश्ती दिया किया / तमाम उम्र जो इसी उम्मीद पर जिया किया / कि एक दिन जरूर सारे तफरिके मिटायेगा / फसाद का यह खोखला तिलिस्म टूट जायेगा / वही बुजुर्गे खानदान / वही हमारा पासवॉ / हमी से आज छुट गया / सोहाग मादरेवतन का अपने हाथो लुट गया।[85] कमाल अहमद सिद्दीकी

ने इस तरह याद किया कि— एक हृदय क्रान्ति की जन्मभूमि / प्रेम का मन्दिर भी था / मौत की अधियारियो मे सो गया / और खूनी इन्कलाब / अपनी निर्दयता मे खुद ही खो गया।[86] इन दोनों ही कविताओ को तत्कालीन साम्प्रदायिक हिसक स्थितियों को गाधी जी की हत्या के लिये जिम्मेदार ठहराया गया है।

इस पूरे परिवेश में हिंसक घटनाओं का ही बोलबाला था किन्तु ऐसा नही था कि दोनों ओर की पूरी जनसंख्या ही इस प्रक्रिया में शामिल थी। यद्यपि कि एक बडा हिस्सा तटस्थ था किन्तु ऐसे भी लोग थे जो माहौल को शान्त करने की कोशिश मे लगे थे। कहानी मॉ और माटी नहीं छोडेंगे' के नायक के प्रयास से इस स्थिति मे इस प्रकार बदलाव आता है— 'इस्लाम जोर जबरदस्ती और गुंडेपन का नाम नही है। सच्चा मुसलमान कभी किसी कमजोर और बेकसूर पर हमला नही करेगा, उसे लूटे मारेगा नही ... इसी तरह सच्चा हिन्दू भी कभी ऐसा नही करेगा। पर आज तो दोनो मजहब के नाम पर हैवान से भी बदतर हो गये है।''[87] इसके बाद पूरा परिदृश्य ही बदल जाता है और जुलूस निकलता है— हिन्दू मुस्लिम नही लडेगे। मॉ और माटी नही छोडेगे। इसी तरह कहानी 'बदला' का शरणार्थी सिख कहता है— 'मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिन्दू हो चाहे सिख हो, चाहे मुसलमान हो, जो मैंने देखा है वह किसी को न देखना पडे और मरने से पहले मेरे घर के लोगों की जो गति हुई, वह परमात्मा न करे, किसी की बहू—बेटियो को देखनी पडे।''[88]

इसी प्रकार 1947 के हस के सम्पादकीय[89] में व्यापक रूप से उन स्थितियो की चर्चा की गयी है जिससे साम्प्रदायिकता फली फूली और इसके साथ ही सयुक्त संस्कृति की बात करते हुये ऐसे तत्वो से सावधान रहने का सकेत भी किया गया है। सौहार्द स्थापित करने का प्रयास इलाहाबाद मे भी दिखायी पडता है — ''1947 मे जब हर तरफ मारकाट हो रही थी, इलाहाबाद मे हर जगह एक तनाव की सूरत थी उसी वक्त मुहर्रम आ पडा। इलाहाबाद के मुसलमानो ने हालात को देखते हुये यह तय किया कि मुर्हरम नही उठायेगे. ..... आखिर जब सातवीं मुहर्रम आयी तो कुछ लोगो ने जुलूस का दुलदुल निकाला .... लोकनाथ पर कुल छ सात शिया मुसलमान रह गये, दुलदुल था और एक अलम कि लोकनाथ के अन्दर से चन्द हिन्दू हजरात निकले और आकर इस छोटे से जुलूस मे शामिल हो गये और कोतवाली तक सब साथ—साथ रहे।''[90] इससे स्पष्ट होता है कि यदि कुछ लोग विद्वेष फैला रहे थे, साम्प्रदायिक हिसा की आग को ईधन दे रहे थे तो ऐसे भी लोग थे और ऐसी भी भावनायें थी जो इस स्थिति से निपटने का सकारात्मक प्रयास कर

रही थी।

यहॉ कुछ साहित्यकारो द्वारा इस पूरे वाकयात पर की गयी टिप्पणियो को उद्धृत करना समीचीन है। प्रख्यात शायर साहिर लुधियानवी तब इलाहाबाद मे ही रहते थे लेकिन उन्होने लाहौर के एक मुशायरे में यह शेर कहा था—

चलो वह कुफ़्र के घर से सलामत आ गये लेकिन
खुदा की मुमलेकत में सोखता जानो पर क्या गुज़री।[91]

-x--x--x--x-

मेरा इल्हाद तो खैर एक लानत था सो अब भी है,
मगर इस आलम ए वहशत मे ईमानों पे क्या गुजरी।[92]

इन पक्तियो मे बिना किसी भेदभाव के जो टिप्पणी की गयी है वह पूरे वातावरण पर है। इसी प्रकार अज्ञेय की कविता शरणार्थी की पंक्तियॉ भी पूरे परिवेश के हालात को बयान करती है— वैर की परनालियो से हॅस—हॅसके/हमने सीची जो राजनीति की रेती/ आज उसमे बह रही खूॅ की नदियॉ है/कल ही जिसमे खाक मिट्टी कहके हमने थूका था/ घृणा की आज उसमे पक गयी खेती/फसल काटने को अगली सदियॉ है।[92]

इस कविता में कारण एवं परिणाम एवं भविष्य तीनों के ही ऊपर टिप्पणी है। इसी तरह प्रख्यात शायर कैफी आजमी ने पूरे माहौल पर टिप्पणी की—

लूट ली जुल्मत ने रू ए हिन्द की ताबन्दगी
रात के कॉधे पे सिर रखकर सितारे सो गये,
वह भयानक ऑधियॉ वह अब तरी, वह खलफशर,
कारवॉ बे राह हो निकला मुसाफिर खो गये।[93]

यहॉ निष्कषर्तः कहा जा सकता है कि जो साम्प्रदायिक राजनीति की शुरुआत की गयी थी उसकी आखिरी परिणति काफी विकृत रही। जहॉ बहुत से लोगो को आर्थिक एव जनहानि का सदमा झेलना पडा वहीं दो राष्ट्रो के निर्माण की नींव में जो साम्प्रदायिक विद्वेष का पत्थर लगाया गया उसने उस समय के परिवेश को तो प्रभावित किया ही आगे के लिये भी माहौल को खौफनाक बना गया।

✦✦✦✦✦

सन्दर्भ

1. यह संख्या अनुमानित है, क्योकि उस माहौल मे एकदम सही आकडो का एकत्रीकरण संभव नही था। लेकिन कतिपय आकडो के लिये जफर इमाम द्वारा सम्पादित मुस्लिम इन इंडिया, नई दिल्ली, 1975 में उनके द्वारा लिखित 'सम आस्पेक्ट्स आफ द सोशल स्ट्रक्चर आफ द मुस्लिम कम्युनिटी इन इंडिया' पृ. 76, को देखा जा सकता है।

2. वही, पृ 76.

3. जनगणना (भारत) 1951, पृ. 62.

4. इमाम जफर, वही, पुस्तक, पृ. 80.

5. ब्रास पाल आर., लैंग्वेज, रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया, कैम्ब्रिज, 1974, पृ. 142—43.

6 वही, पृ 150—53.

7. इमाम जफर, वही पुस्तक, पृ. 81.

8 नेशनल हेराल्ड, 21 जनवरी 1948.

9. असलम मोहम्मद, एलीट वर्सेस अर्टेजन लीडरशिप : मुस्लिम्स एण्ड पालिटिक्स इन उत्तर प्रदेश 1947—92, डी फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध (अप्रकाशित) ला टोब्रे युनिवर्सिटी, बुन्डूरा, विक्टोरिया, आस्ट्रेलिया, 1993, पृ. 33.

10. फिलिप सी.एच एण्ड वेनराइट मेरी डोरेन (सपा.), पार्टीशन आफ इडिया : पालिटिक्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स 1935—47, लन्दन 1970, मे राजा आफ महमूदाबाद, सम मेमोरीज मे उद्धृत, पृ. 34.

11. असलम मोहम्मद, एलीट वर्सेस . में उद्धृत, पृ. 34.

12. वही, पृ. 35—36.

13 रिजवी सैयद मो अकील, इलाहाबाद की संस्कृति और शायरी, इलाहाबाद सग्रहालय, 1996, पृ 60.

14. नेशनल हेराल्ड, 8 जनवरी 1948.

15. नेशनल हेराल्ड, 3 जनवरी 1948.

16. नेशनल हेराल्ड, 20 जनवरी 1948.

17. ए बंच आफ ओल्ड लेटर्स, मोसले टु जवाहर लाल, पृ. 315, बी पी. चट्टोपाध्याय, क्या देश का विभाजन अनिवार्य ही था ? सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1997, पृ 174 पर उद्धृत।

18. नेशनल हेराल्ड, 9 फरवरी 1948.

19 वही

20. नेशनल हेराल्ड, 15 फरवरी 1948.

21. हसन मुशीरुल, एडजेस्टमेंट एण्ड एकमोडेशन : इंडियन मुस्लिम्स आफ्टर पार्टीशन, सोशल साइसिस्ट भाग 18, अगस्त–सितम्बर अंक 8–9 1990, पृ. 52.

22. गोपाल एस. जवाहर लाल नेहरू : ए बायोग्राफी, खण्ड 2 : 1947–1956, दिल्ली, 1989, पृ. 92.

23. ब्रास पाल आर., वही पुस्तक, पृ. 152.

24. वही, पृ. 177.

25. वही, पृ 235.36.

26 नेशनल हेराल्ड, 8 जनवरी 1948.

27 नेशनल हेराल्ड, 4 जनवरी 1948.

28 नेशनल हेराल्ड, 1 अगस्त 1949.

29. नेशनल हेराल्ड, 23 अप्रैल 1948.

30 नेशनल हेराल्ड, 29 अप्रैल 1948.

31 नेशनल हेराल्ड, 17 नवम्बर 1948.

32. गुप्ता एन एल. (संपा), नेहरू आन कम्यूनलिज्म, नई दिल्ली, 1965, पृ. 209.

33. हसन मुशीरुल, वही पुस्तक, पृ. 54.

34 इमाम जफर, वही पुस्तक, पृ. 94.

35. वही, पृ. 95.

36 असलम मोहम्मद, वही पुस्तक, पृ. 80.

37. वही

38 वही, पृ 26.

39 वही, पृ 27.

40 वही, पृ. 28.

41 पार्थसारथी जी, (सपा.), नेहरू : लेटर्स टू चीफ मिनिस्टर 1947–64, खण्ड–2, दिल्ली, 1987, पृ 379.

42. गोपाल एस. वही पुस्तक, उद्धृत पृ. 92.

43. नेशनल हेराल्ड, 11 सितम्बर 1949.

44. नेशनल हेराल्ड, 1 जनवरी 1948.

45. नेशनल हेराल्ड, 15 अप्रैल 1948.

46. नेशनल हेराल्ड, 14 जून 1948.

47. वही

48. नेशनल हेराल्ड, 2 जनवरी 1948.

49. हंस, जनवरी 1948 के सम्पादकीय में उद्धृत पृ. 318.

50. हस जनवरी 1948, सम्पादकीय,संपा. अमृतराय, पृ 318.

51. वही, पृ. 318.

52 वही, उद्धृत, पृ. 321.

53. वही, उद्धृत, पृ. 322.

54. शर्मा राम विलास, जनतन्त्र और हिन्दी, हस, जनवरी 1948, पृ 334.

55. वही, पृ. 336.

56. जनतन्त्र और हिन्दी, हस 1948 मे उद्धृत पृ. 336.

57. जनतन्त्र और हिन्दी, हंस पृ. 336.

58. वही. पृ. 337.

59. राय अमृत, संपादकीय हस, अगस्त 1947, पृ 827.

60. वही

61 रिजवी, सैयद मो. अकील, वही पुस्तक, पृ. 68.

62 वही पृ. 69.

63. सम्पादकीय, हस जनवरी 1948, पृ. 322.

64 उद्धृत, सम्पादकीय हस जनवरी 1948,पृ 321.

65. शर्मा राम विलास, जनतन्त्र और हिन्दी, पृ 336–38.

66 राय अमृत, हस जनवरी 1948, पृ. 322.

67 रिजवी अकील, वही पुस्तक पृ. 59.

68 वही, पृ. 61–62.

69. मुजफ्फर शाहजहॉ पूरी, रिजवी अकील की इलाहाबाद की . मे उद्धृत पृ. 62.
70. आजमी कैफी, कशमकश, हस दिसम्बर 1947 पृ 204—05.
71. पॉच दिन पहले, हस, दिसम्बर 1847, पृ 206—09.
72. मॉ और माटी नही छोडेगे ! हस, नवम्बर 1947 पृ. 99—104.
73. पेशावर एक्सप्रेस, हस नवम्बर 1847 पृ. 129.
74. वही
75 वही, पृ 130.
76 रिजवी अकील, वही पुस्तक पृ. 62.
77. वही, पृ. 62.
78. हंस, नवम्बर 1947, पृ. 131.
79. राय अमृत, व्यथा का सरगम, हस, मार्च 1948, पृ. 364—65.
80. वही, पृ 365.
81. पेशावर सक्सप्रेस, हस, नवम्बर 1947, पृ 129—31.
82. रिजवी अकील, वही पुस्तक, पृ 62.
83. राय अमृत, व्यथा का सरगम, हस, मार्च 1948, पृ 364.
84. राय अमृत, गोडसे के नाम खुली चिट्ठी, मार्च 1948, पृ. 434.
85. हस, मार्च 1948, पृ. 396.
86 हंस मार्च, 1948 पृ. 398.
87 हस, नवम्बर 1947, पृ. 103—04.
88. हस, मार्च 1948 पृ 342.
89. रिजवी अकील, वही पुस्तक, पृ 83.
90 लोधियानवी साहिर, अकील रिजवी की पुस्तक मे उद्धृत, पृ 71.
91. वही, पृ. 65
92. हंस, दिसम्बर 1947, पृ. 163—64.
93. हस, जुलाई 1948, पृ 665 पर उद्धृत

✦✦✦✦✦

अध्याय—6
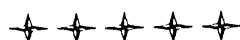
उपसंहार

राष्ट्रवाद एवं सम्प्रदायवाद जैसी परस्पर विरोधी अवधारणाओं ने लगभग समानान्तर रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन में दस्तक दी और दोनों का परिणाम भी एक साथ आया स्वतन्त्रता एवं विभाजन के रूप में। स्पष्टतः साम्प्रदायिकता एक आधुनिक किन्तु प्रतिक्रियावादी पश्चगामी अवधारणा है। सामान्यतः साम्प्रदायिकता वह स्थिति है, जहाँ विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सदस्यों के बीच पारस्परिक भय एवं अविश्वास की उपस्थिति होती है। यह स्थिति पूरे परिवेश के लिये नकारात्मक प्रभाव वाली होती है। इसके मूल में तथाकथित धर्म एवं धार्मिक मनोवृत्ति की भूमिका होती है। साम्प्रदायिकता का विकास धर्म के दो पक्षों आन्तरिक अथवा नैतिक तथा वाह्य या कर्मकाण्ड एवं रीति—रिवाज में दूसरे पक्ष को प्रधान मान लेने के कारण हुआ। इन्हीं दोनों किनारों के बीच साम्प्रदायिकता के अन्य अवयव जुड़ते गये तथा साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का विकास होता गया।

साम्प्रदायिकता अनेक कारकों से उद्भूत परिस्थितियों का परिणाम थी। इसके मूल में यह भाव निहित था कि समुदाय विशेष के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक हित एक दूसरे के विरोधी हैं। ऐसी स्थिति में विरोधी हितों एवं प्रवृत्ति के लोगों का एक साथ न तो रहना ही संभव है और न हितों की पूर्ति ही संभव है। इस प्रवृत्ति ने राजनीतिक मुद्दों को धार्मिक चश्मे से देखने की शुरुआत की। जिसमें सामाजिक, आर्थिक विकास की उपेक्षा की गयी, लेकिन बार—बार यही दोहराया गया कि पूरी लड़ाई इन्हीं मुद्दों पर आधारित है। इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिक विचारधारा समाज को एक विशेष नजरिये से देखने एवं गतिशील करने की विधा है।

सम्पूर्ण साम्प्रदायिक परिदृश्य को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि इसे विकसित करने में कुछ अन्य कारक भी सहायक थे। जैसे सामान्य जनता को धर्म के सच्चे स्वरूप का अज्ञान, विवेक की जगह भावना का प्रयोग एवं धार्मिक कर्मकाण्डों एवं परम्पराओं को ही धर्म मान लेने की प्रवृत्ति। ये कुछ ऐसे तत्व थे जिनको धर्म एवं सम्प्रदाय के तथाकथित ठेकेदारों ने बहुप्रचारित एवं प्रसारित किया और यह प्रचार इस तरह का था कि साम्प्रदायिक हितों की तुलना में राष्ट्रीय हित बौने पड़ते गये। मानवीय हितों

की जगह व्यक्तिगत हित प्रभावी हो गये। इसे बढाने एव विकसित करने मे आर्थिक अभाव, शैक्षिक पिछड़ापन, बेरोजगारी आदि ने भी अपनी–अपनी भूमिका का निर्वहन किया।

औपनिवेशिक शासन की भूमिका इसे बढाने की अवश्य रही है, लेकिन केवल इसे ही आरोपित करके उत्तरदायित्वो से मुक्त नही हुआ जा सकता है। औपनिवेशिक शासन द्वारा भारतीय इतिहास को हिन्दू काल, मुस्लिम काल जैसी शासकीय विचारधारा मे बॉटने का प्रयास तभी संभव हुआ जबकि दोनो सम्प्रदायों के लोगों ने ऐसा करने का अवसर दिया। ऐसी स्थिति मे औपनिवेशिक शासन की भूमिका को इसके मूल कारक के रूप मे नही बल्कि इसका उपयोग करने वाली मनोवृत्ति के रूप मे देखना चाहिए, क्योकि यहॉ संयुक्त सस्कृति की लम्बी परम्परा विकसित थी, लेकिन जब ब्रिटिश शासन ने इसे अपने हितों के अनुरूप प्रयुक्त करना शुरू किया तो स्थितियॉ इतनी उलझती गयीं कि तनाव की परिणति हिसात्मक मनोवृत्ति के रूप मे होने लगी।

साम्प्रदायिक हिसा को अमूर्त विचारधारा के मूर्त स्वरूप के रूप में देखा जाना चाहिए। महत्वपूर्ण यह है कि यह (हिसा), साम्प्रदायिक विचारधारा/मनोवृत्ति के विकास एवं विस्तार में सहायक के रूप मे अपना अस्तित्व रखती है। साम्प्रदायिक दंगे धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों को भी साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा के लिये विवश करते है और वे अपने जीवन एव भौतिक ससाधनो की सुरक्षा के लिये साम्प्रदायिक तत्वो पर निर्भर हो जाते है। व्यक्ति सगठन या समूह मे अपने को सुरक्षित महसूस करने लगता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि साम्प्रदायिक हिसा मे प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है क्योकि इसमें व्यक्ति/समूह विशेष को जिम्मेदार न मानकर पूरे सम्प्रदाय की जिम्मेदारी निश्चित कर दी जाती है। ऐसी स्थिति में एक ऐसा दुष्चक्र कायम हो जाता है, जिसमे छोटी–बड़ी किसी भी घटना पर सम्प्रदाय को उद्वेलित/उत्तेजित किया जा सकता है। उल्लेखनीय यह है कि इसमें ऐसे लोग ज्यादा प्रभावित होते हैं, जिनका इस सकीर्ण विचारधारा के पोषण–पल्लवन में कोई हाथ नहीं होता है, लेकिन प्रभावित होने के बाद ऐसे व्यक्तियो के अन्दर भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति घर कर जाती है। ऐसी स्थिति मे दंगे ही लोगो की अवधारणा विचारधारा एवं इच्छा को निर्धारित करने एव परिवर्तित करने मे प्रभावकारी भूमिका निभाने लगते है।

ऐसी स्थिति मे भावनात्मक सवेग बडी तीव्र गति से योजना / उद्देश्यपूर्ण तरीको से बढाये जाते है। जिससे लोगों के अन्दर बढता सामीप्य ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करता है, फलस्वरूप तनाव एव विद्वेष की प्रवृत्ति बढती जाती है। सवेगात्मक लहर पैदा करने के लिए तथ्यो को तोड–मरोडकर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि मिथ्या सन्दर्भो मे भी ये सही प्रतीत होने लगते हैं। ऐसी स्थिति मे अपने उद्देश्यों के अनुरूप लोगों की मानसिकता को परिवर्तित करने मे स्वार्थी तत्व सफल हो जाते है। इसे भारत में विकसित साम्प्रदायिकता के स्वरूप द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

प्रारम्भ में भारत में साम्प्रदायिकता की अवधारणा औपनिवेशिक शासन से कतिपय सुविधाओं की प्राप्ति तक सीमित थी लेकिन साम्प्रदायिक चेतना के क्रमशः विस्तार ने इसके रुख को कठोर बना दिया। इसके पीछे मुस्लिम नेतृत्व की यह भावना काम कर रही थी कि औपनिवेशिक शासन से मिलकर ही अपने सामुदायिक हितो की सुरक्षा की जा सकती है। इसे सैयद अहमद द्वारा मुस्लिम हितो की सुरक्षा एवं सरक्षा के लिए औपनिवेशिक शासन को दिये गये सहयोग के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन 1880 एवं 1890 के दशक मे साम्प्रदायिकता विस्तृत आकार लेने लगती है क्योकि इसी समय हिन्दी–उर्दू विवाद एव गोरक्षा आन्दोलन काफी तीव्रता के साथ विकसित हुये। ऐसी स्थिति में दोनो समुदायो के बीच वैमनस्य काफी तीव्रता से बढा और पहली बार व्यापक तौर पर सामूहिक हिसात्मक गतिविधियॉ प्रस्फुटित हुई।

इसी दौर में जब कांग्रेस की स्थापना हुई तो उसमे हिन्दू प्रभुत्व एव बाद मे उग्रवादी नेताओं के कारण मुस्लिम मानसिकता मे असुरक्षा की भावना घर करने लगी और यह भावना सागठनिक स्वरूप लेती हुई मुस्लिम लीग की स्थापना के रूप मे साकार हुई। ब्रिटिश सरकार को यह स्वर्णिम अवसर मिला कि काग्रेस के रूप मे बढते राष्ट्रवाद को प्रति सतुलित करने के लिये मुस्लिम लीग को संरक्षण दे, जिसकी पृष्ठभूमि 'अलीगढ स्कूल' ने ही तैयार कर दी थी। 1909 के सुधारो में पृथक निर्वाचन की व्यवस्था से स्पष्ट होता है कि मुस्लिम हितो के संरक्षण के प्रति वह सचेत थी। यह और बात है कि इसके तुरन्त बाद ही दोनों के बीच बढती दूरी के सकेत भी मिलते हैं क्योंकि 1911 मे बंगाल विभाजन का रद्द किया जाना तथा अलीगढ़ कालेज को विश्वविद्यालय की मान्यता की अस्वीकृति इसके प्रमाण है।

इसके बाद कांग्रेस एव मुस्लिम लीग के बीच हुआ लखनऊ समझौता साम्प्रदायिक उभार को रोकने मे कुछ समय तक सफल अवश्य रहा किन्तु लीग की साम्प्रदायिक मॉगो की स्वीकृति कांग्रेस के अखिल भारतीय धर्मनिरपेक्ष चरित्र पर प्रश्नचिह्न भी है और सीमा भी इस रूप मे कि 1918 के बाद से ही लीग पर उलेमाओं का प्रभाव बढता जा रहा था। साम्प्रदायिक भावना इसलिये भी बढती जा रही थी कि हिन्दू महासभा (1915) के रूप में हिन्दू सम्प्रदायवादियों को भी एक मंच प्राप्त हो गया था।

खिलाफत आन्दोलन के अतिशय धार्मिक प्रकृति के बावजूद कांग्रेस द्वारा उसका समर्थन साम्प्रदायिकता के इतिहास में एक ऐसा मोड है, जिससे कांग्रेस द्वारा समस्त भारतीयों की ओर से बोलने का अपना अधिकार सीमित कर लिया जाता है और खिलाफत आन्दोलन की असफलता का आरोप भी उसे झेलना पडता है। यहॉ से साम्प्रदायिक गतिविधियो का उभार तेजी से होता है, साथ ही राष्ट्रीय मुद्दो पर भी मुस्लिम लीग का समर्थन मिलना लगभग बन्द हो जाता है। जैसा कि साइमन कमीशन तथा नेहरू रिपोर्ट पर उसके रुख से स्पष्ट है।

जनसंख्या के आकिक पक्ष की उपेक्षा करते हुये भी मुस्लिम लीग द्वारा अधिक प्रतिनिधित्व की माँग उसके साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को ही पुष्ट करती है। साथ ही कांग्रेस की द्विविधाग्रस्त स्थिति के प्रति हिन्दू महासभा जैसे– हिन्दू संगठन का प्रभाव दबाव के रूप मे कार्यरत था। इसके पीछे यह तथ्य निहित है कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों की ही सदस्यता का कोई निश्चित मानदण्ड नही था। ऐसी स्थिति मे धार्मिक एव साम्प्रदायिक सगठनो के सदस्य होते हुए भी लोग इन राजनीतिक दलो के लिये कार्य करते थे। इसलिये साम्प्रदायिकता पर कोई प्रभावी नियत्रण सम्भव नही हो सका।

इस स्थिति मे औपनिवेशिक शासन को यह अवसर मिलता गया कि वह अपनी सुविधानुसार अपनी नीतियो को सचालित करे। गोलमेज परिषद के परिणाम, सविनय अवज्ञा आन्दोलन की निराशाजनक परिणति एव 1935 के सुधार अधिनियमो मे उसकी प्रतिबद्धता अपने हितो की पूर्ति की दिखायी देती है। 1937 के चुनावों के बाद बने काग्रेस मंत्रिमण्डलों के पास प्रभावी शक्ति न होने के कारण सुचारु रूप से कार्य न कर पाने को मुस्लिम लीग द्वार दुष्प्रचारित किया जाना साम्प्रदायिक दृष्टि से ही हो रहा था क्योकि मुस्लिम लीग बार–बार हिन्दी, वन्देमातरम् एव राष्ट्रीय झण्डे के प्रश्न पर कांग्रेस के दृष्टिकोण को हिन्दू प्रभुत्व के रूप मे प्रचारित कर रही थी। क्रिप्स

प्रस्ताव एवं वेवेल योजना पर किसी सहमति के न बन पाने के पीछे साम्प्रदायिक मन्तव्य ही निहित था क्योकि दो राष्ट्र सिद्धान्त अब स्पष्ट आकार ले चुका था। जिसकी अगली कडी के रूप मे कैबिनेट प्रस्तावो पर अस्वीकृति एव 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर भडके दगे साम्प्रदायिक राजनीति को न केवल अन्तिम बिन्दु तक ले जाते है बल्कि भविष्य के लिये सकेत भी छोड जाते हैं।

इस पूरी राजनीतिक प्रक्रिया मे केवल धार्मिक दृष्टि को प्रभावी मानना तथ्यात्मक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण ही नही बल्कि निष्कर्ष का अति सरलीकरण होगा। यह सत्य है कि धार्मिक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ने मामले को उलझाया जरूर था, किन्तु इसके पीछे अविकसित अर्थव्यवस्था एवं अल्पविकास का महत्वपूर्ण हाथ था। मुसलमानो की यह सोच थी कि सरकारी नौकरियों एव व्यवसायो में यदि उनका हिस्सा बढा दिया जाय तो उनकी स्थिति मजबूत होगी तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक सोच के हिन्दुओं एव हिन्दू संगठनो का मानना था कि यदि यह हिस्सा बढ जाता है तो उनके हित प्रभावित होगे। ऐसी स्थिति मे स्वार्थी तत्वो को अवसर मिलता गया तथा साम्प्रदायिक समस्या जटिलतर होती गयी।

पूर्वी–उत्तर प्रदेश मे हिन्दुओ एव मुसलमानो की सामाजिक–आर्थिक सरचना ने समस्या को और अधिक उलझाया। सरकारी नौकरियो मे मुसलमानो का अधिकाश प्रतिनिधित्व निचले स्तर की नौकरियों तक सीमित था तथा अधिकाश मुसलमान व्यवसायिक दृष्टि से बुनकरी के पेशे में सलग्न थे। यह आधिक्य इसलिये था कि प्रायः इनमे धर्मान्तरित मुसलमानो की सख्या अधिक थी।अल्पविकास का कारण शिक्षा का अभाव भी था। हिन्दुओ की आर्थिक स्थिति तुलनात्मक रूप से ही अच्छी थी क्योकि उनके पास भूसंसाधन के रूप में एक प्रमुख आर्थिक आधार था, किन्तु इसका सकेन्द्रण ब्राह्मण, राजपूत एव भूमिहार जैसी उच्च्व जातियो तक था। यद्यपि कि सैयद, शेख एव पठान जैसे उच्च्व मुस्लिम वर्ग के पास भी कुछ जमीदारियॉ थी, किन्तु ब्रिटिश शासन के विस्तार से जमीदारियॉ सिकुडती गयीं। ऐसी स्थिति में आर्थिक नियत्रण एक प्रमुख कारण बना। निम्न जातियों की ओर से अपने स्तरोन्नयन के प्रयास की प्रवृत्ति दिखायी देती है। भिन्न–भिन्न मुद्दो के आधार पर हिन्दू एव मुस्लिम दोनो में अलग–अलग जातियॉ अपने हितो के प्रति सगठित हो जाती थी। लेकिन साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति में ये लोग अपने–अपने वर्ग की जमीदार जातियों के पक्ष मे सगठित हो जाते थे तथा व्यापक रूप से घटित हिसात्मक गतिविधियों मे इनकी प्रभावी भागीदारी होती थी।

इस क्षेत्र मे तनाव बढाने में हिन्दी–उर्दू विवाद एव गोरक्षा आन्दोलन की भूमिका महत्वपूर्ण थी। उर्दू–हिन्दी विवाद ने लोगो की मानसिक स्थिति को साम्प्रदायिक दृष्टि से पुष्ट किया और आर्थिक ससाधन एव धार्मिक मान्यता के प्रतीक रूप गाय से जुडे गोरक्षा आन्दोलन से हिंसात्मक घटनाये प्रस्फुटित हुई। इन दोनो ही आन्दोलनो की पृष्ठभूमि में हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन की प्रवृत्तियॉ कार्य कर रहीं थी। हिन्दी–उर्दू विवाद मे प्रायः यह देखने में आया कि हिन्दू उच्चवर्ग हिन्दी का और मुस्लिम अभिजात वर्ग उर्दू का पक्षधर था। हिन्दी उस समय तक उच्च वर्ग के कुछ साक्षर लोगों तक सीमित थी जबकि उर्दू सरकारी काम–काज की भाषा होने के कारण हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के लिये समान रूप से न केवल शिक्षा का साधन थी, बल्कि जीविका से भी जुडी हुई थी।

पुनरुद्धार आन्दोलन के द्वारा उर्दू को विदेशी भाषा के रूप मे प्रचारित किया जाने लगा तथा यह मॉग की जाने लगी कि हिन्दी को सरकारी कामकाज की भाषा बनाया जाय क्योंकि यह बहुसख्यक हिन्दुओ की भाषा है। ऐसी स्थिति में मुसलमानो की ओर से यह मॉग की जाने लगी कि उर्दू को हटाया न जाय क्योकि उसकी एक लम्बी परम्परा है। दोनो पक्षो के पीछे यह दृष्टिकोण कार्य कर रहा था कि जहॉ साक्षर हिन्दू, हिन्दी को इसलिये प्रशासनिक भाषा बनाना चाहते थे कि वे व्यवसायिक एवं सास्कृतिक प्रभुता स्थापित कर सके वहीं मुसलमान यह चाहते थे कि उनका हित बाधित न हो। इस प्रकार इस विवाद से सास्कृतिक तौर पर हिन्दी हिन्दुओ की और उर्दू मुसलमानो की भाषा बनी। दोनो समुदायो द्वारा भाषा को साम्प्रदायिक पहचान देने के कारण हिन्दुओं एव मुसलमानों की सामाजिक, राजनीतिक गतिशीलता दो विपरीत ध्रुवो पर बढती गयी।

इसी प्रकार हिन्दू पुनरुद्धार आन्दोलन के व्यापक होते क्षितिज ने गोरक्षा आन्दोलन के द्वारा गायो की सुरक्षा के नाम पर हिन्दुओं को उद्वेलित किया। बकरीद पर की जाने वाली गोकुशी को रोकने के पीछे धार्मिक दृष्टि ही काम कर रही थी। इस दौरान अनेक हिसक वारदाते हुई। इससे लोगों मे स्पष्टतः हिन्दू एव मुसलमान होने का विचार अधिक दृढ हुआ तथा लोगो का रुख आक्रामक हो गया। जहॉ उच्च जातीय लोगो ने इसे वैचारिक रूप से प्रचारित–प्रसारित किया, वहीं निम्नजातीय कट्टर लोगो ने अपनी क्रियात्मक सहभागिता सुनिश्चित की। इसमें प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति ने स्थिति को अधिक जटिल बनाया क्योकि पूर्व मे कुछ मुसलमानो द्वारा राजपूत जमीदारो को

विस्थापित कर दिया गया था जो अब वे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे प्रभावी स्थिति बनाने के लिए प्रयत्नशील थे।

इस प्रकार इस आन्दोलन से हिन्दुओं मे यह धार्मिक सक्रियता पैदा हुई कि धर्म के नाम पर गायो की रक्षा की जाय तो दूसरी ओर मुसलमान भी अपनी धार्मिक परम्परा को कायम रखने के लिए दृढ़ थे। इसमें बहुसंख्यक जुलाहो की कट्टर प्रवृत्ति कार्य कर रही थी। लेकिन एक तथ्य यह उभरता है कि उच्च जातीय हिन्दुओ एव निम्न जातियों के बीच कोई सांगठनिक एकता कायम नहीं हो सकी। कमोवेश यही स्थिति मुसलमानों की भी थी। इससे स्पष्ट होता है कि सारी स्थितियों का सचालन उच्चवर्गों द्वारा अपने हितो को बनाये रखने के लिये हो रहा था, लेकिन यह स्पष्ट है कि सम्प्रदायगत विभेद को बढाने मे यह आन्दोलन सफल रहा।

इस स्थिति मे ब्रिटिश सत्ता द्वारा अलगाववादी संगठनों को बढावा दिया जाने लगा जिससे सामुदायिक वैमनस्य की भावना आम हो गयी तथा आपसी घृणा एव भय की भावना तीव्रता से फैली। खिलाफत की असफलता के बाद हिन्दू प्रतिक्रिया स्वरूप चले शुद्धि एव सगठन आन्दोलनो मे हिन्दू महासभा की भी भूमिका थी तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिले भी इससे प्रभावित हुये। काग्रेस के क्रियाकलापो से भी बहुत हद तक इस तरह की प्रवृत्तियो को विकसित होने मे मदद मिली, क्योकि इस तरह के आन्दोलन से बहुत पहले से ही इसके कुछ नेता जुड़े हुये थे। रामलीला समारोह, धार्मिक जुलूस तथा मस्जिदों के सामने संगीत जैसे मुद्दो पर दोनो सम्प्रदायों की तमाम असहमतियो ने साम्प्रदायिक जटिलता मे वृद्धि की।

सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में साहित्यकारों द्वारा प्राय उन सभी मुद्दो पर लेखनी चलायी गयी जो इस आन्दोलन मे अन्तर्निहित थी। ऐसी स्थिति में साहित्यकारो को न केवल साम्प्रदायिकता की जटिलता की समझ थी अपितु उसके कारण एवं परिणामो का भी उन्हे पूरा ज्ञान था। यही कारण है कि जहॉ उन्होने अपने साहित्य मे तत्कालीन साम्प्रदायिक स्थितियो का प्रतीकात्मक चित्रण किया है वहीं साम्प्रदायिकता के भयावह परिणामों से देश को सुरक्षित बचा लेने की कोशिश में उस पर न केवल जमकर प्रहार किया है, अपितु समन्वय स्थापित करने की स्थितियों के संकेत भी दिये है। इस पूरे परिवेश मे कम से कम भाषा का प्रश्न ऐसा था जो सीधे इनसे जुडा था स्वाभाविक था वे इससे उद्वेलित भी हुये।

साहित्यकारो ने अपने पात्रो के माध्यम से समकालीन समाज मे व्याप्त साम्प्रदायिक सक्रियता को चित्रित किया है। भारतेन्दु अपने लेखन कर्म मे राजभक्ति एव देशभक्ति दोनो का साथ–साथ निर्वाह तो करते ही है, इसके साथ ही उन तमाम स्थितियो का चित्रण करते हैं जिनसे भारत में साम्प्रदायिक स्थितियों का निर्माण हुआ। इसके लिए वे भारतीय इतिहास के गौरवशाली अतीत एव मध्यकालीन इतिहास की घटनाओं को भी उल्लिखित करते हैं। इसमे तमाम प्रतीकों एवं मिथकों का उपयोग करते हैं, जिनसे साम्प्रदायिकता के विकास की स्थितियॉ स्पष्ट होती हैं। इसीलिए वे वर्तमान की तनावपूर्ण स्थितियो पर क्षोभ प्रकट करते हैं किन्तु अपने लेखन में इस बात का ध्यान रखा है कि किसी की भावनायें आहत न हों। साथ ही समस्त पूर्वाग्रहो को छोडकर सौहार्द स्थापित करने की कोशिश भी उनके लेखन मे दिखायी देती है क्योकि राजभक्त होने के बावजूद साम्राज्यवादी खतरों की उन्हे अच्छी पहचान थी।

हरिऔध का साहित्य जातीय आग्रहो से भरा पडा है। उनके साहित्य मे यद्यपि कि अतीत एवं हिन्दू धर्म के प्रति झुकाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है किन्तु उन शब्दों एव प्रतीको का स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है जिनसे प्रत्यक्षतः साम्प्रदायिक भावना फैले। लेकिन जातीयता एव हिन्दुत्व के प्रति आग्रह उनकी रचनाओ मे आद्योपान्त मिलता है। इसीलिये वे गोरक्षा आन्दोलन का समर्थन करते है तथा गोधन के विध्वस पर दुख भी प्रकट करते है। हरिऔध के आखिरी दिनो की कृति कल्पलता मे उनका स्वर काफी मुखर हो उठता है और साम्प्रदायिक दृष्टि से सवेदनशील मुद्दो देवमन्दिरो के ढहाने, मूर्तियो के तोडे जाने तथा धार्मिक उत्सवो मे बाधा पहुँचाने की स्थिति का चित्रण करते है। गौर करने की बात यह है कि यह लेखन उस समय हो रहा था, जबकि साम्प्रदायिक दृष्टि से स्थितियॉ काफी जटिल हो गयी थी। इस प्रकार हरिऔध के साहित्य मे स्पष्ट शब्दो प्रतीको का प्रयोग न होने के बावजूद जातीय आग्रह भरा पडा है।

प्रेमचन्द का साहित्य सच्चे अर्थो में जन साहित्य था। यही कारण है कि उनका साम्प्रदायिक वातावरण का चित्रण भी काफी जीवन्त है। उन्होने हिन्दुओं एवं मुसलमानो के मध्य प्रखर रूप से व्याप्त वैमनस्य की भावना को काफी बेबाकी से चित्रित किया है। यह इसलिये भी स्वाभाविक था कि प्रेमचन्द के लेखन काल तक साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष काफी पुष्पित–पल्लवित हो गया था। प्रेमचन्द को दोनो सम्प्रदायो की मनोवृत्तियो की अच्छी समझ थी। इसीलिये वे उन तमाम प्रश्नो से सीधा साक्षात्कार करते है जो

दोनो ही समुदायों के बीच विभेद बढाने के लिए जिम्मेदार रहे हैं और वे समान रूप से हिन्दू एव मुसलमान दोनो पर प्रहार करते है। चाहे कुर्बानी का प्रश्न हो, धर्मान्तरण का मुद्दा हो, धार्मिक उत्सवों को लेकर तकरार हो और इन सबसे उद्भूत दगे हो प्रेमचन्द ने न केवल कलम चलायी है अपितु समन्वय स्थापित करने का सुझाव भी प्रस्तुत किया है। यह और बात है कि प्रेमचन्द का हिन्दू—मुस्लिम एकता का स्वप्न पूरा नहीं हुआ लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्होने इस महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न के हल की तलाश धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एव मनोवैज्ञानिक सन्दर्भो मे की।

अपने समकालीन लेखको की तुलना मे जयशंकर प्रसाद धर्म के प्रश्न पर काफी उलझते हैं। शासको की साम्प्रदायिक भेदनीति की आलोचना भी करते हैं लेकिन धार्मिक दृष्टि से संवेदनशील मध्यकालीन इतिहास पर लेखनी कम ही चलाते है, किन्तु जहॉ वे इसे अपने वर्णन का विषय बनाते है वहॉ उन स्थितियो की चर्चा अवश्य करते है, जिनसे साम्प्रदायिक सौहार्द टूटता है। साथ ही इसके लिये जिम्मेदार कारकों की चर्चा भी करते है। ऐसे मुद्दो पर लेखन कर्म से बचने की कोशिश के बावजूद जहॉ उन्होने इस पर लेखनी चलायी है वहॉ धार्मिक विभेदों के चित्रण से बच नही सके है। लेकिन उन्होने भी सौहार्द स्थापना एव हल निकालने की कोशिश की है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के साहित्य में साम्प्रदायिक जटिलता का चित्रण बडी साफगोई के साथ हुआ है उन्होंने न केवल भारतीय अतीत को गौरवान्वित किया है, अपितु तुलनात्मक रूप से मध्यकाल की स्थितियों के लिए उनका स्वर काफी कठोर है। उनके लेखन कर्म मे मध्यकाल की तमाम घटनाओ एव प्रवृत्तियो पर काफी कठोरता से प्रहार किया गया है। इसीलिए पहली नजर मे उनका लेखन कर्म हिन्दुत्व एव पुनरुत्थानवाद का दस्तावेज लगता है लेकिन ऐसा नहीं है क्योकि सन्दर्भित रचनाओ के पीछे ठोस कारण एवं साक्ष्य है। ऐसी स्थिति मे जब उनकी रचनाओ को सूक्ष्मता से विश्लेषित किया जाता है तो वे साम्प्रदायिक सौहार्द की वकालत करते नजर आते है।

इसी प्रकार श्याम नारायण पाण्डेय का रचना कर्म मध्यकालीन घटनाओ पर आधारित होने के कारण उन तमाम बिन्दुओ को प्रकाशित करता है जिसे साम्प्रदायिक दृष्टि से सकारात्मक नही कहा जा सकता है। उसके पीछे सम्भवत. परिस्थितियॉ ही उत्तरदायी है क्योकि यह रचनाकार्य स्वतत्रता से कुछ ही समय पहले का है और उस समय तक साम्प्रदायिक समस्या काफी उलझ गयी थी। साथ ही पाण्डेय जी आजमगढ के उस क्षेत्र से सम्बन्धित थे जो साम्प्रदायिक दगो के लिए कुख्यात था।

स्पष्टत यह देखने में आता है कि इन साहित्यकारो ने साम्प्रदायिक स्थिति का जो वर्णन किया है उसके पीछे कोई पूर्वाग्रह कार्य नही कर रहा था न ही किसी रचनाकार का उद्देश्य ऐसा होता है, क्योकि किसी भी रचना की रचनाधर्मिता का महत्वपूर्ण पक्ष उसकी सकारात्मक दृष्टि होती है ऐसी स्थिति मे कोई भी रचनाकार नकारात्मक दृष्टिकोण के साथ लेखन नही करता है। यहॉ समकालीन साहित्य में साम्प्रदायिकता का जो चित्रण हुआ है, वह स्थितियों की सहज अभिव्यक्ति थी।

साम्प्रदायिक समस्या का दुष्परिणाम विभाजन के रूप में सामने आया और इसमे आर्थिक हानि के साथ भारी संख्या मे जनहानि भी हुई। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण हो गया था, जिसे सुलझाने के जितने ही प्रयास किये जाते है समस्या उतनी ही उलझती जाती है। तत्कालीन परिवेश मे लगभग पूरी–पूरी जनसंख्या ही धार्मिक आधार पर बॅट गयी थी। यहॉ तक कि चन्द नेताओ को छोडकर सबके स्वर बदल गये थे। ऐसी स्थिति मे विभाजन के कुछ वर्षो तक तात्कालिक परिणाम के रूप मे प्रतिक्रियावादी स्थिति देखने को मिलती है।

इस स्थिति का वर्णन उस समय के साहित्य में भी मिलता है। जिनसे तत्कालीन हिसात्मक स्थिति, वहशीपन एव क्रूरता का ज्ञान तो होता ही है, इसके साथ ही यह तथ्य भी उभरते है कि सबसे बडी बात यह कि विभाजन के लिए दोनो ही समुदायो का अधिसख्य हिस्सा पक्षधर नही था। जैसा कि उस समय की रचनाओ एवं लोगों की स्मृतियो से पुष्ट होता है। यही कारण है कि साम्प्रदायिक मारकाट के बीच ही सौहार्द स्थापना की तमाम कोशिशे भी जारी थी जिससे कि स्थितियो पर नियत्रण पाया जा सका।

इस पूरी प्रक्रिया के परिणाम पर ध्यान दे तो स्पष्ट होता है कि स्थितियो में महज इतना ही बदलाव हुआ था कि एक पराधीन देश की जगह दो स्वतंत्र देशो का अस्तित्व कायम हो गया। जहॉ तक मूल समस्या साम्प्रदायिकता का प्रश्न है वह न केवल विभाजन के पश्चात आज भी कायम है, बल्कि तमाम नये सन्दर्भ ग्रहण कर चुकी है। इस प्रकार पूरे परिदृश्य से यह बात स्पष्ट है कि यह सामाजिक–राजनीतिक कुचक्रो का एक ऐसा दुष्परिणाम है जो आज भी पूरे परिवेश को प्रभावित कर रहा है।

सन्दर्भिका
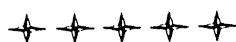
प्राथमिक स्रोत — (अप्रकाशित)

गोरखपुर कमिश्नर्स रिकार्ड रूम विभाग (XVI) फाइल सं. 37/1898—1900.

आजमगढ कलेक्ट्रेट रिकार्ड रूम विभाग (XIII) फाइल सं 146/1894.

डुपरनेक्स रिपोर्ट (डुपरनेक्स, डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट आजमगढ द्वारा गोरखपुर के कमिश्नर को भेजी रिपोर्ट) एल./पी. एण्ड जे./6/357.

होम डिपार्टमेट पब्लिक डिपाजिट फाइल सं. 285/मई 1918, फाइल स 16/नवम्बर 1919, जुलाई 1920, फाइल स. 94, फाइल स. 95, फाइल स. 96.

होम पोलिटिकल, फाइल स. 360—63, फाइल. सं 109, फाइल स. 251—9, फाइल स. 1/1928, फाइल सं. 23/66/1932.

फोर्टनाइटली रिपोर्ट, यू.पी अक्टूबर 1919, यू.पी जून 1920, प्रथम पक्ष, यू पी जनवरी 1928 द्वितीय पक्ष, यू. पी. नवम्बर 1928, प्रथम पक्ष

ए.आई.सी.सी. फाइल ई—1, 1936—37.

यू.पी. जनरल एडमिनेस्ट्रेशन डिपार्टमेंट, फाइल सं 140/1917, 680/1925, 246/1926, 241/1930.

पुलिस एब्स्ट्रैक्ट ऑफ इटेलीजेन्स रिपोर्ट — 1 मई 1926, फरवरी 1930, सितम्बर 1930, जनवरी 1931, फरवरी 1931.

प्रकाशित —

यूनाइटेड प्राविन्सेज नेटिव न्यूजपेपर्स रिपोर्ट

आजमगढ गजेटियर 1911.

गाजीपुर गजेटियर 1909.

बलिया गजेटियर 1907.

जनगणना रिपोर्ट (भारत) 1951.

रिपोर्ट ऑफ द कानपुर रायट्स इन्क्वायरी कमेटी, रूट्स ऑफ कम्यूनल पॉलिटिक्स के रूप मे प्रकाशित, संपा बेरियर एन जेराल्ड, नयी दिल्ली, 1976.

पत्र एवं पत्रिकायें –

आज	बनारस
लीडर	इलाहाबाद
प्रताप	कानपुर
अभ्युदय	इलाहाबाद
नेशनल हेराल्ड	लखनऊ
हंस	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
माधुरी	इलाहाबाद
विशाल भारत	कलकत्ता
आजकल	दिल्ली
चॉद	इलाहाबाद

पुस्तकें –

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *काव्योपवन*, बॉकीपरु, सगविलास प्रेस, 1909.

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *प्रियप्रवास*, वाराणसी, हिन्दी साहित्य कुटीर, 1941 (पुनर्मुद्रित)

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *पद्य प्रमोद*, बॉकीपुर, प्रकाशक ग्रन्थ माला, 1917.

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *पद्य प्रसून*, दरभंगा, हिन्दी पुस्तक भडार, 1925.

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *चुभते चौपदे*, पटना, सगविलास प्रेस, 1924.

हरिऔध, अयोध्यासिह उपाध्याय, *कल्पलता*, गगा ग्रन्थागार, 1937.

हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, *पवित्र पर्व*, इलाहाबाद, प्रका राम नारायण लाल, 1941.

निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, *परिमल*, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1917 (पुनरावृत्ति)

नवल, नन्द किशोर, *निराला रचनावली* भाग–1, 4–6, दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1983.

प्रेमचन्द, *मानसरोवर* भाग–5, इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1985.

प्रेमचन्द, *कर्मभूमि*, इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1981.

प्रेमचन्द, *गुप्तधन* भाग–1, 2, इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1962.

प्रेमचन्द, *सेवासदन*, इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1982.

प्रसाद, जयशंकर, *काव्य कला एवं अन्य निबन्ध*, गोरखपुर, गीता प्रेस, 1939.

प्रसाद, जयशकर, *कामायनी*, नई दिल्ली, प्रकाशन सस्थान, 1993.

प्रसाद, रत्नशंकर, संपादक, प्रसाद वाड्मय खण्ड–1, 2, 3, 4 इलाहाबाद, लोकभारती, 1985.

पाण्डेय, श्याम नारायण, हल्दीघाटी, इलाहाबाद, इडियन प्रेस, सस्करण, 1998.

पाण्डेय, श्याम नारायण, जौहर, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1997 (तृतीय संस्करण)

राय, अमृत (सपा), *प्रेमचन्द विविध प्रसंग* भाग–1, 2, 3 इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1962.

शर्मा, हेमन्त (सम्पा) , भारतेन्दु समग्र, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक सस्थान, 1989 (तृतीय सस्करण)

द्वितीयक स्रोत : (प्रकाशित)

अगवानी, एम एस , *इस्लामिक फण्डामेंटलिज्म इन इडिया*, चडीगढ, ट्रवेन्टी फर्स्ट सेन्चुरी, 1986.

अहमद, अजीज, *इस्लामिक माडर्निज्म इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान*, 1857–1964, लन्दन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1967.

अहमद, इम्तियाज (सपा.), *कास्ट एण्ड सोशल स्ट्रैटीफिकेशन एमग मुस्लिम इन इडिया*, नई दिल्ली, साउथ एशिया बुक्स, 1978.

अन्सारी, इकबाल, ए. (सपा.), *द मुस्लिम सिचुएशन एन इण्डिया*, नई दिल्ली, स्टरलिग, 1989.

अन्सारी, गौस, *मुस्लिम कास्ट इन उत्तर प्रदेश*, लखनऊ, द एथनोग्राफिक एण्ड फॉक कल्चर सोसाइटी यू.पी., 1960.

अग्रवाल, रीतेश मोहन, *हिन्दू–मुस्लिम्स रायट्स : दीयर काजेज एण्ड क्योर*, लखनऊ, इण्टरनेशनल सोशल लिट्रेचर पब्लिशिग कम्पनी, 1943.

बेली, सी.ए., *द लोकल रूट्स ऑफ पालिटिक्स : इलाहाबाद*, 1880–1920, लन्दन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1975.

बेनी, प्रसाद, *हिन्दू–मुस्लिम क्वेश्चन्स*, इलाहाबाद, 1941.

ब्रास, पाल आर., *लैंग्वेज रेलिजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया*, लन्दन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1974.

ब्रेनन, लान्स, *द इल्यूशन ऑफ सेक्यूरिटी : द बैकग्राउण्ड टु मुस्लिम, सेप्रेटिज्म इन द यूनाइटेड प्राविन्सेज*, मुशीरुल हसन (संपा.), *इंडियाज पार्टीशन, प्रोसेस, स्ट्रेटजी एण्ड मोबिलाइजेशन*, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1994.

चन्द्र, बिपन, *आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय*, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996.

चक्रवर्ती, विद्युत (सपा.), *सेक्यूलरिज्म एण्ड इण्डियन पालिटी*, नई दिल्ली, सेगमेन्ट बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1990.

चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत मे विचारधारा और राजनीति, नई दिल्ली, 1997.

चॉद, एस.एम., *नेशलन लीडर्स आन कम्यूनलिज्म*, जयपुर, 1985.

कूपलैड, आर., *कॉस्टीट्यूशनल प्राब्लम इन इण्डिया*, लदन, 1944.

चतुर्वेदी, राम स्वरूप, *'प्रसाद, निराला, अज्ञेय'* इलाहाबाद, लोकभारती, 1997.

चेलिसेव, ये. पे , *सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला*, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1982.

चन्दर, सुनील, *काग्रेस राज कान्फ्लिक्ट एण्ड राइज ऑफ द मुस्लिम लीग इन द मिनिस्ट्री पीरियड 1937–39 मार्डन एशियन स्टडीज*, 21.2, 1987.

दास, वीना (सपा.), *कम्युनिटीज, रायट्स एण्ड सर्वाइवर्स इन साउथ एशिया,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990.

दलवी, हामिद, *मुस्लिम पालिटिक्स इन इडिया,* बाम्बे 1968.

दीक्षित, प्रभा, *कम्यूनलिज्म : ए. स्ट्रगल फार पावर,* दिल्ली, ओरियन्ट लांगमैन, 1974.

देसाई, ए आर, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, 1976.

दास, सुरंजन, *कम्यूनल चैलेन्ज इन बंगाल पालिटिक्स,* 1940–42, नई दिल्ली, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, 1993.

धुर्ये, जी एस., *सोशल टेन्शन इन इडिया,* बम्बई, पापुलर प्रकाशन, 1968.

दत्त, आर पी., *इंडिया टुडे,* बम्बई, 1943.

देवी शिवरानी, *प्रेमचन्द घर में,* दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स, 1983.

इजीनियर, असगर अली, *इण्डियन मुस्लिम्स : ए स्टडी ऑफ द माइनारिटी प्राब्लम्स् इन इंडिया,* दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1985.

इजीनियर, असगर अली, *कम्यूनलिज्म एण्ड कम्यूनल वायलेन्स इन इंडिया : पोलिटिकल एप्रोच टु हिन्दू–मुस्लिम कन्फिलक्ट,* नई दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1989.

इजीनियर, असगर अली, *कम्यूनलिज्म इट्स फैक्ट्स एण्ड रायट्स, मेनस्ट्रीम* (XXIV), जून, 1986.

इजीनियर, असगर अली, *व्हाई एण्ड हाउ आफ कम्यूनल रायट्स, मेनस्ट्रीम* (XIX), अक्टूबर, 1980.

इजीनियर, असगर अली (संपा), *कम्यूनल रायट्स इन पोस्ट इडिपेन्डेस इण्डिया,* हैदराबाद, सगम बुक्स, 1984.

इजीनियर असगर अली एण्ड शाकिर मोइन (सपा), *कम्यूनलिज्म इन इंण्डिया,* दिल्ली अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1985.

एकराम, एस.एस, *मार्डन मुस्लिम इडिया एण्ड द बर्थ ऑफ पाकिस्तान 1858–1951,* लाहौर, 1965 (द्वितीय सस्करण)

फ्रिटॉग, सान्ड्रिया, *कलेक्टिव एक्शन एण्ड कम्यूनिटी पब्लिक एरेन्स एण्ड द इमर्जेन्स ऑफ कम्यूनलिज्म इन नार्थ इण्डिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1990.

घोष, एस. के, *कम्यूनल रायट्स इन इडिया,* नई दिल्ली, आशीष पब्लिशिग हाउस, 1987.

गोपाल, आर, *ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मुस्लिम्स* (1858—1947) न्यू क्रियेशन, 1988.

गोपाल, एस., *जवाहर लाल नेहरू : ए बॉयग्राफी,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983.

गोपाल, एस., *ब्रिटिश पालिसी इन इण्डिया (1858—1905),* नई दिल्ली, 1975.

गोपाल, एस. (सपा.), *एनाटमी ऑफ ए कन्फ्रन्टेशन : द बाबरी मस्जिद—राम जन्मभूमि इश्यू,* नई दिल्ली, पेंगुइन इंडिया लिमिटेड, 1991.

गार्डनर, एल. एण्ड इलियट, ए., *द हैण्डबुक ऑफ सोशल साइकोलाजी,* खण्ड—IV, नई दिल्ली, एमेरिन्ड पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, 1969.

गोलवरकर, एम.एस., *वी आर आवर नेशनहुड डिफाइंड,* नागपुर, 1947.

गोयल, डी. आर., *राष्ट्रीय स्वयंसेवक सघ,* दिल्ली, 1979.

गुप्ता, एन.एल (सपा), *नेहरू आन कम्यनूलिज्म,* नई दिल्ली, 1965.

गॉधी, एम. के., *कलेक्टेड वर्क्स,* (विभिन्न खण्ड) अहमदाबाद

हक, मुशीर अल, *इस्लाम इन सेकुलर इडिया,* शिमला, इडियन इन्स्टटीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, 1972.

हार्डी, पीटर, *मुस्लिम ऑफ ब्रिटिश इडिया, लन्दन,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1972.

हसन, मुशीरुल, *नेशललिज्म एण्ड कम्यूनल पालिटिक्स इन इण्डिया,* 1916—1928, नई दिल्ली, मनोहर, 1979.

हसन मुशीरुल, *एडजेस्टमेट एण्ड एकमोडेशन · इंडियन मुस्लिम्स आफ्टर पार्टीशन, सोशल साइंसिस्ट,* भाग—18, अगस्त—सितम्बर, अक 8—9, 1990.

हसन, मुशीरुल (सपा.), *इण्डियाज पार्टीशन, प्रोसेस स्ट्रेट्जी एण्ड मोबिलाइजेशन,* दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1994.

हुसेन, एस. आबिद, *द डेस्टिनी ऑफ इण्डियन मुस्लिम,* बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1965.

इमाम, जफर (सपा.), *मुस्लिम्स इन इंडिया,* नई दिल्ली, ओरियन्ट लागमैन्स, 1975.

ईश्वरी प्रसाद एवं सूबेदार, एस.के, *हिन्दू–मुस्लिम प्राब्लम्स,* इलाहाबाद, गुहा पब्लिकेशन्स, 1974.

जैन, एम एस., *अलीगढ मूवमेन्ट्स : वर्जिन एण्ड डेवलपमेंट,* 1858–1906, आगरा, 1965.

खलीकुज्जमॉ, चौधरी, *पाथवे टु पाकिस्तान,* लाहौर लांगमैन्स, 1961.

कुप्पूस्वामी, बी., *एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकोलाजी,* एशिया पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, 1980.

कबीर, हुमायूँ, *माइनारिटीज इन ए डेमोक्रेसी,* कलकत्ता, 1985.

कृष्ण, के.बी., *द प्राब्लम ऑफ माइनारिटीज,* लदन, 1939.

कीर्तिलता, *भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन और हिन्दी साहित्य,* इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1967.

लॉडग्रीन हेनरी क्ले, *एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकोलाजी,* नई दिल्ली, विली इस्टर्न लिमिटेड

लैरी कालिन्स एण्ड लेपियर डॉमनीक, *फ्रीडम एट मिडनाइट,* नई दिल्ली, तरग प्रकाशन, 1989.

मदन, टी एन. (संपा), *मुस्लिम कम्युनिटीज इन साउथ एशिया,* दिल्ली विकास, 1976.

मासलॉस, जिम (संपा), *स्ट्रगलिग एण्ड रूलिंग द इण्डियन नेशनल कांग्रेस (1885–1985),* लन्दन, ओरियन्टल युनिवर्सिटी प्रेस, 1987.

मोहन्ती, एम., *ए डेमोक्रेटिक राइट्स पर्सपेक्टिव,* लोकायन बुलेटिन, 1987.

मुकर्जी, आर.के., *फंडामेंटल युनिटी ऑफ इंडिया,* लन्दन, 1914.

मैन्शर्ट, सी., *हिन्दू–मुस्लिम प्राब्लम इन इडिया,* लदन, 1936.

मैकलेन, जे आर, *इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड अर्ली कांग्रेस,* प्रिस्टिन, 1977.

मदान, इन्द्रनाथ (सपा), *प्रसाद की प्रतिभा,* नेशनल पब्लिशिग हाउस, 1971.

नगेन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* मयूर पेपर बैक्स, 1966.

नेहरू, जवाहर लाल, *सेलेक्टेड वर्क्स* (विभिन्न खण्ड) संपा. गोपाल, एस. दिल्ली

नेहरू, जवाहर लाल, *द डिस्कवरी ऑफ इंडिया*, लन्दन, 1951 (तृतीय सस्करण)

पार्थसारथी, जी. (सपा.), *जवाहर लाल नेहरू : लेटर्स टु चीफ मिनिस्टर,* 1947–64, दिल्ली, 1987.

पाण्डेय, बी.एन., *लीडरशिप इन साउथ एशिया*, नई दिल्ली, विकास, 1977.

पाण्डेय, ज्ञानेन्द, *एसेडेन्सी ऑफ, द कांग्रेस इन उत्तर प्रदेश 1926–34 : ए स्टडी इन इम्परफेक्ट मोबलाइजेशन*, दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस., 1978.

पाण्डेय, ज्ञानेन्द, *द कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज्म इन कालोनियल नार्थ इण्डिया*, दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1990.

पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र, *रैलिग राउण्ड द काऊ : सेक्टेरियन स्ट्राइब्स इन द भोजपुरी रीजन*, रजीत गुहा के सब आल्टर्न स्टडीज 2 मे, दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983.

पाण्डेय, राजेन्द्र, *सोशियोलाजी ऑफ अण्डर डेवलपमेट : थीसिस एण्ड क्रिटीक*, दिल्ली, मित्तल पब्लिकेशन

पीरजादा, एस एस. (सपा.), *फाउण्डेशन ऑफ पाकिस्तान : आल इण्डिया मुस्लिम लीग डाक्यूमेंट्स*, खण्ड–2, करॉची, 1970.

प्यारेलाल, *महात्मा गॉधी, लास्ट फेज*, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, 1958.

प्रेमशकर, *प्रसाद का काव्य*, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1998.

पाण्डेय, गगा प्रसाद, *महाप्राण निराला*, प्रयाग साहित्यकार ससद, स. 2006.

फिलिप, सी.एच एण्ड वेनराइट मेरी डोरेन (सपा), *पार्टीशन ऑफ इडिया : पालिटिक्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स 1935–47*, लन्दन, एलन एण्ड अनविन, 1970.

राय आलोक, *हिन्दी नेशनलिज्म, दिल्ली, ओरियन्ट लांगमैन लिमिटेड*, नई दिल्ली, 2001.

राबिन्सन, फ्रांसिस, *सेप्रेटिज्म एमॅग इण्डियन मुस्लिम्स . द पालिटिक्स ऑफ द यूनाइटेड प्राक्सिेज, मुस्लिम्स*, 1860–1923 लन्दन, कैम्ब्रिज युनिविर्सिटी प्रेस, 1974.

राजगोपाल, पी.आर., *कम्यूनल वायलेन्स इन इण्डिया*, उप्पल पब्लिशिग हाउस, 1987.

रिजवी, सैयद मो अकील, *इलाहाबाद की संस्कृति एवं शायरी*, इलाहाबाद संग्रहालय, 1996.

रब्बानी, तबन गुलाम, *न्यू डाइमेन्सन्स ऑफ कम्यूनलिज्म, मेनस्ट्रीम*, अगस्त, 1981.

सरकार, सुमित, *आधुनिक भारत*, 1885–1947, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, हिन्दी, संस्करण, 1992.

शाकिर, मोइन, *खिलाफत टु पार्टीशन · ए सर्वे आफ मेजर ट्रेन्डस एमॅग इण्डियन मुस्लिम्स ड्यूरिंग 1919–1947*, नई दिल्ली, कलमकार प्रकाशन, 1972.

शाकिर, मोइन, *पालिटिक्स ऑफ मॉइनारिटीज : सम पर्सपेक्टिव्स*, दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1980.

शाकिर, मोइन, *इस्लाम इन इण्डियन पालिटिक्स*, दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1983.

शर्मा कमलेश, *रोल आफ मुस्लिम्स इन इडियन पालिटिक्स*, 1857–1947 नई दिल्ली, इण्टर इण्डिया, 1985.

सिह, वी.वी., *कम्यूनल वायलेन्स*, रावल पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1993.

स्मिथ, डब्ल्यू, सी , *मार्डन इस्लाम इन इण्डिया : ए सोशल एनालिसिस*, नई दिल्ली, 1979.

सावरकर, वी.डी , *हिन्दुत्व*, पुणे, 1949.

सावरकर, वी.डी , *हिन्दू राष्ट्रदर्शन ए कलेक्शन ऑफ प्रेसीडेन्सियल स्पीचेज*, बम्बई, 1949.

सिंह अनीता इन्दर, *द वर्जिन्स ऑफ द पार्टीशन ऑफ इण्डिया (1936–47)*, आक्सफोर्ड, 1995.

शर्मा, हेमन्त, *भारतेन्दु समग्र*, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक संस्थान, 1989 (तृतीय संस्करण)

शभूनाथ (संपा.), *भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, आनेवाला कल प्रकाशन*, 1986.

शर्मा, रामविलास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1956.

सीतारमैया, पी., *काग्रेस का इतिहास, अनु. हरिभाऊ उपाध्याय,* दिल्ली, सस्ता साहित्य मडल, 1936.

सिंह, दूधनाथ, *निराला : आत्महन्ता आस्था,* इलाहाबाद, लोकभारती, 1972.

शर्मा, राम विलास, *निराला की साहित्य साधना,* भाग दो, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

व्यास, विनोद शंकर, *प्रसाद और उनके समकालीन,* वाराणसी, हिन्दी साहित्य कुटीर स 2017.

युगेश्वर डॉ., *सबके प्रेमचन्द,* वाराणसी, भारतीय साहित्य आस्थान, काशी विद्यापीठ, 1983.

जकारिया रफीक, *राइज ऑफ मुस्लिम्स इन इण्डियन पालिटिक्स : एन एनालिसिस ऑफ डेवलपमेन्ट्स फ्राम 1885 टु 1906,* बम्बई, सोमैया पब्लिकेशन्स, 1970.

अप्रकाशित –

असलम, मोहम्मद, *एलीट वर्सेस अर्टेजन लीडरशिप : मुस्लिम्स एण्ड पालिटिक्स इन उत्तर प्रदेश 1947–92, डी फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध,* ला टोब्रे युनिवर्सिटी, वुन्डूरा विक्टोरिया, आस्ट्रेलिया, 1993.

कात्यायनी, *निराला की राष्ट्रीय चेतना,* सेमिनार 16–19 सितम्बर, 1997, इडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी शिमला

नवल, नन्द किशोर, *स्वाधीनता आन्दोलन और निराला की कविता,* सेमिनार 16–19 सितम्बर, 1997 इडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, शिमला

श्रीवास्तव, शिखा, *अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔध की भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन,* (अप्रकाशित) डी.फिल, उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, इ वि वि 1982.

शर्मा, अर्चना, *निराला का अद्वैत और स्वाधीनता संघर्ष,* सेमिनार 16–19 सितम्बर 1997, इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडी, शिमला

+ + +